विशद अनुप्रेक्षा
सोलहकारण भावना

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

अनुवादक :

प. पू. आचार्य श्री विशदसागर महाराज

website - www.vishadsagar.com, App - vishadsagar

कृति : सोलह कारण भावना का स्वरूप
अनुवादक : प.पू. आचार्य श्री 108 विशदसागरजी महाराज
संकलन : प. पू. मुनि श्री विशालसागरजी महाराज, ऐ. विदक्ष सागर
क्षु. श्री विसोम सागरजी महाराज एवं ब्र. प्रदीप भैया
संयोजन : आर्यिका भक्ति भारती, क्षुल्लिका वात्सल्य भारती माताजी
सहयोग : ब्र. ज्योति दीदी मो. 9829076085, आस्था दीदी मो. 9660996425
सम्पादन : सपना दीदी मो. 9829127533, आरती दीदी
संस्करण : प्रथम, प्रतियाँ - 1000, सन् - 2019

पुस्तक प्राप्ति स्थल :

1. श्री सुरेश जी जैन सेठी, गली नं. 3, शांति नगर, दुर्गापुरा, जयपुर मो. 9413336017
2. श्री हरीश जी जैन, जय अरिहन्त ट्रेडर्स, 6561, नेहरू गली, गाँधी नगर, दिल्ली मो. 9818115971
3. श्री चन्द्रप्रभ दि. जैन कुआ वाला मन्दिर, भैरो चौक, रेवाड़ी, हरियाणा, पदमचन्द जी जैन मो. 9812502062
4. श्री नेमिनाथ दि. जैन मन्दिर, बस स्टेण्ड के पास, नेमिनगर, नैनवा जिला बूँदी राजस्थान
   कमलजी मारवाड़ा मो. 9214408656

प्रकाशन में सहयोगी दातार

पुण्यार्जक का नाम-

1. श्री दिनेश चंद-श्रीमति बीना जैन
2. अखिल जैन-अनुपमा जैन (पुत्र-पुत्रवधु)
3. शिल्पी जैन-सुबोध जैन (पुत्र-पुत्री)
4. रीतू जैन-भुवनेश जैन (पुत्री-दामाद)
5. अदित जैन, अर्शिया जैन, प्रियल जैन, इशित जैन (दोहिता-दोहिती)
   पता:- 79-मधुवन, बैंक कॉलोनी, अलवर (राज.) 301001

व्यवस्था राशि : 101/-

मुद्रक :
नवजीवन प्रिन्टर्स, निवाई फोन 222127

भावना भव नाशनी

(सवैया तेइसा)

दर्श विशुद्धि विनय युत संयम, शील अभीक्ष्ण सुज्ञान के धारी।
धार संवेग तपस्त्याग शक्ति, साधु समाधि वैयावृत कारी।।
अर्हद् भक्ति आचार्य उपाध्याय, प्रवचन भक्ति आवश्यक धारी।
मार्ग प्रभावना प्रवचन वत्सल, भाव तीर्थंकर पद कर्त्तारी।।

जैन सिद्धांत में तीर्थंकर पद की विशेष महिमा बताई गई है कहा है ''पुण्य फला अरहंता'' अर्थात पुण्य के फल से अरहंत पद की प्राप्ति होती है। अरहंत तो सामान्य केवली भी हो सकते हैं किन्तु तीर्थंकर पद की प्राप्ति बड़ी दुर्लभता से प्राप्त होती है। जो भव्य सम्यक्त्वी जीव विशद भाव से सोलहकारण भावना भाते हैं वे तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते हैं जिनके भरत ऐरावत क्षेत्र में पञ्चकल्याणक होते हैं किंतु विदेह क्षेत्र में 3 या 2 कल्याणक भी हो सकते हैं। ऐसी परम पूज्य पद को प्राप्त करने में बीजभूत सोलहकारण भावना जो तीर्थंकर पद प्रदान करने में कारण है तो यह भावना क्या संसार के अन्य सर्व साधन प्राप्त नहीं करा सकती है? अर्थात् अवश्य करा सकती है जिन सोलहकारण भावना में प्रथम दर्शन विशुद्धि निश्चत होना चाहिए उसके बाद एक दो कितनी भी भावना हों तो कार्य संपन्न हो सकता है किंतु दर्शन विशुद्धि 1 अंक के समान है शेष सब शून्य के समान है। 1 अंक है और शून्य लगाए तो 10 गुनी कीमत बढ़ जायेगी किन्तु 1 अंक न हो तो शून्य की कोई कीमत नहीं रहती है ऐसी उभयलोक में परम शांति प्रदायक सोलहकारण भावनाओं को पढ़कर अपने जीवन में शांति का सोपान प्राप्त कर सकें। इस भावना से सोलहकारण ग्रंथ का प्रकाशन किया जा रहा है इसमें आस्था दीदी ने अपना अथक प्रयास किया और शास्त्र को मूर्तरूप देकर जन-जन तक पहुँचाने में सहयोग किया है। साथ ही श्री दिनेशकुमार जैन सपरिवार ने ग्रंथ प्रकाशन में अपना योगदान दिया वे सभी आशीर्वाद के पात्र हैं वे इसी प्रकार जिनवाणी की सेवा में अपना योगदान प्रदान कर धर्म की प्रभावना करते रहें जो आस्तिक हैं उन्हीं के अंदर धर्म, आत्मा, परमात्मा के प्रति श्रद्धान होता है, सम्यकदर्शन होता है प्रथम तो सम्यकदर्शन प्राप्त करना दुर्लभ है पश्चात दर्शनविशुद्धि तो और भी दुर्लभ है सम्यक दर्शन का विशुद्ध निर्मल रूप ही दर्शन विशुद्धि है। जो पच्चीस दोषों से रहित (8 शंकादि दोष +8 मद +6 अनायतन +3 मूढता के त्याग से प्रकट होता है) इस प्रकार सम्यकदर्शन हमारे जीवन का श्रृंगार बने और दर्शन, ज्ञान एवं चरित्र को प्राप्त कराएँ जो विशद मोक्षमार्ग पर बढ़ने के लिए सेतु बने। आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में दर्शन की महिमा बताते हुए कहा है-

न सम्यक्त्व समं किंचित त्रैकाले त्रिजगत्यऽपि।
श्रेयो श्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यतनू भृताम्।।

अर्थात् सम्यक्त्व के समान किंचित् भी तीनों लोकों एवं तीनों कालों में कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है और मिथ्यात्व के समान कोई अश्रेष्ठ वस्तु नही है। अत: भव्य जीवों को सम्यक्त्व प्राप्त कर दर्शन विशुद्धि भावना प्राप्त करते हुए विनय गुण प्रकट कर निरंतर ज्ञानाभ्यास कर अनतिचार शीलव्रत का पालन करते हुए अंतर में संवेगभाव धारण करना चाहिए तथा यथाशक्ति तप त्याग करके साधुजन की वैयावृत्ती कर वत्सल्य का भाव जगाना चाहिए तथा अर्हंत आचार्य उपाध्याय शास्त्र की भक्ति कर शिवपद प्रदायक पुण्यार्जन कर आवश्यक कर्त्तव्य का पालन कर जिनधर्म के प्रति समर्पण भाव धारण करते हुए जिनमार्ग की विशुद्ध प्रभावना करना चाहिए यहीं तीर्थंकर पद का सोपान होगा और विशुद्ध सिद्धि प्रदान कर अनंत सुख प्रदान करेगा।

- आचार्य विशदसागर

कृताञ्जलि

दोहा - भाए सोलह भावना इस जग में जो जीव।
मोक्ष प्रदायी युण्य वह, पाए -अरे! अतीव।

इस संसार में रहते हुए इस जीव ने अनेक बार जन्म मरण किया और अनेक कष्टों का सामना करके इस जन्म मरण किया और उनके कष्टों का सामना करके इस जन्म मरण की संतति को निरंतर ही बढ़ाता रहा अनेकों बार जैन धर्म और जैनकुल में मानव पर्याय को प्राप्त किया किन्तु ना तो महाव्रत धारण किया और ना ही समाधि सहित मरण किया। यदि एक बार भी ऐसा कर लिया होता तो निर्वाण प्राप्त कर लिया होता। 148 कर्म प्रकृतियों में तीर्थंकर प्रकृति एक ऐसी प्रकृति है जिसको प्राप्त करना हर किसी के वश की बात नहीं होती है इसे वही प्राप्त कर सकता है जो 16 कारण भावना को भाता है। 16 कारण भावना में प्रमुख रूप से दर्शनविशुद्धि भावना है जिसके भाने से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। विशेष भावनाएँ तो सहकारी होती हैं तीर्थंकर प्रकृति के बंधक जीव को नरक में भी 6 महीने पहले से ही दुख से मुक्त हो जाते हैं। तो फिर जब यह प्रकृति उदय में आती है तब उसका तो कहना ही है। यह सर्वश्रेष्ठ प्रकृति है यह एक बार प्राप्त होने पर कभी छूटती नहीं है। अत: इस मानव जीवन को पाकर सोलह कारण भावना भाते हुए शिवपथ के राही बनना यही जीवन का सार है।

प.पू. क्षमामूर्ति ज्ञानवारिधी आचार्य गुरुदेव विशदसागर जी महाराज एक ऐसे साधु हैं जिनके पास अमीर गरीब का कोई भेदभाव नहीं है जो एक बार दर्शन करता है वह बरवस ही खिंचा चला आता है जिनकी लेखनी द्वारा 185 विधानों की रचना की गई और अनेक ग्रंथों का भाषानुवाद भी किया है उन्हीं ग्रंथों में सोलहकारण भावना भी एक सरल सुबोध भाषा में लिखा गया ग्रंथ है जिसे पढ़कर बाल अबोध जन आत्मकल्याण करके निर्वाण को प्राप्त होवेंगे।

कृताञ्जलि

दोहा – भाए सोलह भावना इस जग में जों जीवा।
मोदा प्रदायी युण्य वह पाए –अरे अतीव।

इस संसार में रहते हुए इस जीव में अनेक बार जन्म मरण किया और अनेक कष्टों का सामना करके इस जन्म मरण किया और उनके कष्टों का सामना करके इस जन्म मरण की संतति को निरंतर ही बढ़ाता रहा अनेकों बार जैन धर्म और जैनकुल में मानव पर्याय को प्राप्त किया किन्तु ना तो महाव्रत धारण किया और ना ही समाधि सहित मरण किया। यदि एक बार भी ऐसा कर लिया होता तो निर्वाण प्राप्त कर लिया होता। 148 कर्म प्रकृतियों में तीर्थंकर प्रकृति एक ऐसी प्रकृति है जिसको प्राप्त करना हर किसी के वश की बात नही होती है इसे वही प्राप्त कर सकता है जो 16 कारण भावना को भाता है। 16 कारण भावना में प्रमुख रूप से दर्शनविशुद्धि भावना है जिसके भाने से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। विशेष भावनाएँ तो सहकारी होती है तीर्थंकर प्रकृति के बंधक जीव को नरक में भी 6 महीने पहले से ही दुख कम हो जाते है। तो फिर जब यह प्रकृति उदय में आती है तब उसका तो कहना ही है। यह सर्वश्रेष्ठ प्रकृति है यह एक बार प्राप्त होने पर कभी छूटती नहीं है। अत: इस मानव जीवन को पाकर सोलह कारण भावना भाते हुए शिवपथ के राही बनना यही जीवन का सार है।

प.पू. क्षमामूर्ति ज्ञानवारिधी आचार्य गुरूदेव विशदसागर जी महाराज एक ऐसे साधु है जिनके पास अमीर गरीब का कोई भेदभाव नहीं है जो एक बार दर्शन करता है वह बरवस ही खिंचा चला आता है जिनकी लेखनी द्वारा 185 विधानों की रचना की गई और अनेक ग्रंथों का भाषानुवाद भी किया है उन्हीं ग्रंथों में सोलहकारण भावना भी एक सरल सुबोध भाषा में लिखा गया ग्रंथ है जिसे पढ़कर बाल अबाध जन आत्मकल्याण करके निर्वाण को प्राप्त होवेंगे।

– ब्र. आस्था दीदी

विषय सूची

क्र.सं.	अध्याय	पृष्ठ संख्या
	सोलहकारण भावना का स्वरूप	1 – 13
1.	दर्शन विशुद्धि भावना	14 – 26
2.	विनय-सम्पन्नता भावना	27 – 42
3.	निरतिचार शीलव्रत	43 – 62
4.	अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना	63 – 75
5.	संवेग भावना	76 – 96
6.	त्याग भावना	97 – 117
7.	यथाशक्ति-तप	118 – 133
8.	साधु-समाधि भावना	134 – 148
9.	वैयावृत्य भावना	149 – 165
10.	अर्हद्भक्ति भावना	166 – 183
11.	आचार्य-भक्ति	184 – 199
12.	बहुश्रुत भक्ति भावना	200 – 211
13.	प्रवचन-भक्ति भावना	212 – 225
14.	आवश्यकापरिहाणि भावना	226 – 238
15.	सम्यक्प्रभावना भावना	239 – 254
16.	प्रवचनवात्सल्य भावना	255 – 267

****

सोलह कारण भावना का स्वरूप

प.पू. आचार्य श्री विशदसागर जी महाराज ने इसका निम्न प्रकार से वर्णन किया है।

1. **दर्शनविशुद्धि भावना**- सम्यक्दर्शन आठ अंगों सहित निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, तीन मूढ़ता, लोक मूढ़ता, देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, आठ गर्व रहित ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, शरीर तथा सात प्रकार के भय इहलोकभय, परलोकभय, मरणभय, वेदनाभय, अगुप्तिभय, अकस्मात्भय, अरक्षाभय से रहित जो पालन करता है, वही सर्व श्रेष्ठ और विशुद्ध कहा गया है। वही दर्शन विशुद्ध है। दर्शनविशुद्धि मात्र सम्यक्दर्शन नहीं है, दृष्टि की निर्मलता का होना ही दर्शनविशुद्धि है और दृष्टि में निर्मलता आती है तत्त्व चिंतन से। दर्शनविशुद्धि भावना और दर्शन में मौलिक अंतर है किंतु दर्शन में विषय चिंतन भी संभव है। दर्शनविशुद्धि में सम्यक्दर्शन के साथ प्राणी मात्र के कल्याण की भावना का निरंतर होना आवश्यक है।

2. **विनय संपन्नता**- विनय का अर्थ है नम्रता, पूज्य पुरुषों के प्रति आदर का भाव या सम्मान का भाव, उनकी सेवा शुश्रूषा और सत्कार का भाव होना। इन्द्रियों पर विजय पाना, कषायों को जीतना और जिनवाणी के अनुसार आचरण करना विनय संपन्नता है। विनय दो प्रकार की होती है लौकिक और पारलौकिक। लौकिक विनय संसार को बढ़ाने वाली है किंतु पारलौकिक विनय मोक्षमार्ग को सुदृढ़ करने वाली है। पारलौकिक विनय पाँच प्रकार की है, दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय। विनय संपन्नता गुण हमें व्यक्तित्व का विकास करने में सहयोगी है। हम जितना गुरुजनों के चरणों में झुकेंगे, उतने ऊँचे उठते हैं। विनय संपन्नता से उच्च कुल की प्राप्ति और स्वयं को पूज्य बनाने में सहयोगी होती है।

3. **निरतिचार शीलव्रत**- शील के कई अर्थ लोक प्रसिद्ध हैं यहाँ अहिंसा आदि व्रतों की रक्षार्थ जो व्रत पाले जाते हैं, वही प्रयोजनभूत हैं। श्रावक पाँच अणुव्रतों का पालन करता है। उनकी रक्षार्थ तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे सात शील का पालन करता है उसी प्रकार मुनिराज अपने महाव्रतों के पालन करने में पाँच समिति और तीन गुप्ति से रक्षा करते हैं। व्रतों के पालन करने में संतुलन बनाना अति आवश्यक है। असंतुलन कषायों की तीव्रता से ही आता है। तीव्र कषाय वाला व्यक्ति अपने व्रतों की रक्षा नहीं कर पाता है। आचार्य श्री ने कहा कि निरतिचार का अर्थ है बिना अतिचार लगे व्रतों का पालन करना। व्रतों में शिथिलता आना, व्रतों के पालन करने में उत्साह नहीं होना या व्रतों में दोष लगना अतिचार है।

आचार्य श्री ने उपदेश देते हुए बताया है कि व्रतों का पालन सच्ची श्रद्धा और आत्म कल्याण की भावना से करने पर ही हमारी विशुद्धि में वृद्धि होती है और वही हमें तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव में कारण बन सकती है।

4. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग- हित और अहित का ज्ञान और स्व पर विवेक के निरंतर बने रहने को ही अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का होना कहा गया है। आत्मज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। चेतना निरंतर स्व-पर प्रकाशक ज्ञान की आराधना में संलग्न रहे, ऐसा प्रयत्न श्रेयस्कर है। विद्या वही हितकारी है जो संसार से मुक्ति की ओर ले जाए। शिक्षा के माध्यम से हमें विवेकवान, विनयवान और संयमित बनना पड़ता है। स्व-पर प्रकाशक और स्व-पर उपकारी ज्ञान ही श्रेष्ठ है। ज्ञान वही सच्चा है जिससे ज्ञान में समीचीनता आए और विषय भोग विलास से विरक्त होकर अपने स्वभाव में लीन रहने की ललक बनी रहती है।

5. संवेग भाव- संसार के दुखों से सदा भयभीत रहना या हर्ष, उत्साह और सात्विक भाव का होना संवेग है। धर्म में और धर्म के फल में जो परम उत्साह होता है उसे भी संवेग कहा गया है। हम अपनी ही अज्ञानता आशक्ति के कारण इस संसार में भटक रहे हैं। वास्तव में राग द्वेष करना ही संसार है। यदि संसार से पार होना है तो हमें राग-द्वेष से मुक्त होने का उपाय करना चाहिये। श्रावक और साधु दोनों को ही अपने आवश्यक सावधानी और सजगतापूर्वक करना है। जिससे अशुभ कर्म का बंध न्यूनतम हो। कदम-कदम पर सावधानी और सजगतापूर्वक अपने कर्त्तव्यों के पालन करने से इस संसार से पार हुआ जा सकता है। प्रतिक्षण ऐसी सावधानी आवश्यक है जिससे मेरे मन, वचन, काय से किसी का अहित ना हो, स्वयं मेरी आत्मा पतन की ओर ना जाए। मुनिजन सदा अप्रमत्त भाव रखते हुए अपना कर्त्तव्य करते हैं इसलिये उन्हें पाप का बंध नहीं होता है बल्कि पाप कर्म की निर्जरा और पुण्य का संचय होता है। जो समतापूर्वक इस संसार में जीने की कला सीख लेता है, वह शीघ्र ही इस संसार से मुक्त हो जाता है।

6. यथाशक्ति त्याग- त्याग का अर्थ है छोड़ना या देना। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, बल, वीर्य आदि बातों का विचार करके व्यक्तियों और वस्तुओं के प्रति ममत्व भाव को छोड़ना शक्तितस्त्याग या यथाशक्ति त्याग कहलाता है। त्याग करते समय अहंकार या विषाद का भाव नहीं होना चाहिए। ममत्व भाव जितना-जितना घटता है बाह्य भोग-सामग्री के प्रति विरक्ति उतनी बढ़ती जावेगी और त्याग करना सहज हो जाएगा। यदि हमें निजी संपदा, जो आत्म संतोष और आत्म शांति है, उसका बोध हो जावे तो बाह्य संपदा के प्रति त्याग सजग हो जाता है। त्याग करते समय प्रत्युपकार की भावना नहीं होना चाहिए। त्याग करने के फलस्वरूप जो निराकुलता आती है, आनंद मिलता है, वही उपलब्धि है। त्याग का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए।

7. यथाशक्ति तप- इच्छाओं का निरोध करना तप है। निरोध का अर्थ है इच्छाओं को जीत लेना या इच्छाओं से उपर उठ जाना। इच्छाएँ तो अनंत हैं, उनकी पूर्ति संभव नहीं है। श्री ने विनोबा भावे के सूत्र का उल्लेख करते हुए कहा कि इच्छाओं के जीतने का आसान तरीका इच्छाओं को परिष्कार करना, उनको सही दिशा देना है। हम उन्हीं इच्छाओं की पूर्ति करने का पुरुषार्थ करें, जिनसे अपना और सारे जगत का कल्याण हो यही सच्ची साधना और तपस्या है। इच्छाओं की पूर्ति करते समय हमारा विवेक जाग्रत रहे और स्व पर

कल्याण की भावना बनी रहे तो इच्छाओं को आसानी से जीता जा सकता है। वही तप करने वाला श्रेष्ठ माना गया है जो अपनी शक्ति को उद्घाटित करके तप करने के लिये सदा तत्पर रहता है। वीतराग मार्ग के प्रति समर्पित भाव रखते हुए तप करता है। तप के विभिन्न प्रकार हैं उपवास, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शैय्यासन और कायक्लेश। अंतरंग तप भी छह प्रकार का बताया गया है प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, व्युत्यर्ग और ध्यान। बाह्य तप अंतरंग तप की वृद्धि के लिये किये जाते हैं ।वास्तव में तपस्या का लक्ष्य शरीर को क्षीण करना नहीं है। तपस्या के द्वारा यदि शरीर क्षीण हो जाए तो कोई बात नहीं। तपस्या का लक्ष्य तो मन की विकृतियों और चंचलता को क्षीण करना या मिटाना नहीं है। तप के द्वारा स्वयं का कल्याण तो होता ही है, साथ में परोपकार भी होता है।

8. साधु समाधि– साधुजनों की तपस्या की सराहना करना और उनकी तपस्या में सहयोगी बनना साधु समाधि भावना कहलाती है। किसी कारण से व्रतों में संपन्न तपस्या करने में लीन उपकारी मुनिजनों पर किसी कारण से विघ्न आ जावे तो उसका शमन करना, उसे दूर करना साधु समाधि है। साधु बिना स्वार्थ के जगत हितैषी हैं ऐसे साधु बड़े पुण्य से मिलते हैं, इसलिए उनकी साधना निर्विघ्न चलती रहे, सदा ऐसा प्रयास करना चाहिये।

समाधि का अर्थ सल्लेखना भी है, यह जीवन भर की तपस्या का फल है। सल्लेखना में समता भाव से देह का परित्याग होता है। साधु की सल्लेखना में मदद करना या उसमें आने वाली बाधाओं को दूर करना भी साधु समाधि है।

9. वैयावृत्ति– साधुजनों की सेवा करना वैयावृत्ति कहलाता है। मोक्षमार्ग में चलने वाले सम्यक्दृष्टि जीवों का दुख दूर करना, उनकी सेवा करने से पुण्य संचय के साथ–साथ कर्मों की निर्जरा भी होती है। श्रद्धा, विवेक और सदाचरण के द्वारा अपना और सब जीवों का चरित्र निर्वाण करना सच्ची सेवा है। सभी जीव सुखी रहें, सभी का कल्याण हो और किसी जीव को दुख ना हो, यदि ऐसी पवित्र भावना हो तो ही सच्ची सेवा हो सकेगी। धर्मध्यान में बाधा ना आवे इस बात का ध्यान रखना भी वैयावृत्ति है। आचार्य समंतभद्र स्वामी के श्लोक कथन का उल्लेख करते हुए कहा है कि वैयावृत्ति के अंतर्गत जिनेन्द्र भगवान की पूजा और चतुर्विध संघ को आहार, औषधि आदि देना भी शामिल है। सेवा करते समय स्व और परकल्याण का भाव होना चाहिए। वास्तव में हम जिनकी सेवा कर रहे है उनके जैसे बनने का भाव मन में होना चाहिये तभी सेवा सार्थक होगी। साधुजनों की सेवा करते समय तीन बातें ध्यान में रखना चाहिए, सेवा श्रद्धा भक्तिपूर्वक करें, निःस्वार्थ भाव से करें और जिसकी सेवा की जा रही हो, उसके गुणों के प्रति अनुराग हो। सेवा के प्रदर्शन से सेवा का महत्त्व घट जाता है।

10. अर्हद् भक्ति- विशुद्ध भावों से पूज्य पुरुषों का गुणगान करना अर्हद्भक्ति कहलाती है। भक्ति गंगा नदी के समान है। उसमें जो डूब जाए, लीन हो जाए तो उसका तन, मन और सारा जीवन पवित्र हो जाता है। भक्ति के चार सोपान हैं - पूज्य पुरुषों के गुणों के प्रति अनुराग, उनके गुणों का स्मरण, उनके गुणों का चिंतन और उनके जैसे गुणों की प्राप्ति का प्रयत्न करना। आचार्यों ने सोलह भावनाओं में सिद्ध भक्ति को नहीं रखा है क्योंकि अरहंत परम गुरु हैं, परम उपकारी हैं, भव्य जीवों को मार्ग दिखाने वाले हैं, सब जीवों के कल्याण में निमित्त हैं इसलिए उनकी भक्ति करते समय स्व-पर कल्याण की भावना सहज रूप से उत्पन्न होगी जो तीर्थंकर बनने में कारण बनेगी। अरहंत भगवान के प्रति जो अनुराग है, वही सम्यक्दर्शन है। शुद्धोपयोग की अवस्था में तो भक्ति होती नहीं है क्योंकि वहाँ आराधना और आराध्य का भेद ही नहीं रह जाता। इसलिये शुभ उपयोग की अवस्था में जो प्रशस्त राग है, धर्मानुराग है, वही तीर्थंकर प्रकृति के अर्जन में सहायक होता है।

11. आचार्य भक्ति- आचार्य भक्ति के माध्यम से आचार्य के गुणों से जुड़ने, उनके गुणों का चिंतन करने और उनके जैसे बनने की भावना भाई जाती है। आचार्य मुनि संघ के नायक होते हैं जो पंचाचार का स्वयं पालन करते हैं और अपने शिष्यों से आचरण करवाते हैं। वे एक नाव की तरह हैं जो स्वयं पार होती है और दूसरों को भी पार कराती है। आचार्य भगवंत के 36 मूलगुण होते हैं जिनका वे निरतिचार पालन करते हैं। इसके अलावा उनके आठ गुण और कहे गये हैं , जो एक संघ नायक में होना वांछनीय है। आचार्य भगवंत आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान, प्रकर्त्तावान, वात्सल्य, अपाय उपायदर्शी, अवपीड़क, अपरिस्रावी गुणों से भूषित होते हैं। इसके साथ ही वे अच्छे निर्यापक भी होते हैं।

12. बहुश्रुत भक्ति- बहुश्रुत का अर्थ है बहुत ज्ञानवान यानी उपाध्याय महाराज या श्रुतकेवली महाराज। जिनके समीप बैठकर पढ़ा जाए, ज्ञान प्राप्त किया जाए, वह उपाध्याय कहलाते हैं। वे द्वादशांग के ज्ञाता होते हैं। उनकी कथनी और करनी एक समान होती है। आचरण के द्वारा दी गई शिक्षा प्रभावशाली होती है। उपाध्याय महाराज अपने व्रतों का निर्दोष पालन करते हैं, रत्नत्रय की आराधना करते हैं। उपाध्याय महाराज का ज्ञान, श्रद्धा व चारित्र से समन्वित होता है। चारित्रवान का ज्ञान ही श्रेष्ठ माना गया है। ज्ञान के समान मनुष्य अंधे के समान है। उपाध्याय महाराज के इन श्रेष्ठ गुणों के प्रति हमें अनुराग रखना चाहिये, इनके गुणों का स्मरण, चिंतन और ध्यान करना और उनके जैसे गुणों को प्राप्त करने की भावना रखना चाहिए।

13. प्रवचन भक्ति- प्रवचन का अर्थ है सर्व श्रेष्ठ वचन या प्रकृष्ट वचन। संसार में तीन ही वक्ता हैं जिनके वचन सर्व श्रेष्ठ हैं तीर्थंकर अरहंत या केवली, गणधर देव या श्रुतकेवली और तीसरे ऐसे आचार्य जिन्हें परंपरा से ज्ञान प्राप्त हुआ हो। भगवान की वाणी या जिनवाणी की भक्ति ही प्रवचन भक्ति है। जिनवाणी सर्व हितकारी या सर्वोदयी है। ऐसी जिनवाणी में अनुराग रखना, चतन, मनन और अध्ययन करना और जिनवाणी के अनुसार आचरण करना, ये सब बातें प्रवचन भक्ति में सम्मिलित हैं। आचार्य श्री ने कहा

जिनवाणी में तीन ही मौलिक बातें हैं। प्रत्येक आत्मा अपने पुरुषार्थ से ही महान् बन सकता है। दूसरी अनेकांत और स्याद्वाद की समझ होना और अहिंसा धर्म का पालन करना। इनके स्मरण और आचरण में लाने से व्यक्ति स्वयं का एवं दूसरे का कल्याण कर सकता है।

14. आवश्यक अपरिहाणी- आचार्य भगवंतों ने श्रावक और साधु दोनों के लिये कुछ कार्य आवश्यक रूप से करने के निर्देश दिये हैं। जो अवश्य करने योग्य होता है उसे आवश्यक कहते हैं। मनुष्य पर्याय हमें आवश्यक करने को ही मिली है। आवश्यक के साथ अपरिहाणी शब्द जुड़ा है क्योंकि यथायोग्य आवश्यकों का प्रतिदिन पालन करना है, निर्धारित समय पर करना है और विपरीत परिस्थिति निर्मित होने पर भी अपने आवश्यक को नहीं छोड़ना है। साधु और श्रावक दोनों को दिनभर में छह आवश्यक पालना अनिवार्य हैं। श्रावक के देव पूजा, गुरु-पास्ति, शास्त्र स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह आवश्यक बताये गये हैं। साधुजनों के लिये सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, वंदना, स्तुति और कायोत्सर्ग छह आवश्यक बताये गये हैं। पूजा करने से मन पवित्र और शांत होता है। आचार्य भगवंतों ने लिखा है कि श्रावक के दिन भर के पाप कर्मों को धोने के लिये सहज, सरल उपाय जिनेन्द्र पूजा है। भगवान की पूजा और अभिषेक भगवान के निकट आने का या वीतरागता के निकट आने के क्षण होते हैं। गुरुजनों की उपासना गुरु-पास्ति कहलाती है। गुरु की उपस्थिति का अंतरंग में निरंतर अहसास होता रहे, यही गुरु-पास्ति है। जिनवाणी का अध्ययन, चिंतन, मनन और अभ्यास करना और उसके माध्यम से अपने कल्याण की बातें सीखना ही शास्त्र स्वाध्याय है। अनुशासित जीवन पद्धति का नाम संयम है या इच्छाओं का नियंत्रण संयम है। तप का अर्थ है इच्छाओं का दमन, इच्छाओं को और जीत लेना-शांत कर देना। दान और त्याग दोनो ही श्रावक के लिये आवश्यक है। दान देने से लोभ घटता है, पुण्य का संचय होता है। इससे अपना और दूसरे का उपकार होता है। श्रावक के द्वारा किये जाने योग्य छहों आवश्यक स्व-पर कल्याण में निमित्त हैं। यदि श्रावक सच्ची श्रद्धा के साथ यथा शक्ति इन आवश्यकों को पालन करे, इनमें कमी ना करे तो वह भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर सकता है।

साधु के छह आवश्यक में सामायिक में समता भाव रखने का उपदेश दिया गया है। इससे जीवन में मैत्री, करुणा, मुदिता और सहिष्णुता आती है। प्रतिदिन चौबीस तीर्थंकर की स्तुति और वंदना करना भी मुनिराजों की आवश्यक कियाएँ हैं। चौबीस तीर्थंकरों के गुणगान करने को स्तुति कहा गया है और किसी एक तीर्थंकर का गुणगान करना, जिनालय में जाकर देव वंदना करना, गुरुओं की विनय आदि सारी बातें करना वंदना में सम्मलित हैं। मुनिराज प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान प्रतिदिन अवश्य करते हैं। किये अपराधों की स्वीकृति का नाम प्रतिक्रमण है और आगामी काल में अपराधों की निवृत्ति के प्रति संकल्पित होना प्रत्याख्यान है। मोक्षमार्ग में गल्ती स्वीकार कर लेने वाले का सम्मान होता है। मुनिराज प्रतिदिन कुछ समय के लिये अपने शरीर से ममत्व भाव छोड़ने की साधना भी करते हैं, इसे कायोत्सर्ग कहते हैं।

15. मार्ग प्रभावना- जिनेन्द्र भगवान के बताये हुए मार्ग पर जो अपने आत्मज्ञान को प्राप्त कर, अपनी इन्द्रियों और मन को वश में करके अपने जीवन को उज्ज्वल बनाने में लगा है वही श्रेष्ठ प्रभावना कर रहा है। उन्हें देखते ही अन्य लोग मोक्षमार्ग पर लग जाते हैं। सच्चा मार्ग वही है और सच्चे मार्ग की महिमा भी वही है जिस पर चलकर व्यक्ति अपने जीवन को निर्मल बनाता है और दूसरे जीवन को भी निर्मल पवित्र बनाने को लालालित और उत्साहित होते हैं।

सन्मार्ग की प्रभावना दो प्रकार से होती है बाह्य और अंतरंग से। रत्नत्रय के तेज से अपनी आत्मा को प्रभावनायुक्त करना चाहिए और यथा शक्ति दान देकर, तप धारण करके, भगवान की पूजा करके या ज्ञान आदि की महिमा के द्वारा जिनधर्म के मार्ग की सच्ची प्रभावना करना चाहिये। बाह्य में दिखने वाले जप-तप, व्रत-नियम, दान-पूजा और ज्ञान ध्यान आदि सभी अंतरंग को निर्मल बनाने का सशक्त साधन हैं। दान देने से प्रभावना होती है लेकिन संक्लेशपूर्वक या अहंकारवश, यशख्याति की आकांक्षा से दिये गये दान से प्रभावना मानना ठीक नहीं है। दान से तो स्व-पर कल्याण होता है जिससे मन प्रसन्न हो। तपस्या से भी प्रभावना होती है। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर महाराज महान् तपस्वी थे। उन्होंने अपने जीवन में लगभग दस हजार उपवास किये थे, नीरस भोजन की साधना की थी और अनेक उपसर्ग और परिषहों को जीता। पूजा की प्रभावना में मैनासुंदरी का नाम लिया जाता है, सम्यक्ज्ञान की आराधना से भी मार्ग की प्रभावना होती है। हम सभी अज्ञानता के कारण दुखी हैं, हमें इस अंधकार को हटाना है। समीचीन ज्ञान के माध्यम से आचार्य समंतभद्र स्वामी, आचार्य अकलंक स्वामी आदि आचार्यों ने धर्म ध्वजा फहराई। हमें अपने आचरण से, श्रद्धा और ज्ञान से मोक्षमार्ग की प्रभावना करनी चाहिये। यही वास्तविक प्रभावना है। शेष सारा आडंबर, तामझाम तो चार दिन का है। अपने को बाहरी दिखावे में नहीं पड़ना चाहिये।

16. प्रवचन वात्सल्य- जैसे गाय अपने बछड़े के प्रति स्नेह रखती है ऐसे ही साधर्मियों के प्रति स्नेह रखना प्रवचन वात्सल्य कहलाता है। बिना स्वार्थ के, बिना किसी सांसारिक अपेक्षा के जो प्रेम भाव होता है उसे वात्सल्य कहते है। नि:स्वार्थ प्रीति ही वात्सल्य कहलाती है। वात्सल्य वही रख पाता है जिसे साधर्मी के गुणों के प्रति बहुमान हो, उनका सम्मान ही अपना सम्मान मालूम पड़े। वात्सल्य भाव रखने वाले की दृष्टि निर्मल और विशाल होती है। दृष्टि में व्यापकता आ जाती है। सोचने और देखने का ढंग सकारात्मक होता है। वात्सल्य के लिये जरूरी है परस्पर एकता का बोध। वात्सल्य भाव से सारे पारिवारिक, सामाजिक व व्यक्तिगत मतभेद मिट जाते हैं अर्थात् राग-द्वेष नष्ट हो जाता है।

सोलहकारण पर्व और व्रत-

आचार्यों ने इसके लिये प्रत्येक वर्ष में तीन बार सोलह कारण भावनाओं के पालने के लिये निम्न तिथि निर्धारित की हैं।

1. पौष शुक्ल 15 से फाल्गुन कृष्ण 1 तक।

2. फाल्गुन शुक्ल 15 से वैशाख कृष्ण 1 तक।

3. श्रावण शुक्ल 15 से आश्विन कृष्ण 1 तक।

व्रत पालने की उत्तम मध्यम जघन्य विधियाँ आचार्यों ने बताई हैं।

1. **उत्तम विधि**- कृष्ण पक्ष की एकम से दूसरे माह की कृष्ण पक्ष की एकम तक 31 दिन के उपवास रखें।

2. **मध्यम विधि**- 16 उपवास और 16 पारणा।

3. **जघन्य विधि**- 31 एकासन लगातार।

इसके साथ ही सोलहकारण पूजा, व्रत का जाप-मंत्र, उद्यापन आदि करने का विधान है। सोलहकारण भावना के विषय में किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने तिथि ह्रास और तिथि वृद्धि के बारे में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। आचार्यों ने वर्ष में तीन बार इन व्रतों का पालन करने का निर्देश दिया है लेकिन अधिकांश व्यक्ति इसे भाद्रपद में ही मनाते हैं। ये व्रत भाद्रपद कृष्ण प्रतिपदा से आरंभ कर आश्विन कृष्ण प्रतिपदा को समाप्त किया जाता है।

सम्यग्दर्शन की निर्मलता को दर्शन- विशुद्धि कहते हैं सम्यग्दर्शन में निर्मलता आती है कषायों की मन्दता से। कषायों में मन्दता आती है तत्त्वचिन्तन से।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अपनी पूरी श्रद्धा बनाएँ। सात तत्त्वों का चिन्तन करें।आपा-पर का भेद-विज्ञान प्राप्त करें और प्राणी मात्र के भीतर आत्म-तत्त्व को देखें-प्रक्रिया इतनी ही है।

श्रावक व मुनि दोनों 'तीर्थकर प्रकृति' को अर्जित कर सकते है, बशर्ते कि सम्यग्दर्शन के साथ-साथ प्राणी मात्र के कल्याण की भावना भी हो।

हम सभी लोग विभिन्न विचारों द्वारा, विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा अपने जीवन को अच्छा बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। पिछले दिनों मन्दिर और मूर्ति, पूजा और अभिषेक के अनुष्ठान से अपने जीवन को अच्छा बनाने की प्रक्रिया पर विचार किया है।

वैसें हमें वास्तव में इन दिनों 'सोलहकारण भावनाओं' पर विचार करना चाहिए क्योकि हम इन दिनों 'सोलहकारण पर्व' मना रहे हैं। यह पर्व हमारे जीवन को अच्छा बनाने के लिये ही आता है, आया है।

भावनाएँ बुरी और भली दोनों तरह ही होती हैं और जैन दर्शन तो भावना-प्रधान ही माना गया है। जैन दर्शन में पाँच महाव्रतों को स्थिर रखने के लिए हर एक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ कही गई हैं।

संसार से विरक्त होने के लिए 'बारह भावनाओं' और 'वैराग्य भावनाओं' का चिन्तन कहा गया है।

इन सबके अलावा तीर्थंकर बनने के लिए भी भावना भायी जाती है। अपने आत्मकल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण की भावना भी पायी जाती है-यह बात आचार्य भगवन्तों ने विशेष रूप से 'सोलहकारण भावनाओं' के रूप में कही है। ये सोलह भावनाएँ वे हैं जो तीर्थंकर प्रकृति के संचित होने में कारण बनती हैं। 'नामकर्म' की तिरानवे (93) कर्म प्रकृतियों में से तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति ही एक ऐसी कर्म प्रकृति है जिसका संचय करना दुर्लभ है। कर्मों के बंध की प्रक्रिया को आाचार्य भगवन्तों ने संसार का कारण माना है लेकिन मात्र तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति ऐसी है जिसे संसार का कारण नहीं माना; बल्कि आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण का कारण माना गया है। कहा भी है कि जिस कर्म के उदय में जीव की त्रिलोक पूजा होती है और जिसके उदय में जीव पाँच महाकल्याणक को प्राप्त करने और धर्म तीर्थ का प्रवर्तन (प्राणी मात्र के कल्याण में निमित्त कारण भूत) करने में कारण होती है ऐसी तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति का संचय करना सभी के लिये संभव नहीं है लेकिन कोई अपनी आत्मा की उन्नत शक्ति को जाग्रत कर ले तो वह इस तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति को सहज ही प्राप्त कर सकता है।

केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में बैठकर सम्यग्दर्शन के साथ जब 'सोलह कारण भावनाएँ' भायी जाती हैं तब 'तीर्थंकर नामकर्म' का संचय होता है।

यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि मनुष्य गति में ही 'तीर्थंकर प्रकृति' नामकर्म का बंध प्रारम्भ होता है अन्यत्र नहीं। ऐसा इसलिये कि अन्य गतियों में तीर्थंकर नामकर्म के बंध के प्रारम्भ का सहकारी कारण केवली भगवान के पादमूल का अभाव है। केवली भगवान के पादमूल में ही ऐसी विशुद्धि होती है जिससे तीर्थंकर नामकर्म के बंध का प्रारम्भ होता है और इतना ही नहीं जिस भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारम्भ किया है उससे तीसरे भव में तीर्थंकर प्रकृति के सत्व वाले जीवों के मोक्ष जाने का नियम है।

तीर्थंकर प्रकृति का बंध संयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरण के छठे भाग पर्यंत सम्यग्दृष्टि को ही होता है।

हम देखें कि 'सोलहकारण भावनाएँ' कौन-कौन-सी हैं-

''दर्शन-विशुद्धिर्विनय-सम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधु-समाधि-वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य बहुश्रुतप्रवचन भक्तिरावश्यका परिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचन वत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य त.सू.''

दर्शन-विशुद्धि, विनय-सम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनुतिचार, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, यथाशक्तितप, साधु समाधि, वैयावृत्ति, अर्हत् भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति आवश्यक अपरिहाणी, मार्ग प्रभावना एवं प्रवचन वात्सल्य।

ये सोलह भावनाएँ तीर्थंकर नामकर्म के अर्जित करने में या संचित करने में कारण बनती हैं। इनमें से प्रथम भावना है – 'दर्शनविशुद्धि भावना'। दर्शनविशुद्धि भावना और सम्यग्दर्शन में अन्तर क्या है? दर्शनविशुद्धि में सम्यग्दर्शन की अपेक्षा थोड़ी विशेषता है। वास्तव में सम्यग्दर्शन की निर्मलता का नाम दर्शनविशुद्धि है जो 25 दोषों से रहित और आठ अंगो से युक्त हो वह निर्मल सम्यग्दृष्टि माना गया है। लेकिन दर्शन-विशुद्धि भावना भाने वाला साधक निरन्तर विशुद्धिपूर्वक आत्मचिन्तन या तत्त्वचिन्तन में लीन रहता है।

ध्यान देने की बात यह है कि 'दर्शनविशुद्धि' में सम्यग्दर्शन निर्दोष होना चाहिए। विषय चिन्तन न होकर सिर्फ तत्व चिन्तन जिसमें हो वह 'दर्शनविशुद्धि' भावना है। अर्थात् निर्दोष सम्यग्दर्शन के साथ जिसके केवल तत्व चिन्तन हो तब दर्शन विशुद्धि भावना है। सम्यग्दृष्टि तो जब सामायिक आदि करेगा तब आत्मचिन्तन करेगा बाकि समय वह पँचेन्द्रियों के विषयों का भी चिन्तन कर सकता है लेकिन दर्शनविशुद्धि भावना भाने वाला अपनी पँचेन्द्रियों के विषयों का चिन्तन क्षणभर को भी नहीं करेगा, वह सिर्फ आत्मचिन्तन और वह आत्मचिन्तन भी कैसा ? वह आत्मदृष्टि भी कैसी ? वह आत्मचिन्तन, वह आत्मदृष्टि जिसमें प्राणी मात्र के कल्याण की भावना भी छिपी हो। प्राणी मात्र के कल्याण करने वाली आत्मदृष्टि जिसको प्राप्त हो गई है वही तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति का संचय कर सकता है।

असल में एक बार जिस आत्मा का श्रद्धान हो जाता है उसे प्राणीमात्र के भीतर वह आत्मबल दिखाई देने लगता है और अनायास ही उसके हृदय में प्राणी मात्र के कल्याण की भावना उमड़ पड़ती है। प्राणी मात्र के प्रति अनुकम्पा, सहानुभूति और सद्भावनाओं से हृदय भर जाता है, दर्शन-विशुद्धि भावना से ओतप्रोत सम्यग्दृष्टि का दृष्टिकोण अत्यन्त उदार व विशाल हो जाता है।

अपने सम्यदर्शन को हम कसौटी पर कसकर देख लें कि प्रथम संवेग-अनुकम्पा-आस्तिक्य आदि हमारे भीतर आये हैं कि नहीं? सोलहकारण की पूजा, पंचमेरू की पूजा, दशलक्षण की पूजा और भी विभिन्न प्रकार की पूजाएँ करते रहते हैं। उन पूजाओं के साथ-साथ हमारे भीतर प्राणी मात्र के कल्याण की भावना भी आनी चाहिए। जिसने आत्म तत्व का अनुभव कर लिया है वह जान जाता है कि जैसा मेरा आत्म तत्व है वैसा ही आत्म तत्व प्राणी मात्र के भीतर भी है। तब प्राणी मात्र के भीतर विद्यमान उस आत्म तत्व के विकास की भावना भाना या प्राणी मात्र अपने आत्मतत्व को पहचानकर अपना कल्याण कर लेवे, ऐसी भावना भाना, सहज ही हो जाता है।

आत्मदृष्टिपूर्वक पर-कल्याण की भावना के मायने यही है कि सबके भीतर जो आत्मतत्व है वह भी विकास को प्राप्त हो, मेरा आत्मतत्व भी विकास को प्राप्त हो।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धान, सात तत्वों का जैसा स्वरूप है वैसा श्रद्धान, आपा-पर भेदविज्ञान, आत्मरूचि, मिथ्यात्व का क्षय, उपशम या क्षयोपशम, इतनी बातें हैं सम्यग्दर्शन में। अब इसके बाद उस सम्यग्दर्शन की निर्मलता के लिए क्या प्रयत्न किया जाए? क्योंकि सम्यग्दर्शन की निर्मलता को दर्शन-विशुद्धि कहते हैं।

सम्यग्दर्शन तो अपने आप में निर्मल है पर सम्यग्दर्शन में भी निर्मलता आती है, कषायों की मन्दता से और कषायों में मन्दता आती है आत्मचिन्तन से। इसलिये जो निरन्तर तत्व चिन्तन में लगा है, जिसने विषय -कषायों को विश्राम दे दिया है, उसके ही 'दर्शन-विशुद्धि' होगी। अपने घर में रहकर हम थोड़ी देर तो तत्व चिन्तन कर सकते हैं लेकिन बाद में पँचेन्द्रिय के विषयों का विचार भी मन में आ जावेगा क्योंकि घर-गृहस्थी साथ में लगी है। इसलिए कहते हैं कि घर में बैठे-बैठे सम्यग्दृष्टि को दर्शन-विशुद्धि नहीं होगी। केवली-श्रुतकेवली के पादमूल में बैठकर जब दर्शन-विशुद्धि आदि षोडशकारण भावनाएँ भायी जायेंगी तब विशुद्धि बढ़ेगी, कषायें मन्द होंगी, निरन्तर आत्मचिन्तन चलेगा और आत्मकल्याण की भावना बलवती होती जाएगी।

जैन आगम में शुभ, अशुभ और शुद्ध तीन तरह के भावों की चर्चा है। शुद्ध भावों से ही साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। लेकिन अशुभ भावों को छोड़कर अगर कोई प्राणी मात्र के कल्याण की भावनारूप शुभ भाव करे तो उसकी भी पीठ थपथपाई जाती है। क्योंकि तीर्थंकर नामक शुभ कर्म के बिना धर्म प्रवर्तन हो नहीं सकता और देखा जाए तो हमारे सम्यग्दर्शन में, हमारे तत्वचिन्तन में तीर्थंकर ही तो कारण बनते हैं वरना हम कैसे जान पाते कि क्या आत्म तत्व है? क्या 'स्व' है और क्या 'पर' है? आपा-पर का भेद विज्ञान सात तत्व और देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप बताने वाले कोई हैं तो वे तीर्थंकर ही तो हैं।

सम्यग्दर्शन के साथ उन्होंने प्राणी मात्र के कल्याण की भावनारूप शुभ-भाव किया, जिससे कि आज हमारा भी कल्याण हो रहा है।

हमारे भीतर यदि आत्म-कल्याण के साथ-साथ प्राणी मात्र के प्रति सहानुभूति आ जाती है तो हमारी विशुद्धि बढ़ने लगती है। अपन थोड़ा इस बात पर विचार करें - जो व्यक्ति प्राणी मात्र के प्रति सहानुभूति रखेगा क्या उसका कोई शत्रु या बैरी हो सकता है, जिससे उसे डरना पड़े? जिसकी प्राणी मात्र से मैत्री है, जिसकी प्राणी मात्र के प्रति सहानुभूति है, जिसके हृदय में सबके लिये करुणा है वह व्यक्ति कितना नि:शंक और निश्चित होगा। देखो एक गुण आ गया - 'नि:शंकित'।

जो प्राणी मात्र से सहानुभूति रखता है, जो सबके कल्याण की भावना रखता है उसे संसार के भोग-विलास की आकांक्षा होगी ही नहीं। इस तरह ''निकांक्षित'' गुण उसके भीतर आने लगेगा और जो

व्यक्ति सबसे सहानुभूति रखता है, विशेषरूप से धर्मात्माओं से, बताइये वह धर्मात्माओं के शरीर की मलिनता को देखकर क्या उनसे घृणा करेगा? वह तो धर्मात्माओं के गुणों से प्रीति रखेगा। इस तरह उसके भीतर 'निर्विचिकित्सा' अंग आ गया।

जिस व्यक्ति ने आत्मदृष्टि प्राप्त कर ली, क्या वह कभी यथार्थ तत्व से विमुख हो पायेगा? क्या उसका मन कभी मूढ़ता या अविवेक से ग्रसित होगा? यही तो अमूढ़दृष्टि नाम का गुण है और जिसकी सभी के प्रति सहानुभूति है या आत्मकल्याण की दृष्टि है, वह दूसरे धर्मात्माओं के दोषों को तो देखेगा ही नहीं, बल्कि दोषों को परिमार्जित करने का भाव होगा। यही तो उपगूहन अंग है। देखिये इस तरह एक-एक करके सारे गुण आते जा रहे हैं और देखे, जो व्यक्ति सबसे सहानुभूति रखता है, किसी धर्मात्मा को पतित होते देखेगा तो धर्मानुरागवश उसे सँभालने का ही प्रयास करेगा। इस तरह स्थितिकरण नाम का गुण आ गया और धर्मात्मा के प्रति निश्छल प्रेमभाव, सहानुभूति रखना ही तो 'वात्सल्य' है।

मैं जब इस पर विचार कर रहा था तो मुझे यह सब बहुत अद्‌भुत लगा। ''क्या सचमुच हम लोगों के भीतर ऐसी आत्मदृष्टि आई है? यहाँ सिर्फ अपने कल्याण की चर्चा है, जिसमें प्राणी मात्र के कल्याण का भाव उत्पन्न हो गया हो। सबके भीतर जो आत्मतत्व है उसका विकास कैसे हो? मैं कैसे उस मोक्षमार्ग को सबके लिए बता सकूँ जिस मोक्षमार्ग को मैंने अपना लिया है - ये बात जब मन में आना शुरू होती है तब अपनी गुणवत्ता भी बढ़ती है, अपने अन्दर आत्म -निर्मलता बढ़ती है और साथ-साथ तीर्थंकर प्रकृति का संचय होना शुरू होता है।''

'पुण्यफला अरिहन्ता' अत्यन्त पुण्य का फल है तीर्थंकर प्रकृति।

यह सारी पुण्य प्रकृतियों में सबसे श्रेष्ठ प्रकृति है। आज अपन सोलहकरण भावनाएँ भायेंगे तो भी तीर्थंकर प्रकृति नहीं बँधेगी - ऐसा विचार करके उदास नहीं होना चाहिए, न उदासीन होना चाहिए। ठीक है - हम ऐसे काल में बैठे हैं जहाँ केवली या श्रुतकेवली का सान्निध्य नहीं मिलने वाला। लेकिन यदि आज हम सोलहकारण भावना भायेंगे तो हमें आगामी जीवन में ऐसा अवसर प्राप्त होने की सम्भावना तो बनेगी कम से कम और न बने भैया तीर्थंकर, तो तीर्थंकर के समावेशरण में बैठकर अपने आत्मकल्याण का विचार ही अपने में बना रहे तो इतने में ही अपना काम बन जाये। हमें इस सोलहकारण पर्व में ही शुरूआत कर देनी चाहिए।

आचार्य भगवन्तों ने लिखा है सोलहकारण भावनाओं में समस्त, एक या दो भावनाओं से भी तीर्थंकर प्रकृति बँध सकती है, लेकिन ध्यान रहे उनमें दर्शनविशुद्धि भावना की प्रमुखता है।

हम सबसे पहले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धा बनाएँ। देव, शास्त्र, गुरु का मतलब यह नहीं कि हमने जिससे व्रत नियम ले रखा है वह गुरु हैं अन्य नहीं। यह श्रद्धान नहीं कहा जाएगा। गुरु का लक्षण आ. समन्तभद्र स्वामी ने कहा है -

विषयाशा वशातीतो, निरारम्भो परिग्रहः।
ज्ञान ध्यान तपो रक्तः, तपस्वी प्रशस्यते॥

अर्थात् जो विषयाशा के त्यागी हैं आरम्भ परिग्रह से रहित हैं तथा ज्ञान ध्यान तप में लीन रहते हैं वे श्रेष्ठ गुरु हैं। जो सात तत्त्व कहे गये हैं उनका निरन्तर अभ्यास करें और आपा-पर का भेदविज्ञान प्राप्त करें। जहाँ आत्म-कल्याण की बातों में रुचि लेवें, वहीं विषय-कषायों में रुचि कम करें।

इतना ही नहीं प्राणीमात्र के भीतर इस आत्मतत्व को देखें ताकि सबके मन में आत्म-विकास की भावना आवे-प्रक्रिया इतनी ही है। आइये इस प्रक्रिया को जीवन में लाने के लिए अपन आगे विचार करें।

आचार्य भगवन्तों ने हमारे लिए मन, वाणी और शरीर को निर्मल बनाने के उपाय बताये हैं। क्योंकि ये तीनों - मन, वाणी व शरीर ही हमारे जीवन के उत्थान-पतन के कारण बनते हैं। मन की निर्मलता के मायने हैं, मन में उठने वाले विचारों का निर्मल होना। विचारों की निर्मलता आती है अनेकान्त से । वस्तु अनेकान्तमय है। वह उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और सदा बनी रहती है। उत्पाद, ध्रौव्य, व्यय, यह वस्तु के स्वाभाविक गुणधर्म हैं। उसके हर धर्म को विपरीत होने पर भी स्वीकार करना, जैसे : मैं पर्याय अवस्था की अपेक्षा नाशवान् हूँ लेकिन मैं शाश्वत भी हूँ। अनेकान्त हमारे विचारों में निर्मलता लाता है, हमें वैचारिक रूप से सहिष्णु बनाता है। तभी तो हम दूसरों के विचारों से बहुत जल्दी असहमति जाहिर कर देते हैं। तभी तो दूसरों के विचार का हम सर्वथा निषेध ही कर देते है, उसे हम सुन ही नहीं पाते, उस पर विचार ही नहीं करते कि कहीं उसमें कोई सच्चाई है। हमारे विचारों में इतनी सहिष्णुता आनी चाहिए कि हम दूसरों के विचारों को सुन तो सकें। और दूसरे ने अपनी बात किस अपेक्षा कही है इस पर भी ध्यान दें। मानना न मानना, वह तो हम कसौटी पर कसेंगे, ठीक होगा तो मानेंगे, नहीं तो नहीं मानेंगे।

आचार्य पुष्पदंत, भूतबलि महाराज ने षट्खण्डागम पुस्तक अध्याय गाथा, पृष्ठ 79 में इन सोलहकारण भावनाओं का नामोल्लेख इस प्रकार से किया है ।

दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खण-लवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेग संपण्णदाए जधाथामें तधा तवे,साहूणं पासुअरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुद भत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सुलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधति।।41।।

1. दर्शनविशुद्धता 2. विनय संपन्नता 3. शीलव्रतेष्वनतिचार 4. आवश्यकापरि 5. क्षणलवप्रतिबोधनता 6. लब्धि संवेग संपन्नता 7. यथा स्थान यथा शक्ति तप 8 .साधुओं को प्रासुक परित्यागता 9. साधुओं को समाधि संधारणा 10. साधुओं की वैयावृत्तयुग युक्ता 11. अरहंत भक्ति 12. बहुश्रुत भक्ति 13. प्रवचन भक्ति 14. प्रवचन वात्सल्यता 15. प्रवचन प्रभावनता और 16. अभीक्ष्ण अभीक्ष्ण, प्रत्येक समय ज्ञानोपयोग युक्ता।

सोलहकारण भावनाओं का उल्लेख आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र में इस प्रकार किया है।

1. दर्शनविशुद्धि 2. विनय संपन्नता 3. शीलव्रतेष्वनतिचार 4. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग 5. वात्सल्य संवेग 6. शक्ति तस्त्याग 7. शक्ति तस्तप 8.साधु समाधि 9. वैयावृत्यकरण 10. अर्हद्भक्ति 11. आचार्य भक्ति 12. बहुश्रुत भक्ति 13. प्रवचन भक्ति 14. आवश्यकापरिहाणि 15. मार्ग प्रभावना 16. प्रवचन। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य उमास्वामी महाराज ने षट्खण्डागम में वर्णित नामों एवं क्रम को परिवर्तित किया है। क्षणलव-प्रतिबोधनता भावना के स्थान पर आचार्य भक्ति रखी गई है तथा प्रवचन प्रभावनता के नाम को परिवर्तित कर मार्ग प्रभावना नाम रखा गया है। अभीक्ष्ण अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग युक्ता के स्थान पर संक्षिप्त नाम अभीक्ष्णज्ञानोपयोग नाम रखा गया है। लब्धि संवेग संपन्नता भावना के स्थान पर संवेग रूप संक्षेप नाम रखा गया है। क्षणलवप्रतिबोधनता भावना को ज्ञानोपयोग में गतार्थ समझकर छोड़ा गया है, ऐसा जान पड़ता है कि ज्ञान के समान आचार को भी प्रधानता देने के लिये बहुश्रुत भक्ति के साथ आचार्य भक्ति को जोड़ा गया है। शेष भावनाओं के नाम और अर्थ मिलते जुलते हैं। यथा स्थान तप और शक्तितस्त्प एक ही हैं, मात्र नाम का अंतर है।

****

सोलह कारण भावना (तीर्थंकर पद के सोपान)

1

दर्शन विशुद्धि भावना

असत्य-सहिता हिंसा, मिथ्यात्वं च नश्यते।
अष्टाङ्ग यत्र संयुक्तं, दर्शनं तद्विशुद्धये॥१॥

हिंसा, असत्य और मिथ्यात्व से रहित तथा आठ अंग सहित सम्यग्दर्शन दर्शन की विशुद्धि का कारण है।

मोह तिमिर से आच्छादित है, तीन लोक सारा। काल अनादि से भटके हैं, मिथ्या भ्रम द्वारा।।
कभी नरक नर सुर गति पायी, पशु गति में भटके। राग द्वेष मद मोह प्राप्त कर, विषयों में अटके।।
सप्त तत्व छह द्रव्य गुणों में, श्रद्धा उर धरना। मिथ्या भाव छोड़कर सम्यक्, रुचि प्राप्त करना।।
शंकादिक दोषों को तजकर, भेद ज्ञान पाना। दरश विशुद्धी गुणी जनों ने, या को ही माना।।1।।

सोलहकारण में दर्श विशुद्धि भावना प्रधान है।

ये भावना भाने वाला ही सच्चा विद्वान है।

इनकी महिमा कौन कह सकता हैं 'विशद' जीवन में।

सोलहकारण भावनाएं, तीर्थंकर पद के सोपान है।

कोई जीव जिसने गुरु के वचनों पर श्रद्धान किया किन्तु अगर कदाचित् गुरु ने गलत बता दिया तो उस पर श्रद्धान करता है वह तब भी सम्यक् दृष्टि है किन्तु अगर शास्त्र में पढ़ लिया और उसके बाद भी वह श्रद्धान करता है तो वह उसी क्षण मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

मिच्छाइट्ठी जीवो, पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहति असब्भावं, उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं॥

मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन गुरुओं के पूर्वापर विरोधादि दोषों से रहित और हित के करने वाले भी वचनों का यथार्थ श्रद्धान नहीं करता किन्तु इसके विपरीत आचार्याभासों के द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट

असद्भाव का परम पूज्य आचार्य गुरुवर विशदसागर महाराज जी प्रथम अपनी पीयूष देशना में जिनेन्द्र भगवान के चरणों में नमस्कार करते है और अपनी अमृत वाणी द्वारा भव्य जीवों के कल्याणार्थ जिनवाणी का विशद विवेचन कर रहे है।

हे भव्य आत्मन्! यह मानव जीवन चौरासी लाख योनियों में बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुआ है, फिर भी यह मानव इस जीवन को व्यर्थ ही गवाँ रहा है। यूँ कहा जाए कि मानव के जीवन में तन की नहीं, मन की कीमत होती है। मनुष्य के जीवन में भावों का महत्त्व सर्वोपरि होता है,भावों से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है, सद्भावों से सद्गति और असद्भावों से असद्गति की प्राप्ति होती है। भाव अर्थात् परिणाम, यह अनंत प्रकार के होते हैं किसी भी जीव के परिणाम आपस में, दूसरे जीव से नहीं मिलते हैं। भाव कभी भी स्थिर नहीं होते है, यह हर क्षण परिवर्तित होते रहते हैं। शुद्ध भावों से शुभ कर्म और अशुद्ध भावों से अशुभ कर्म का बंध होता है जैसे कलह करते बालक को हिंसा ना करने पर भी अपराध दण्ड भोगना पड़ता है। धीवर द्वारा मछ्ली ना पकड़ने पर भी केवल मछ्ली पकड़ने के भाव मात्र से हिंसा का बंध होकर सागरों पर्यंत नरक के दुखों का सामना करना पड़ता है। राजा द्वारा वन भ्रमण के लिये जाने पर शिकार करने की भावना रखना मात्र ही बंध का कारण बन जाता है किंतु दूसरी ओर डाक्टर द्वारा रोगी की मृत्यु हो जाने पर भी वह अपराधी नहीं बनता है क्योंकि डाक्टर के भाव उसे बचाने के थे। आज वर्तमान परिवेश में विज्ञान के चमत्कारों से कोई अछूता नहीं बचा है। इंटरनेट, मोबाइल, टी.वी. इत्यादि ऐसे साधन हैं जिस पर छोटा सा बच्चा अच्छी और बुरी दोनों चीजों को देखता है और वही सीखता भी है। यहाँ तक की गंदी से गंदी पिक्चर, फोटो, गाने भी देखता, सुनता है। अब आप स्वयं विचार कीजिये जिस बच्चे को जहाँ मंदिर, गुरु के चित्र दिखाकर उसको भाव, परिणाम बनाने चाहिए थे किंतु कहाँ विलासता की ओर भावों को प्रेषित कर दिया। है ना विचारणीय प्रश्न कि हमारे भावों का हमारे उपर क्या असर पड़ता है?

भावों की पगडंडी में सरपट दौड़ा करता मन।
भावों ही भावों में भव के बँध बाँधता रहता मन।।
भावों ही भावों में भव के बंध काटता रहता मन।

आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र के दूसरे अध्याय में कहा है कि **"औपशमिक क्षायिकौ भावो मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च"** ये पाँच भाव असाधारण भाव है अर्थात ये जीवद्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते हैं।

ये भाव संसारी तथा मुक्त जीवों में शक्ति के अनुसार पाये जाते हैं। मनुष्य को भावों का परिष्कार करके शुभ और शुद्ध बनाने का यत्न करना चाहिये इसी से जीव की शोभा होती है। आगम में आचार्यों ने अनेक

भावनाओं को भाने की प्रेरणा दी है जैसे बारह भावना, मेरी भावना, सोलहकारण भावना, समाधि भावना, वैराग्य भावना, पंच व्रतों की रक्षा हेतु प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ आदि। भावना का तात्पर्य है कि जो बार-बार भायी जाए अर्थात् जिनका चिंतवन बार-बार किया जाए, जिससे हमारा मोक्षमार्ग प्रशस्त हो सके। इसका दूसरा नाम अनुप्रेक्षा भी है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र के सातवें अध्याय के 11 सूत्र में कहा है **"मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थानि च सत्त्व गुणाधिक क्लिश्यमान विनयेषु।"** मैत्री अर्थात मित्रता का भाव, प्रमोद अथवा प्रसन्नता का भाव, कारुण्य अर्थात् करुणा का भाव, माध्यस्थ अर्थात् विपरीत वृत्ती वालों के प्रति माध्यस्थता का भाव। भावनाओं का बार-बार चिंतन, मनन, स्मरण करने से परिणामों में उज्जवलता आती है, मिथ्यात्व का अभाव होता है, व्रतों में दृढ़ परिणाम बनते है, अशुभ ध्यान का अभाव होकर शुभ ध्यान में वृद्धि होती है और संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति का भाव जागृत होता है। वैराग्य को दृढ़ करने के लिये भावनाओं का अर्थात् अनुप्रेक्षाओं का चिंतन अवश्य करना चाहिये ।

हे भव्य आत्मन्! हमारा कथन सोलहकारण भावना का चल रहा था। सोलहकारण भावना अर्थात् जो गिनने में सोलह होती हो उनका क्रम-क्रम से चिंतन करना चाहिये। इन भावनाओं को भाने का फल तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। तीर्थंकर प्रकृति का बंध सम्यक्दृष्टि, देशव्रती श्रावक, प्रमत्त, अप्रमत्त, संयमी मुनियों को होता है। तीर्थंकर प्रकृति सर्वोकृष्ट प्रकृति है इससे उत्कृष्ट प्रकृति तीन लोक में दूसरी कोई नहीं हैं।

तीर्थंकर प्रकृति का प्रारंभ कर्म भूमि के मनुष्य, पुरूषलिंगधारी को ही होता है। जिनका द्रव्यवेद और भाववेद दोनो ही पुरूष हो और मनुष्य गति में ही होता है। अन्य तीन गतियों में इसका आरंभ नहीं होता है किंतु पूर्णता किसी भी गति में हो सकती है जो तीर्थंकर प्रकृति का बंधक है वह केवली अथवा श्रुत केवली के पादमूल में इस प्रकृति को प्रारंभ करता है। तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ कर्मभूमि का मनुष्य उपशम, क्षयोपशम या क्षायिक तीनों में से कोई एक प्रकृति का सम्यक्दृष्टि जीव केवली अथवा श्रुत केवली के पादमूल में इस प्रकृति को प्रारंभ करता है। तीर्थंकर प्रकृति का बंधक जीव यदि क्षायिक सम्यक्दृष्टि है और यदि उसने सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व नरकायु का बंध कर लिया हो तो वह प्रथम नरक से नीचे नहीं जाता और यदि वह क्षयोपशमिक सम्यक्दृष्टि है तो तीसरे नरक तक जा सकता है।

जिसने अपने पूर्व भव में केवली अथवा श्रुत केवली के पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया है, वह पाँच कल्याणक वाला तीर्थंकर, चौथे या पाँचवें गुणस्थान में केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में सोलहकारण भावना भाकर तीर्थंकर नामकर्म का आस्रव किया है, वह दो कल्याणक वाला तीर्थंकर होता है। दो या तीन कल्याणक वाले तीर्थंकर विदेह क्षेत्र में ही होते हैं ।

जिनको तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता है वह भवनत्रिक देवों में, खोटे मनुष्यों में, नीच कुल में, विकृत अंग वाले, अल्पायु, दरिद्री, तिर्यंचों में, भोगभूमि, नपुंसक, स्त्री, एकेंद्रिय, विकल चतुष्कादि पर्यायों में उत्पन्न नहीं होते हैं, तीसरे नरक से नीचे नहीं जाते है। सोलहकारण भावना की महिमा का वर्णन सोलहकारण पूजन में करते हुए कवि कहते हैं।

सोलहकारण भाय, तीर्थंकर जे भये। हरषे इन्द्र अपार, मेरु पर ले गये॥
पूजाकर निज धन्य लखो, बहु चाव से। हमहूं षोडश कारण, भावें भाव सों॥

तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाले जीव को संपूर्ण शुभ प्रकृतियाँ होती है सभी मनुष्य, नारायण, चक्रवती,संपूर्ण सृष्टि के जीव जिन्हें नमस्कार करते है। इन सभी से अधिक तीर्थंकर का वैभव होता है। वैभव के साथ-साथ सबसे बड़ी विशेषता है कि वे धर्मतीर्थ के प्रर्वतक होते हैं, वे कौन से परिणाम है जिनसे तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है, वे परिणाम सोलहकारण भावना है जिनसे तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।

भगवान महावीर के जीव ने दो भव पूर्व राजा नंद की पर्याय में मुनि अवस्था धारण की थी और उस मुनि अवस्था में अनेक प्रकार के व्रतादि के साथ साथ सोलहकारण भावना का चिंतन किया था जिसके कारण तीर्थंकर प्रकृति का बंध हुआ था। राजा श्रेणिक ने मिथ्यात्व अवस्था में सातवें नरक का बंध किया था लेकिन सोलहकारण भावनाएँ भाकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया जिसके कारण नरक गति की आयु सातवें नरक से घटकर पहले नरक की हो गई थी और अगली चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर महापद्म नाम के तीर्थंकर होगे। इसलिए ये भावनाएँ प्रत्येक जीव को भाना चाहिए। अब हमारे मन में प्रश्न उत्पन्न होता है क्या तीर्थंकर प्रकृति का बंध सोलहकारण भावना भाने से ही होता है या कोई प्रकृति कम हो जिससे तीर्थंकर प्रकृति का बंध संभव हो? तीर्थंकर प्रकृति के बंध में मुख्य रूप से दर्शनविशुद्धि भावना सर्वोपरि है इसके साथ संपूर्ण भावनाएँ अपने आप आ जाती है कदाचित् दर्शनविशुद्धि भावना ना हो और अन्य भावनाएँ हो तो भी बंध संभव नहीं हो सकता है। तीर्थंकर प्रकृति का बंध दर्शनविशुद्धि भावना से ही होगा अन्य भावना तो स्वयमेव आ जाएंगी।

रानी चेलना स्वयं सम्यक्त्व से भूषित थी तभी उसने बौद्ध धर्मी राजा श्रेणिक को भी बड़ी युक्ति से सम्यक्दर्शन प्राप्त करा दिया। जिन्होने सातवें नरक की आयु का बंध कर लिया था। ऐसे श्रेणिक जिनदेव की श्रद्धा भक्ति के प्रभाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर निर्वाण को प्राप्त होगें। इसकी कथा इस प्रकार है

इसी आर्य खण्ड के मगध देश के राजगृह नगर में उपश्रेणिक राजा न्यायनीति पूर्वक राज्य करते थे। एक दिन दूसरे राजा के द्वारा दिये हुये घोड़े पर सवार होकर घूमने निकल गये और घोड़ा भीषण वन में वही छोड़ दिया। वहाँ भीलों की बस्ती में यमदण्ड क्षत्रिय ने उनकी रक्षा की और उन्हें भोजन पान कराया। पुनः अपनी तिलकावती पुत्री से शादी कर दी और उन्हें वचन बद्ध कर दिया कि जो मेरी पुत्री का पुत्र होगा वही

राजा बनेगा। तब राजा इस वचन को स्वीकार करके अपने नगर वापिस आ गया। कुछ दिनों में उसके चिलाती आदि पाँच सौ पुत्र हुये। राजा की दूसरी इन्द्राणी देवी से श्रेणिक नामक पुत्र हुये। किसी दिन राजा ने ज्योतिषी से पूछा मेरे सभी पुत्रों में कौन सा पुत्र राजा बनेगा? ज्योतिषी ने कहा- जो शक्कर के घड़े को दूसरे सिंह द्वार पर ले जाएगा,जो मिट्टी के नये घड़े को तृणबिंदु से भरेगा तथा जो कुत्तों के बीच में सबको खीर खिलायेगा और जो नगर में आग लगने पर सिंहासन आदि को बचा लेगा, वही पुत्र राजा बनेगा? अंत में जब परीक्षा हुई तब राजा श्रेणिक उसमें सफलता को प्राप्त हुये। प्रथम प्रश्न था कि सभी राजकुमार शीश पर शक्कर का घट बिंदु से भरना, श्रेणिक ने पुनः युक्ति से काम किया और एक कपड़ा लेकर ओस बिंदु से भरे क्षेत्र में फैला दिया और प्राप्त होने पर उसे निचोड़कर अपना घट भर लिया। दूसरा प्रश्न था कि जो कुत्तों के बीच में भोजन करेगा,जब सभी राजकुमार भोजन करने अपने अपने आसन पर बैठे गये और भोजन की प्रशंसा करके खाने लगे तभी राजा ने शिकारी कुत्ते छुड़वा दिये, इससे सभी परेशान होकर अपनी जान बचाकर भाग गये किंतु श्रेणिक वहीं डटे रहे और स्वादिष्ट भोजन उनके उपर फेंकना प्रारंभ कर दिया जिससे कुत्ते शांत हो गये और श्रेणिक ने भोजन कर लिया, इस प्रकार श्रेणिक पुनः सफल हुये। तीसरी परीक्षा थी, जो नगर में आग लगने पर सिंहासन को बचा लेगा। जब नगर में आग लगी तब सभी राजकुमार अपना अपना सामान लेकर भागने लगे किंतु राजा श्रेणिक अपना सिंहासन लेकर भागने लगे। इस प्रकार वह सभी परीक्षाओं में सफल हुये। किंतु पुत्र का पुरुषार्थ व्यर्थ गया। इस प्रकार राज्य के योग्य श्रेणिक को जानकर भी उसके माता पिता ने छल से श्रेणिक को दोष लगाकर पाँच लाख सुभटों के साथ उसे देश से निकाल दिया।

श्रेणिक वहाँ से अकेले निकलकर नंदिग्राम में पहुँचे। वहाँ किसी इन्द्रदत्त नामक वैश्य (सेठ) को देखकर कहा कि हे मामा! मुझे भोजन कराओ और वहाँ के लोगों ने दोनों को निकाल दिया। पुनः ये बौद्ध मठ में गये वहाँ भोजन पान करके बौद्ध धर्म को ग्रहण कर लिया। पुनः चलते चलते जिव्हारथ, जूता, छत्री, कुग्राम, स्त्री, पुत्र, मृत, मनुष्य, धान, हल का फाल, बेरी वृक्ष के काँटे इनके संबंध में इन्द्रदत्त से प्रश्न किये। इन्द्रदत्त ने अपने गाँव में जाकर नंद श्री से कहा- हे पुत्री! कोई सुंदर पागल युवक आया है जो अनेक प्रकार सुंदर-सुंदर प्रश्न करता है। पुत्री ने उन प्रश्नों को सुनकर कहा पिताजी वो पुरुष पागल नहीं हैं सुनो उसने जो मामा कहा था उसका अभिप्राय था कि भाँनजा आदरणीय होता है। जिव्हारथ पर चढ़कर चलने को कहा उसका मतलब था मार्ग में थकावट का अनुभव न हों और जल के भीतर काँटे होने से उसने जूते पहन लिये, वृक्ष के नीचे विष्टा आदि गिरने से वह छाता लगा लिया। अगला प्रश्न उसने गाँव के संबंध में कहा- इसका मतलब है यदि धार्मिक पुरुष है तो गाँव बसा हुआ परिपूर्ण है अन्यथा गाँव उजड़ा हुआ है। अगला प्रश्न स्त्री के विषय में था कि यदि स्त्री विवाहित है तो बंधी हुई है अन्यथा खुली हुई। अगला प्रश्न था कि यह मनुष्य अभी मरा हुआ है या पूर्व में, इसका मतलब गुणी, धर्मी व्यक्ति है वह अभी मरा है अन्यथा पहले का मरा हुआ है। अगला प्रश्न था कि

किसान ने कर्ज लेकर धान बोया है तो उसका फल पहले ही खा चुका है और यदि कर्ज नहीं लिया है तो फल बाद में खाएँगा। दो डाल और बेरी के दो-दो मिले हुये कांटे होते है इस प्रकार पिता द्वारा समझाने के बाद नंदश्री ने दासी के नख में तेल देकर उसे बुलाने को भेजा। उसने तेल देकर श्रेणिक से कहा- इस तेल को लगाकर आप स्नान करके घर आ जाईये। उसने पैर से गड्ढा करके पानी भरकर गड्ढे में तेल डाल दिया। पुन: श्रेणिक ने पूछा- नंदश्री का घर कहा पर है तो वह दासी कानों को दिखाकर चली गई। चतुर श्रेणिक सबसे निपटकर ताल वृक्ष से शोभित उसके घर पहुँच गये। कीचड़ से पैर सने थे इसलिए नंदश्री ने पैर धोने के लिए थोड़ा सा पानी दिया उससे पैर धोकर श्रेणिक वही बैठ गये। जब नंदश्री ने भोजन करने को कहा तब श्रेणिक ने उसकी परीक्षा हेतु बत्तीस चावल देकर कहा कि इससे बत्तीस प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बनाओ, मैं वही खाऊँगा। नंदश्री भी बड़ी चतुर थी उसने उन चावलों को पीसकर पुआ बनाए, पुन: पुआ बेचकर धन कमाया और उसके बत्तीस प्रकार के व्यंजन बनाकर खिला दिये। पुन: उसने मूंगा को धागे में पिरोने को कहा उसने झट पिरो दिया। अंत में नंदश्री और श्रेणिक की शादी हो गई। कुछ दिनों में नंदश्री को गर्भ संबंधी दोहला उत्पन्न हुआ कि सात दिन तक कोई हिंसा ना करे, श्रेणिक ने उसकी पूर्ति करा दी। कुछ समय उपरांत नंदश्री ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम अभयकुमार रखा गया। वह सर्व गुण संपन्न था एवं सर्व विद्याओं में निपुण था और सभी कार्यो में कुशल था। उधर राजा उपश्रेणिक, चिलाती पुत्र को राज्य देकर स्वयं मृत्यु को प्राप्त हो गये। चिलाती पुत्र के बढ़ते अत्याचार एवं अन्याय में प्रवृत्ति होने से मंत्रियों ने श्रेणिक को राजा बनने हेतु विज्ञप्ति पत्र भेजा। शीघ्र आकर श्रेणिक राजा बन गये ।

जब उनने नंदिग्राम को दोष लगाकर नष्ट करना चाहा तब श्रेणिक ने एक मेढ़ा को भेजकर सूचना दी कि यह मेंढ़ा जैसा का तैसा रहे न दुर्बल हो ना पुष्ट हो, यह सुनकर ग्राम के लोग बड़े दुखी हुये। भाग्य की बात उसी समय इन्द्रदत्त के साथ अभयकुमार आ गये। उन्होंने कहा- आप लोग अपने ग्राम के केन्द्र में एक सुदृढ़ स्तम्भ गड़वा दीजिये एवं एक बाघ को उस खम्भे में बाँध दीजिए। आप उसे निश्चिन्त होकर भरपेट खिलाईये। जब बकरा खाने पीने से मोटा हो जाये तब बाघ के सामने बकरे को ले जाइये। इस प्रकार बाघ के डर से बकरा कुछ दुबला हो जायेगा फिर दूसरे दिन खिलाने पिलाने से मोटा हो जाएगा। ऐसी दिनचर्या करने से ना तो बकरा मोटा होगा ना दुबला होगा।

फिर राजा ने नंदिग्राम वासियों से बाबड़ी लाने को कहा और साथ में ये भी कहा कि अगर बाबड़ी नही लाये तो ग्राम छोड़कर जाना होगा। आप लोग अपने समस्त भैंसे एवं बैल एकत्रित कर उनके कंधे पर जुए रखवा दें एवं उन्हें लेकर राजगृह नगर में राजमहल तक उनका ताँता लगवा दें। जिस समय महाराज गहरी निद्रा में सोये हुए हों उस समय आप लोग राजमहल में प्रवेश कर उनसे जोरों से कहना- हे महाराज हम नंदी ग्रामवासी

बाबड़ी लाये हैं। आपकी क्या आज्ञा है? महाराज नींद की अवस्था में झुंझलाकर कह देंगे जहाँ से बाबड़ी लाये हो वहीं रख दो। ब्राह्मणों ने ऐसा ही किया और उनकी रक्षा हुई। तीसरी बार हाथी का प्रमाण माँगा, तब अभयकुमार ने एक तालाब में एक नौका लगाकर विप्रों से मंगवाकर उसमें एक गजराज खड़ा कर दिया। गजराज के भार से नौका जितनी डूब गयी थी उसमें एक चिन्ह लगवा दिया। इस प्रकार उसमें पत्थर, शिला इत्यादि भर दिया और गजराज के भार के बराबर बनाकर भेज दिया। चौथी बार खैर की लकड़ी में अगला व पिछला हिस्सा पूछा। अभयकुमार ने एक तालाब में खैर की लकड़ी डाल दी। खैर की लकड़ी जल में गिरते ही अपना अग्रिम भाग आगे करके तैरने लगी। इस प्रकार ये भी समाधान हुआ। पाँचवी बार तिल के बराबर तेल मांगा। तब अभयकुमार ने एक दर्पण मंगाकर उस पर तिल बिछा दिया एवं उन लोगों से तेल निकालने को कहा। तिलों से तेल निकलवाकर विप्र ले आये तब अभयकुमार ने शीशे पर तिलों के बराबर ही तेल भर दिया और महाराज के सामने भेज। जितनी भी कठिन से कठिन परीक्षाएं ली जा रही है, वह विप्र सभी में सफल हो रहे थे। छटवीं बार भोजन के योग्य दूध मांगा जो दो पाये, चौपाये या नारियल आदि पदार्थों का ना हो, पास भेज दिया। सातवीं बार हमारे सामने एक ही अकेले मुर्गा को लड़वाने की आज्ञा दी है। अभी तक तो सब अभयकुमार सम्हाल लेते थे किन्तु अब घबड़ाकर क्या होगा? अभयकुमार ने कहा- एक अकेले मुर्गे को शीशा के सामने रख दीजिये। मुर्गा अपने प्रतिबिम्ब को ही एक प्रतिपक्षी मुर्गा समझकर उसे अपना शत्रु समझकर लड़ने लगेगा। आठवीं बार बालू की रस्सी मंगाई। तब अभयकुमार से कहा- राजा से जाके निवेदन करना कि उसके नमूने की रस्सी दे दीजिए। नौवीं बार घड़े में रखे हुए कुम्हड़े को लाओ। तब घड़े के भीतर कुम्हड़े को लगा दिया और कुछ दिन में वह बड़ा हो गया। इस प्रकार उसे महाराज के पास भेज दिया। पुनः राजा ने इन प्रश्नों का उत्तर हल करने वाले पुरुष को ज्ञात करने हेतु अपने चतुर पुरुष को भेजा उसने सब रहस्य राजा को आकर बता दिया, पुनः राजा ने आदेश दिया कि नंदिग्राम के बालक, बूढ़े, दिन-रात्रि एवं मार्ग कुमार्ग, गाड़ी, सवारी आदि को छोड़कर यहाँ पधारें। तब अभयकुमार गाड़ी के अक्षों में सीकों को बाँधकर उसमें बैठकर गये तब संध्या के समय राजा के दर्शन हुए। पुनः पिता पुत्र का मिलाप हो जाने से अभयकुमार द्वारा नंदिग्राम वालों को अभयदान दिया गया। फिर राजा ने नंदश्री को महादेवी और अभयकुमार को युवराज का पट्ट बाँधा। इधर वैशाली नगरी के राजा चेटक की सात पुत्री थी, प्रियकारिणी, मृगावती, जयावती, सुप्रभा, ज्येष्ठा, चेलना और सुनंदा। एक चित्रकार ने चेलना के चित्र को बनाकर राजा श्रेणिक को दिखाया। राजा श्रेणिक ने उस पर मोहित होकर उससे शादी कर ली और उन्हें पटरानी पद से विभूषित किया। राजा श्रेणिक बौद्धधर्मी था इसलिए जिनधर्म की निंदा करता रहता था किंतु रानी उन्हें जैनधर्मी बनाने का भरसक प्रयास करती थी किंतु राजा अपनी जिद में रहता था। एक दिन राजा ने चेलना को बौद्ध धर्म ग्रहण करने का बहुत प्रयत्न किया पर उसने जैनधर्म को नहीं छोड़ा। क्योंकि सभी धर्मों में जैनधर्म ही श्रेष्ठ है। धर्म दिखाने के लिये नहीं बल्कि अंतरंग का स्वभाव है। इसी जैन धर्म के द्वारा ही हम मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं।

एक दिन राजा ने रानी की परीक्षा हेतु बौद्ध गुरुओं को आमंत्रित किया। बौद्ध गुरु बोले मैं अंतर्यामी हूँ। रानी ने कहा-स्वामी जी आपका कहना ठीक है कल आप लोग हमारे घर पर भोजन कीजिए। दूसरे दिन चेलना ने दासी से बौद्ध साधुओं के एक एक जूते दासी से उठवा लिये और उन्हें पीसकर स्वादिष्ट भोजन में पका दिया। सभी बौद्ध साधुओं ने भोजन किया और भूरी-भूरी प्रशंसा की। जब वह जाने लगे तब उन्हें अपने जूते नहीं दिखे। तब उन्होने रानी से पूछा-रानी ने कहा स्वामी जी आप तो अंतर्यामी है, आप ही बताइए जूते कहाँ गये? फिर रानी ने कहा- आप सब लोग जूते भोजन के साथ खा गये। अगर विश्वास नहीं होता है तो आप वमन करके देख लीजिये। जब वमन की तो उसमें जूते के टुकड़ों को देखकर काफी लज्जित हुए। इसी प्रकार बौद्ध साधु ने कहा-हम विष्णु भवन में रहते है तब चेलना ने उनकी परीक्षा हेतु मण्ड़प में आग लगवा दी, जिससे बौद्ध साधु जान बचाने हेतु भाग खड़े हुए। यह देखकर राजा को बड़ा क्रोध आया और दिन-रात जैन साधुओं से बदला लेने की सोचता रहा।

एक दिन राजा श्रेणिक शिकार हेतु जंगल में जा रहे थे, मार्ग में उन्हें दिगंबर साधु मिल गये। तब राजा उनसे बदला लेने हेतु आतुर हुआ। मुनिराज तो अपनी साधना में लीन थे, ऐसा देखकर उसने उनके ऊपर शिकारी कुत्ते छोड़े। शिकारी कुत्ते मुनिराज के ऊपर इस कदर टूटे जैसे कोई बरसों का भूखा हो किंतु मुनिराज के सामने जाने से वह शाँत होकर बैठ गये। इससे राजा बौखला गया और क्रोधित होकर मुनिराज के गले में मरा हुआ सांप डाला। इस कुकृत्य से राजा को उसी समय सातवें नरक की आयु का बंध हो गया। तीन दिन तक मुनिराज के गले में वह सर्प पड़ा रहा। चौथे दिन राजा ने रात्रि में रानी से कहा कि मैंने तुम्हारे मुनि के गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया है और अब तक तो वह जंगल से भाग गये होंगे। रानी ने राजा से कहा-हे राजन् यह तुमने क्या कर डाला? हाय, हाय तुमने यह कृत्य करके अपने को दुर्गति में डाल दिया। वह अहिंसा के पुजारी है वह कभी भी ऐसा कार्य नहीं करेगे अगर विश्वास नहीं होता है तो चलो चलकर देख लीजिए।

राजा-रानी दोनों ही रात्रि में जंगल की ओर जाते हैं। जाकर देखा कि मुनिराज तो अपनी साधना में लीन हैं और चीटियों नें उन पर भयंकर उपसर्ग कर रखा है। तब चेलना ने फौरन एक कोने में शक्कर डालकर चीटियों को अलग करके अपने हाथों से सर्प को निकाला। चींटियों ने मुनिराज यशोधर की काया को अपने दंश से खोखला कर दिया था। रानी चेलना ने मुलायम वस्त्र के द्वारा चीटियों को सावधानी से हटाया तथा उष्ण जल में भिगोकर मुनिराज के घाव धोए। पीड़ा का शमन करने के लिए चंदन का लेप कर दिया, जिससे घाव से उत्पन्न दाह दूर हो जाए। इसके पश्चात् वह राजदंपति मुनिराज के चरणों में श्रद्धा के साथ नमस्कार कर उनके समीप बैठ गया। उस समय रात्रि का समय था जैन मुनि रात्रि में कुछ नहीं बोलते हैं इसलिए राजा-रानी प्रात: का इंतजार करने लगे। मुनिराज से इस कृत्य की बार-बार क्षमा याचना की। जब मुनिराज ध्यान से उठे

तब उन्होने दोनो को धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया। जैसे ही मुनिराज ने धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया तो राजा की आँखों से पश्चाताप के आँसू बहने लगे और अपने कृत्य की क्षमा याचना करने लगा। मुनिराज की स्तुति करते हुये कहा- हे तीन लोक के नाथ, आप तो साक्षात् परमेश्वर हो, मैंने अज्ञानतावश जिनधर्म की बड़ी निंदा की है, आपने ना तो रानी को जिनधर्मी मानकर उसे विशेष आशीष दिया और ना ही मुझ अज्ञानी को आपने श्राप दिया। धन्य है! मुनिवर जो आपकी नजरों में, न राग है न द्वेष है। देखो यह कैसी कर्मों की विचित्र है जो पल भर में परिणाम बदल गये और राजा जिनधर्म का सच्चा प्रेमी बन गया। अगर आज की रानी चेलना होती तो वह रात तो क्या दिन में भी जाकर रक्षा नहीं कर पाती? किंतु रानी चेलना ने किसी भी प्रकार की चिंता नहीं की और चली गई उपसर्ग निवारण हेतु।

महाराज श्रेणिक का वृतांत अब तक देवों के पास पहुँच चुका था। तब एक दिन इन्द्र देवताओं की सभा में कहने लगे "हे देवगण! वर्तमान में आर्यावर्त में महाराज श्रेणिक राज्य कर रहे हैं, जो अनमोल सम्यक्दर्शन के धारी हैं। उनका सम्यक्दर्शन इतना स्पष्ट एवं प्रखर है कि उनकी तुलना में संसार में कोई उदाहरण मिलना असंभव है। यदि उनकी तुलना एक विशाल वृक्ष से की जाए तो भी अतिश्योक्ति नहीं है। मिथ्यादर्शन रूपी गजराज उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। यदि उनका सम्यक्दर्शन रूपी वह वृक्ष महान् शास्त्र के समान सुदृढ़ जड़ की समता रखता है तो उसे कुसंग रूपी कुल्हाड़ी काटने में असहाय सिद्ध होती है तथा कुशास्त्र रूपी समीर के सामने वह जड़ अटल बनी रहती है। उनके सम्यक्दर्शन रूपी विशाल वृक्ष की दृढ़ जड़ शास्त्र रूपी जल से सिंचित होने के कारण किसी के द्वारा छिन्न-भिन्न नहीं हो सकती।

जिस समय देवेन्द्र ने महाराज श्रेणिक के सम्यक्दर्शन की प्रशंसा की, उस समय देवताओं की मण्डली आश्चर्य प्रगट करने लगी। उनमें से दो देवों ने परीक्षा लेने का विचार किया। वे बार-बार अपने मन में विचारने लगे कि भला देवेन्द्र स्वयं बढ़कर एक मनुष्य की प्रशंसा करें? यह असंभव है, किसी मनुष्य में इतना चमत्कार आ ही नहीं सकता। इस प्रकार विचार करते हुए दोनों देवों ने महाराज श्रेणिक की परीक्षा करने के लिए स्वयं पृथ्वी पर जाने का निर्णय लिया।

एक देव ने हाथ में कमण्डल लेकर निर्ग्रंथ मुनि का वेष धारण कर लिया जबकि दूसरे देव ने गर्भवती आर्यिका का रूप धारण किया। जिस मार्ग पर राजा श्रेणिक प्रतिदिन आते-जाते थे उसी के समीप एक सरोवर से उक्त मुनि मछलियों को पकड़-पकड़कर कमण्डल में रखता जाता था। छद्मवेशी आर्यिका समीप में बैठी हुई थी। कुछ समय बाद प्रतिदिन की भाँति राजा की सवारी अश्वारूढ़ होकर उस मार्ग से निकली, जहाँ मुनि आर्यिका बैठे हुए थे। सरोवर के निकट मुनि को मत्स्य आखेट में तल्लीन देखकर वे अश्व से उतरकर उनके निकट गये तथा नमस्कार करके कहने लगे-"हे मुनिवर आप भला यह क्या कर रहे हैं? कहाँ पवित्र मुनिवेष, फिर कहाँ यह हिंसा का कर्म? भला लोग क्या कहेंगे? क्या ऐसे वेष में इस प्रकार का घृणित कर्म करना उचित

है? उस मायावी देव ने उत्तर दिया–"हे नरनाथ! यह आर्यिका गर्भवती है मैं इसके दोहले हेतु मत्स्य आखेट कर रहा हूँ। आप निश्चित समझे की इस कार्य में मैं लेश मात्र दोषी नहीं हूँ।" महाराज ने आश्चर्य प्रगट करते हुए कहा– "आपने तो इस दुष्कर्म द्वारा मुनिवेष पर कलंक का टीका लगा दिया है? क्या किसी भी मुनि के द्वारा ऐसा दुष्कर्म श्लाघनीय है? मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि इस घोर दुष्कर्म से अपने पवित्र व्रत की रक्षा करें"। उस कपटी मुनि ने विन्रम शब्दों में कहा–'हे राजन्! इस घोर जंगल में अकस्मात् इस आर्यिका से मेरा परिचय हो गया है। यह गर्भणी है, इसने मत्स्य खाने की कामना प्रगट की है। ऐसी अवस्था में मैंने इसकी इच्छा पूर्ण करना उचित समझा है। जब यह मेरे संग है तब इसकी इच्छा की पूर्ति करना मेरा कर्त्तव्य है। अब मैं इसका संग त्याग भी नहीं सकता हूँ ऐसी अवस्था में अब आप ही बताईये मैं क्या करूँ?

महाराज श्रेणिक ने कहा– ''मैं आपकी सारी गाथा सुन चुका हूँ किंतु यदि आप मेरा परामर्श माने तो मैं यही कहूँगा कि आपने इस समय जैसा वेष धारण किया है, कम से कम उसकी लाज तो रख लीजिये?आपका वेष देखकर मनुष्य यहीं समझेगा कि आप निर्ग्रंथ महामुनिराज हैं। किंतु ऐसा करने से उस पवित्र भावना का लोप हो जाएगा जिससे धर्म भावना का उदय होता है।अत: आप मुनि के वेष में इस प्रकार का दुष्कर्म न करें"। महाराज श्रेणिक के युक्ति युक्त वचन सुनकर छद्मवेषी मुनि ने कहा–'हे महाराज! क्या आप समझते हैं कि एक मात्र मैं ही इस प्रकार का दुष्कर्म कर रहा हूँ? यदि आप समस्त मुनियों तथा आर्यिकाओं के चारित्र का अन्वेषण करायें तो उन्हें भी मेरे समान ही अशुभ कार्यों के संपादन में संलग्न पाइयेगा। इस संसार में निर्दोष भला कौन है? सच ही कहा है–"जाके पग नहिं फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई''। हे! राजन् पादुका संकुचन काटने का दर्द तो पग ही जानता है। बांझ स्त्री प्रसव काल की वेदना का अनुभव स्वप्न में भी नहीं कर सकती। इधर पक्षियों के प्राण संकट में हैं, उधर बालकों का मनोविनोद हो रहा है ऐसे समय यदि आप हमारा परिहास नहीं उड़ायेंगे तो भला अन्य कौन उड़ायेगा? उसके ऐसे वचन सुनकर महाराज श्रेणिक क्रोधित होकर कहने लगे –"तेरे दया रहित कार्य से प्रतीत होता है कि तू वास्तव में मुनि के भेष में कोई भ्रष्ट चारित्र वाला अथवा नीच, महामूर्ख जान पड़ता है। क्या कोई भी सम्यक्दर्शनधारी मनुष्य इस प्रकार का निंद्य कार्य कर सकता है, जैसा तुमने किया हैं? कपटी मुनि ने गीदड़ भभकी देते हुए कहा–'हाँ, मैंने जो कुछ बातें कही हैं, वे सोलह आने सच हैं? क्या मैं तुमसे जिज्ञासा कर सकता हूँ कि मुनियों को कठोर शब्दों से संबोधित करना कहां का न्याय धर्म है? मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि यह तुमने धर्म विरूद्ध आचरण कैसे किया? तुम्हारे मर्मभेदी व्यंग्यपूर्ण कटु वचन मेरे हृदय को शूल के समान बेध रहे हैं। क्या तुम जैनधर्म के अनुयायी हो? क्या जैनधर्म का यही सिद्धांत है कि उसका अनुयायी तपस्वी मुनियों के चित्त में अपने कुटिल व्यंग्य द्वारा दुख उत्पन्न करें? महाराज श्रेणिक ने कहा–'तुम्हारे कर्म से यह स्पष्ट हो गया कि तुम्हारे अंदर संवेगादि गुणों के अभाव में सम्यक्दर्शन का सर्वथा विलोप हो गया है। संसार में जितने भी बुद्धिमान, नीतिज्ञ, योगी तथा शास्त्रों के ज्ञाता

हैं वे तुम्हारे समान निंदनीय कर्म कदापि नहीं करते हैं। अत: उनमें तुम्हारी गणना नहीं हो सकती है। क्या तुमने चित्त में इस दुष्कर्म के प्रति लेशमात्र भी विचार किया है कि इन दुराचरणों के कारण पवित्र अहिंसामयी जैन सिद्धांत के ऊपर कुठाराघात होगा ? उसकी कल्पना मात्र से हमारा सर्वांग काँप उठता है अत: तुम अपने कर्म का दण्ड अवश्य भोगोगे। कम से कम तुम इस समय तो पाप से बचो। क्या कोई मुनि तुम्हारे समान कटु भाषण करने वाला सच्चा मुनि हो सकता है? अब इस पाप कर्म को त्याग कर पुण्य के भागी बनों। यदि तुम मेरे कथन पर अमल करोगे तो मैं तुम्हारी सारी मनोकामनाएँ पूर्ण करा दूंगा। अगर तुमने मेरी आज्ञा के पालन में चीं-चपट की तो मैं तुम्हें गधे पर बिठाकर सारे राज्य में घुमवाकर दण्डित करूँगा"। तब वे दोनों छद्मवेषी देव महाराज श्रेणिक के साथ राजमहल में आ गये।

महाराज श्रेणिक ने दोनों को अपने राजमहल में ठहराया। राजा के मंत्रियों ने देखा कि महाराज चारित्र भ्रष्ट मुनि को लाये हैं तो उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। वे महाराज से कहने लगे-"हे दयानिधे! आप क्षायिक सम्यक्दृष्टि धारी हैं। आपका ऐसे चारित्र भ्रष्ट मुनि-आर्यिका के साथ कैसे संयोग हो रहा है? आप कृपा करके इनका संग त्याग दीजिए। आपने ऐसे पतितों को नमस्कार करके अपने सम्यक्दर्शन में अतिचार लगा लिया है"। महाराज श्रेणिक ने मंत्रियों के युक्तियुक्त वचन सुनकर कहा-**'हे मंत्रिवर! मैंने नमस्कार इनके दुश्चरित्र को नहीं किया है केवल साधु वेष को किया है। इससे मेरे सम्यक्दर्शन में किसी प्रकार का अतिचार नहीं लगेगा। वेष में दोष नहीं होता है, हाँ आचार में कदाचित् दोष हो सकता है। अत: मैं इन्हें नमस्कार करने पर भी निर्दोष हूँ।'** उसी समय दोनो कपट वेषधारी देव समझ गये कि महाराज श्रेणिक यथा नाम तथा गुण हैं। देवेन्द्र ने इनकी जैसी प्रशंसा की थी वह एक दम सत्य है। इस प्रकार विचार कर दोनों देवों ने वास्तविक वेष में प्रगट होकर महाराज श्रेणिक तथा रानी चेलना के चरणों में भक्ति-भाव से नमस्कार किया एवं राज-दंपति को सुवर्ण सिंहासन पर विराजमान कर गंगा जल से अभिषेक कर उनकी विधिवत् पूजा की।

सम्यदर्शन का अगाध महत्व है सम्यदर्शन मोक्षकामूल है तो तीर्थंकर प्रकृति का प्रथम सोपान है तीर्थकर प्रकृति का बंध ''वसुधैव कुटुम्बकम की भावना'' अर्थात प्राणी मात्र के कल्याण की भावना से होता है।

इस प्रकार सम्यक्दर्शन के साथ जो लोक कल्याण की भावना होती है उसे दर्शन विशुद्धि भावना कहते हैं -

दर्शन शुद्ध न होवत जो लग, तो लग जीव मिथ्यात्वी कहावे।
काल अनंत फिरे भव में, महादु:खन को कहुँ पार न पावे॥

दोष पचीस रहित गुण अम्बुधि, सम्यक्दर्शन शुद्ध ठरावे।
ज्ञान कहयो नर सोहि बड़ो, मिथ्यात्व तजे जिन मारग ध्यावे॥

सम्यक्दर्शन का लक्षण बताते हुए आचार्यों ने कहा है –

नास्त्यर्हत परो देवो धर्मो नास्ति दयां विना।
तपः परं न नैर्ग्रंथ्यंदेतत् सम्यक्त्वलक्षणं॥

अर्थात् अर्हन्त देव से परे कोई देव नहीं है दया समान कोई धर्म नहीं है निर्ग्रंथता समान कोई तप नहीं है इस प्रकार इनमें दृढ़ श्रद्धान होना ही व्यवहार सम्यक्त्व कहा है।

'धर्मामृत' ग्रन्थ में आचार्य जयसेन महाराज ने सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन करते हुये लिखा है– बिना सम्यग्दर्शन के मनुष्य की शोभा नहीं है। जिस प्रकार सेना हो, किन्तु सेनापति न हो तो सेना शोभा रहित होती है। शक्ति बिना शरीर की शोभा नहीं होती, जड़ बिना वृक्ष की शोभा नहीं होती, जल के बिना कुँए की शोभा नहीं होती, आँख के बिना मुख की शोभा नहीं होती, जिस प्रकार बिना धुरी के गाड़ी चलने में समर्थ नहीं होती, बिना तेल के जिस प्रकार दीपक प्रकाश नहीं देता, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत के मानवों की शोभा सम्यग्दर्शन के बिना नहीं है।

सम्यग्दर्शन नाव के समान है। उसका आश्रय छोड़कर जो जीव केवल चारित्र पालता है, वह मुक्त नहीं होता। जैसे नौका का आश्रय छोड़कर नदी को पार नहीं किया जा सकता।

इस जगत में सम्यक्त्व के समान और कोई गुण नहीं है। इसको प्राप्त करके मनुष्य संसार का विनाश करता है। सम्यग्दर्शन के बिना कदापि मुक्ति नहीं हो सकती। सम्यक्त्व–रहित जीव चारित्र के बल से नव ग्रैवेयक तक जाता है, परन्तु वह भव–भ्रमण से पार नहीं हो पाता।

पाप के वशीभूत होकर जीव संसार में परिभ्रमण करते हुये स्व और पर का ज्ञान करने का अवसर प्राप्त न होने के कारण अभी तक निजात्म–सुख का उपाय ढूँढ़ रहे हैं, जो कि उन्हें प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिये जो भव्य जीव चतुर्गतिक पाप से मुक्त होकर, सुख के सागर मोक्षरूपी वैभव को प्राप्त कर सदा सुखमय रहना चाहता है, ऐसे भव्य जीव को परम आदर के साथ शुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेना चाहिये। आचार्य शुभचन्द्र महाराज ने लिखा है –

सद्दर्शन महारत्नं विश्वलोकैक भूषणम्।
मुक्ति–पर्यन्त कल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितम्॥

यह सम्यग्दर्शन महारत्न, समस्त लोक का आभूषण है और मोक्ष होने पर्यन्त आत्मा को कल्याण देने वाला चतुर है।

अत्यल्पमणि सूत्रज्ञैर्दृष्टि पूर्व यमादिकम्।
प्रणीतं भवसम्भूतक्लेश प्राभार भेषजम्॥

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' ग्रंथ में लिखा है -

सम्यक्त्व सब रत्नों में महारत्न है, सब योगों में उत्तम योग है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है। अधिक क्या ? सम्यक्त्व ही सब ऋद्धियों को करने वाला है। सभी शास्त्रों में सम्यग्दर्शन की महिमा गायी गई है-

वस्तुत: सम्यग्दर्शन वह पारसमणि है जिसके संसर्ग से लोहतुल्य भी ज्ञान और चारित्र स्वर्णवत् सम्यक्त्वपने को प्राप्त हो जाते हैं। (पंचाध्यायी)

जिस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, मिथ्याज्ञान और चारित्र, मिथ्याचारित्र हुआ करता है तथा प्राप्त हुआ मनुष्यजन्म भी अप्राप्त हुये के समान है। ऐसा सुख का स्थानभूत, मोक्षरूपी वृक्ष का अद्वितीय बीज तथा समस्त दोषों से रहित सम्यग्दर्शन जयवन्त हो। (पं.प.वि.)

समस्त उपायों से, जिस प्रकार भी बन सके वैसे, सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। इसके प्राप्त होने पर अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त होता है और इसके बिना सर्वथा मोक्ष नहीं होता। यह, आत्म स्वरूप की प्राप्ति का अद्वितीय कारण है, अत: इसे अंगीकार करने में किंचित मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिये।

(पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)

सम्यग्दर्शन को जब यह जीव प्राप्त हो जाता है, तब परम सुखी हो जाता है और जब तक उसे प्राप्त नहीं करता है, तब तक दु:खी बना रहता है। (र.सा.)

सम्यग्दर्शन आठ अंगों सहित (नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना) तीन मूढ़ता रहित (लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता और गुरु मूढ़ता), आठ गर्व रहित (ज्ञान गर्व, पूजा गर्व, कुल वर्ग, जाति गर्व, बल गर्व, ऋद्धि गर्व, तप गर्व और शरीर गर्व) तथा सात प्रकार के भयों (इहलोक, परलोक, मरण, वेदना, अगुप्ति, अरक्षा, आकस्मिक) से रहित जो पालन करता है, वही सर्वश्रेष्ठ एवं विशुद्ध कहा गया है। वही दर्शन विशुद्धि है। दर्शन विशुद्धि मात्र सम्यग्दर्शन नहीं; दृष्टि की निर्मलता का होना दर्शन विशुद्धि है और दृष्टि में निर्मलता आती है तत्त्व चिन्तन से। दर्शन विशुद्धि भावना और दर्शन में एक मौलिक अन्तर है - दर्शन विशुद्धि में केवल तत्त्व चिन्तन होता है किन्तु दर्शन में विषय चिन्तन भी सम्भव है। दर्शन विशुद्धि में सम्यग्दर्शन के साथ प्राणी मात्र के कल्याण की भावना का निरन्तर होना आवश्यक है। आचार्य ने आगम का उल्लेख करते हुए बताया है कि सोलह भावनाओं में समस्त, एक या दो भावनाओं से भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध संभव है लेकिन उनमें दर्शन विशुद्धि भावना होना अनिवार्य है।

******

2

विनय-सम्पन्नता भावना

दर्शन - ज्ञान - चारित्र - तपसां यत्र गौरवम्।
मनो-वाक्-काय-संशुद्धया साख्याता विनय-स्थितिः॥२॥

मन, वचन और कर्म की शुद्धि पूर्वक दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का जहाँ आदर किया जाता है वह विनय सम्पन्नता है।

अहंकार दुर्गति का कारण, सद्गति का नाशी।
निज के गुण को हरने वाला, दुर्गुण की राशी॥
मद की दम को दमन करें जो, बनकर श्रद्धानी।
नम्र भाव धारण करते हैं, जग में सद्ज्ञानी॥
उच्च गोत्र का कारण बन्धु, मृदुल भाव गाया।
पुण्य पुरुष होता है जिसने, विनय भाव पाया॥
'विशद' विनय सम्पन्न भावना, भाव सहित गाये।
तीर्थंकर सा पद पाकर के, सिद्ध शिला जाये॥

परम पूज्य आचार्य गुरुवर सोलहकारण भावना के दूसरे काव्य का विवेचन करते हुए कह रहे हैं कि जीवन को सही दिशा देने वाली दृष्टि प्राप्त करना बहुत दुर्लभ है।

हम सभी अपने जीवन को अच्छा बनाने की प्रक्रिया पर विचार कर रहे हैं। हमारा प्रयास है हम अपने शेष जीवन को सही दिशा दें। जीवन को सही दिशा देने वाली दृष्टि प्राप्त करना बहुत दुर्लभ है। सही दृष्टि मिलने पर ही हमारा ज्ञान और हमारा आचरण ठीक हो पाता है। सही दृष्टि या दृष्टि की निर्मलता ही जीवन को सही बनाने की दिशा में रखा गया पहला कदम है। जीवन की ऊँचाई छूने के लिए यही पहली सीढ़ी है। सही दृष्टि पाने के लिए सच्चे देव, गुरु और शास्त्र की शरण हमने स्वीकार की है। यही हमारे आदर्श हैं। यही हमारे मार्गदर्शक भी हैं। हमने सच्चे देव उन्हें माना है जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं। यानी जो समस्त विकारों से मुक्त हैं, जो पूर्णज्ञानी हैं और जिनकी वाणी सबके लिए हितकारी है। सच्चे देव के द्वारा बताए गए वीतराग-मार्ग पर चलने वाले, पापों से रहित आचरण करने वाले और ज्ञान-ध्यान में लीन निर्ग्रंथ साधुजन

हमारे गुरु है। सच्चे देव की सर्वकल्याण आत्म-ज्ञान से परिपूर्ण वाणी से समन्वित ग्रन्थ ही हमारे शास्त्र हैं। इन सबके प्रति हमारी श्रद्धा, हमारा समर्पण (डेडिकेशन) हमें सही दिशा, सही दृष्टि देने वाला है।

सही दृष्टि के मायने हैं आत्मदृष्टि। एक ऐसी दृष्टि हमें प्राप्त हो जाए जिसके द्वारा हमें प्राणी मात्र के भीतर आत्मतत्त्व की मौजूदगी का भान हो जाए। ऐसा भाव उत्पन्न हो अंतरंग में कि मैं अपने 'आत्म-तत्त्व' के विकास के साथ-साथ सभी जीवों के आत्म-विकास में सहयोगी बनूँ। इसे ही कहते हैं दर्शन-विशुद्धि या निर्मल दृष्टि। इस बात का हमने कल विचार किया था।

अब आती है दूसरी भावना, विनय -सम्पन्नता। विनय के मायने हैं-नम्रता। विनय के मायने हैं - पूज्य पुरुषों के प्रति आदर या सम्मान का भाव, उनकी सेवा-सुश्रूषा और सत्कार का भाव। आचार्य भगवन्त कहते हैं कि इन्द्रियों पर विजय पाना, कषायों को जीतना और जिनवाणी के अनुकूल आचरण करना विनय-सम्पन्नता है। यही वास्तविक विनय है। वैसे संसार में विनय के अनेक रूप देखने में आते हैं। लौकिक और पारलौकिक। दोनों तरह की विनय के अनेक रूप देखने में आते हैं। लौकिक और परलौकिक दोनों तरह की विनय हैं। लौकिक-विनय चार प्रकार की है-लोकानुवृत्ति-विनय, अर्थनिमित्तक-विनय, विषयनिमित्तक-विनय और भयविषयक-विनय। लौकिक विनय परिजनों के प्रति यथायोग्य सम्मान करना देश-काल के अनुरूप धन-सम्पत्ति आदि देना, अनुकूल वचन बोलना, अपनी सामर्थ्य व स्थिति के अनुरूप लोक व्यवहार निभाना, यानी आसन से उठकर खड़े हो जाना, हाथ जोड़ना, आसन देना, पाहुणगति करना आदि लोकानुवृत्ति-विनय हैं। अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए स्वार्थवश हाथ जोड़ना आदि अर्थविषयक-विनय कहलाती है। भौतिक सुख-सुविधा के संसाधनों की पूर्ति और इन्द्रिय-सुखों की प्राप्ति के लिए की जाने वाली विनय को विषयनिमित्तक-विनय कहते हैं। भय के वशीभूत होकर या दबाव में आकार झुकना, हाथ जोड़ना आदि भयविषयक-विनय है।

यह चारों प्रकार की जो लौकिक-विनय है वह संसार को बढ़ाने वाली है। ऐसी विनय तो संसार में अधिकांश जीव धारण कर लेते हैं। पर जो संसार से पार लगाने वाली पारलौकिक-विनय है वह दुर्लभ है। रत्नत्रय और रत्नत्रयधारी का यथोचित सत्कार एवं सेवा-सुश्रूषा, इन्द्रिय-विजय, कषायों का शमन और शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति, यह है पारलौकिक-विनय। ऐसी विनय ही मोक्षमार्ग में, आत्म-विकास में सहयोगी है।

विनय का व्युत्पत्ति अर्थ देखें तो विनय का वास्तविक रूप स्पष्ट हो जाता है। **अपनयति विनयति इति या विनयः** 'जो बुरे कर्मों को दूर करे वह विनय है।' अथवा वि+नयति विशेषण 'नयति इति विनयः' जो स्वर्ग व मोक्ष रूप विशेष अभ्युदय को प्राप्त कराए वह सच्ची विनय है। पूज्य पुरुषों का अनादर, इन्द्रिय विषयों में लोलुपता, शास्त्र के प्रतिकूल आचरण और तीव्र कषाय-भाव होना ये सब बुरे कर्म हैं। इन बुरे कर्मों से दूर रहना या दुर्गुणों से बचना ही सच्ची विनय है।

विनय-सम्पन्न व्यक्ति का जीवन सदा सद्‌गुणों से युक्त रहता है और ऊँचे उठ जाता है। आचार्य महाराज कहते हैं कि 'उच्चैर्गोत्रं प्रणते'। हम जितने झुकते हैं विनयवान होते हैं उतने ही ऊँचे उठ जाते हैं। उतने ही सद्‌गुणों से भर जाते हैं। घड़ा नदी में पड़ा रहे तो जल से भर जाता है उसी प्रकार गुणों से भर सकते हैं यदि हम झुकें तो। झुकने से या विनय-भाव धारण करने से गुणग्राहकता (रिसेप्टिविटी) आती है। सबके भीतर आत्मतत्त्व विद्यमान है और वह आत्मतत्त्व तो गुणों का भण्डार है इसलिए उन गुणों का ग्रहण करने का भाव जाग्रत होने लगे, यही तो विनय-सम्पन्नता है।

नीतिकारों ने लिखा है- 'यो यस्य न जानाति स तस्य निन्दां करोति'। जो जिसे नहीं जानता वही उसकी निन्दा करता है। जो जानने लगेगा वह निन्दा नहीं कर सकता। वह तो सहानुभूति रखेगा। वह तो उसके गुणों को ग्रहण करेगा। निन्दा करना, बुराई देखना यह अज्ञानता का प्रतीक है। जो ज्ञानवान होगा वह प्रशंसा करेगा, अच्छाई देखेगा। गुण देखने के लिए चाहिए निर्मल दृष्टि और गुण-ग्रहण करने के लिए आवश्यक है विनय-सम्पन्नता।

आचार्यों ने लिखा है कि विनय से आर्यता आती है, कुलीनता आती है अर्थात् उत्तम कुल और उत्तम गुणों से युक्त मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, विनय से तो अर्हत्-सम्पदा भी प्राप्त होती है अर्थात् जिनलिंग की प्राप्ति होती है।

असल में, विनय के द्वारा हमारी शक्ति का केन्द्रीयकरण होता है। हमारी ऊर्जा का अपव्यय नहीं हो पाता और हम नष्ट होने से बच जाते हैं। हम सबने बाँस का वृक्ष तो देखा ही है। जब आँधी, पानी, तूफान आता है तब बाँस का वृक्ष पूरा जमीन की ओर झुक जाता है। ऐसा लगने लगता है कि मानो नष्ट हो गया हो। लेकिन जैसे ही आँधी-तूफान रुकता है वह पुनः यथावत् स्थिर हो जाता है। आँधी-तूफान भी उसे नष्ट नहीं कर पाते। उसके आस-पास उगे बड़े-बड़े वृक्ष धराशायी हो जाते हैं। जो झुक नहीं पाता वह टूट जाता है या उखड़ जाता है और जो झुक जाता है वह बच जाता है। बाँस का झुका हुआ वृक्ष विनय का प्रतीक है। हम भी यदि झुकना जानते हैं तो हमारा जीवन नष्ट होने से बच जाता है।

एक दार्शनिक हुए हैं कम्फ्यूशियस। एक दिन एक राह चलते व्यक्ति ने उनसे पूछा कि झुकने से क्या होता है? उन्होने अपना मुख खोलकर कहा कि इसमें झाँको। वह व्यक्ति बड़े असमंजस्य में पड़ गया। कन्फ्यूशियस ने हँसकर कहा-भाई तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दे रहा हूँ झाँककर तो देखो। उस व्यक्ति ने जैसे ही झाँककर देखा, दार्शनिक ने पूछा कि क्या दिख रहा है? व्यक्ति ने कहा कि दाँत तो एक भी नहीं बचा, अकेली जीभ दिख रही है आपके मुख में। दार्शनिक ने कहा-अच्छा बताइए पहले कौन आता है दाँत या जीभ। व्यक्ति ने कहा-इसमें क्या पूछना यह तो सभी जानते हैं कि दाँत बाद में आते हैं और जीभ तो जन्म से ही रहती है। कन्फ्यूशियस ने हँसकर कहा कि लीजिए, आपका उत्तर मिल गया। दाँत बाद में आए लेकिन पहले ही टूट गए;

क्योंकि उन्हें झुकना नहीं आता, उनमें कठोरता है। जीभ में लचीलापन है, मृदुता है, वह झुकना जानती है इसलिए बची हुई है। यही झुकने का या विनय का महत्त्व है।

विनय करने से कोई छोटा नहीं होता। विनय करने वाला सदा बड़ा ही माना जाता है। बच्चन ने लिखा है कि जो आपसे झुककर मिला होगा मानिए वह आपसे बड़ा रहा होगा। अब्राहिम लिंकन के जीवन का एक प्रेरक-प्रसंग मैनें पढ़ा था। मुझे अच्छा लगा। वे रास्ते से गुजरते वक्त सामान्य राहगीर के द्वारा प्रणाम करने पर अपना हैट उतारकर और झुककर उसके प्रणाम का जवाब देते थे। जो लोग साथ में चलते थे उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता था। एक दिन किसी ने उनसे कहा कि आप इतने बड़े पद पर आसीन हैं आपको इस तरह सामान्य व्यक्ति के सामने झुकना शोभा नहीं देता। अब्राहिम लिंकन ने कहा कि भाई! व्यक्ति तो गुणों से महान् होता है और विनय भी एक गुण है। क्या आप चाहते हैं मुझमें वह विनय-गुण न रहे। मैं अगर आपकी दृष्टि में बड़ा और महान् हूँ तब मुझमें विनय-गुण ज्यादा होना चाहिए। इसमें यह स्पष्ट होता है कि जो जितना विनयवान है वह उतना ही गुणवान और महान है।

देव तथा गुरुराय तथा तप संयम शील व्रतादिक धारी।
पाप के हारक काम के छारक शल्य निवारक कर्म निवारी॥
धर्म की धीर कषाय के भेदक पंच प्रकार संसार के तारी।
ज्ञान कहे विनयो सुखकारक, भाव धरो मन राखो विचारी॥

मोक्षमार्ग में आचार्य भगवन्तों ने पाँच प्रकार की विनय कही है - दर्शन-विनय, ज्ञान-विनय, (जिन-आगम) चारित्र-विनय, तप-विनय और उपचार-विनय। सम्यग्दर्शन में कारणभूत जो नौ देवता हैं; यानी अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनबिंब, जिनालय व जिनधर्म - इस तरह इन के प्रति श्रद्धा रखना, इनके गुणों के प्रति अनुराग होना, इनकी पूजा-अर्चना करना, इनके गुणों का स्मरण करना, नमस्कार आदि करना, इनकी महिमा प्रकट करना, किसी के द्वारा ईर्ष्यावश इन पर कोई मिथ्यादोष लगाया जाए तो उसे हटाना, इनकी कभी अविनय न हो ऐसा सदा प्रयत्न करते रहना और स्वयं निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की भावना रखना, यह सब दर्शन-विनय है।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी के चरणों में बैठें तो वे अष्टपाहुड नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि दर्शन के मायने हैं रत्नत्रय से युक्त यथावत निर्विकार रूप। इसलिए यथाजात निर्ग्रन्थ मुद्रा की विनय करना ही दर्शन-विनय है। जो सहज यथाजात रूप को देखकर उसकी विनय नहीं करता, उस रूप से ईर्ष्या व द्वेष रखता है वह मिथ्यादृष्टि है। उसके दर्शन-विनय होना संभव ही नहीं है। हमें विचार करना चाहिए, आत्मावलोकन करना चाहिए और देखना चाहिए अपने ही अंतरंग में झाँककर कि ऐसी दर्शन-विनय हमारे भीतर है या नहीं। हमें सदा सच्ची श्रद्धा और श्रद्धावान जीवों के प्रति आदर-भाव रखना चाहिए।

अब आती है ज्ञान-विनय। बहुत आदर के साथ मोक्ष के कारणभूत सम्यग्ज्ञान को यथाशक्ति ग्रहण करना, निरन्तर सम्यग्ज्ञान का अभ्यास करना, उसका स्मरण करना आदि ज्ञान-विनय है। आचार्यों ने यह भी कहा है कि आलस्य रहित होकर देश, काल और भावों की शुद्धिपूर्वक, सम्यग्ज्ञान के प्रति, सम्यग्ज्ञान के उपकरण यानी शास्त्र आदि के प्रति और सम्यग्ज्ञान को धारण करने वाले ज्ञानवान पुरुषों के प्रति भक्ति-भाव रखना, उनके अनुकूल आचरण करना-यह है ज्ञान-विनय। मात्र शास्त्रजी की आरती उतारने या पूजा कर लेने से काम नहीं चलेगा। वास्तव में, हमें शास्त्र के प्रति आदर-भाव रखते हुए उसमें कही गई हमारे आत्म-विकास में सहायक बातों को पढ़ना, उनका चिन्तवन करना और उसी के अनुरूप न्याय-नीतिपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए तभी आएगी ज्ञान-विनय।

आचार्य-भगवन्तों ने चारित्र-वृद्ध से ज्ञान-वृद्ध को अधिक श्रेष्ठ माना है। चारित्र और तप में अधिक न होते हुए भी सम्यग्ज्ञान रूपी गुण से ज्येष्ठ होने के कारण श्रुतज्ञान की विनय के उद्देश्य से ज्ञानवान-पुरुष विनय के योग्य है। यदि कोई चारित्र-गुण में अधिक होते हुए भी ज्ञानादि गुण की वृद्धि के लिए बहुश्रुतवान के पास वन्दना आदि क्रिया करता है तो कोई दोष नहीं है। दिल्ली-शास्त्री नगर, 2012 की बात है। हम लोग प्रात:काल की बेला में नित्य क्रियाओं से निवृत्त हुए थे। अचानक आचार्य ज्ञानभूषण महाराज जी का आगमन हुआ और वह सीधे कमरे में आ गए। हमने (आ. विशद सागर जी महाराज) कहा- महाराज हम भी आपकी श्रगवानी करने आने वाले थे किन्तु आप तो आ ही गये। तब उन्होंने कहा- अरे मिलना था सो जल्दी आ गये श्रगवानी किसकी करना? ऐसे सरल व्यक्ति भी मिलना बहुत मुश्किल होता है। दिल्ली में ही ऐलाचार्य अतिवीर सागर जी महाराज जी पूज्य आचार्य श्री से मिलने आए। आचार्य श्री उन्हें लेने गये और जब कमरे में गये नीचे पाटे पर बैठने लगे तो आचार्य श्री ने हाथ पकडकर अपने तख्त पर बैठाने की कोशिश की किन्तु वह बोले, आचार्य श्री मैं तो आपका शिष्य हूँ मैं आपके बराबर नहीं बैठ सकता। आचार्य श्री ने खूब कहा ऊपर बैठ जाओ किन्तु वह तो नीचे ही बैठे और वन्दना की। इस प्रकार के साधु मिलना भी बड़ा दुर्लभ काम है।

चारित्र-विनय किसे कहें? ऐसा पूछने पर आचार्य महाराज कहते हैं कि सम्यक्चारित्र का स्वयं पालन करना और चारित्रवान पुरुषों की विनय करना चारित्र-विनय है। पुराण-ग्रन्थों में महान्-आत्माओं, तीर्थंकर आदि के उत्कृष्ट चारित्र का वर्णन सुनकर रोमांचित हो जाना; उनके प्रति अंतरंग श्रद्धा-भक्ति प्रकट करने की भावना रखना, यह सब चारित्र-विनय कहलाती है।

अब हम तप-विनय को समझने का प्रयास करते हैं। तप के प्रति और तपस्या में अपने से बड़ों के प्रति भक्ति व आदर भाव रखना तप की विनय है। आचार्य महाराज कहते हैं कि यह तपस्वी अभी बालक हैं, यह तपस्वी वृद्ध हैं इस प्रकार का विचार नहीं करते हुए सब तपस्वीजनों के प्रति जो आदर-सम्मान आदि का भाव है उसे ही तप-विनय जानना चाहिए। जो तपस्या में अपने से छोटे हैं उनकी अवहेलना या अनादर का भाव मन में नहीं लाना, यह भी तप-विनय के अन्तर्गत आता है। घर-परिवार में, आस-पास में, पड़ौस में या समाज में

कोई विवेकपूर्वक कर्म निर्जरा की भावना से उपवास आदि तप करता है तो उसकी भी प्रशंसा करना, भले ही वह अपने से छोटा हो। मैंने यह गुण अपने आचार्य महाराज में स्पष्ट देखा है।

अब आती है उपचार-विनय। आचार्य आदि गुरुजनों को सामने आता देखकर उनके प्रति आदर-भाव व्यक्त करने के लिए उठकर खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना, नमस्कार करना आदि उपचार-विनय है। यह प्रत्यक्ष में की जाने वाली उपचार-विनय है। गुरुजनों को परोक्ष में भी अर्थात् उनके सम्मुख नहीं होने पर भी उन्हें वचन व मन से नमस्कार करना, उनके गुणों का कीर्तन करना, उनके गुणों का स्मरण करना। और जैसे सेवक, राजा की आज्ञा के अनुकूल सभी कार्य करता है, ऐसे ही रत्नत्रय के धारी गुरुओं के अनुरूप उनकी आज्ञा के अनुरूप प्रवृत्ति करना उपचार-विनय कहलाती है। इसके अन्य भेद निम्न प्रकार है -

लोक विनय - अभिमान छोड़कर आठ मदों का जिसके अत्यन्त अभाव हो गया है एवं कठोरता हटकर जिसमें कोमलता प्रगट हो गई है, उसके नम्रपना प्रकट होता है। तब ऐसा विचार होता है कि ये धन, यौवन, जीवन आदि क्षणभंगुर है। कर्म के अधीन है। कोई हमसे दु:खी न हो, सभी सम्बन्ध वियोग सहित हैं। यहाँ कितने समय तक रहना है? प्रति समय मृत्यु की ओर अखण्ड धाराप्रवाह रूप से जा रहा हूँ। किसी पदार्थ का सम्बन्ध स्थिर नहीं हैं। यहाँ भगवान ने मनुष्य जन्म का सार विनय धर्म को ही कहा है। यह विनय संसार रूपी वृक्ष को जलाने के लिए अग्नि है। यह विनय तीन लोक में प्रधान है। यह विनय तीन लोक के जीवों के मन को उज्जवल करने वाली है। विनय ही समस्त जिनशासन की मूल है। विनय रहित जीव को जिनेन्द्र देव की शिक्षा ग्रहण नहीं होती है। विनय रहित जीव सभी दोषों का पात्र है। मिथ्याश्रद्धान को छेदने के लिए विनय शूल है। विनय बिना मनुष्यरूप चमड़े का वृक्ष मानरूप अग्नि द्वारा भस्म हो जाता है। मान कषाय द्वारा यहीं पर घोर दु:ख सहता है तथा परलोक में निंद्यजाति, निंद्यकुल में बुद्धिहीन-बलहीन होकर उत्पन्न होता है। जो अभिमानी यहाँ किंचित्मात्र भी कष्ट नहीं सहते वे तिर्यञ्चगति में नाक में मूँज (रस्सी का बंधन), लादन, मारण, लात की ठोकरों की मार, भरण स्थान में चमड़े के कोडे की मार पराधीन होकर भोगते हैं तथा चांडाल आदि के मलिन घरों में बंधनों से बंधे रहते हैं। उनके ऊपर मैला आदि निंद्य वस्तुऐं लादते हैं। इस लोक में भी अभिमानी का समस्त लोक बैरी हो जाता है। अभिमानी की सभी निन्दा करते हैं। महान् अपयश प्रकट होता है। सभी लोग अभिमानी का पतन चाहते हैं। मान कषाय से क्रोध प्रगट होकर कपट फैलता है। लोभ बढ़ता है। खोटे वचन रूप प्रवृत्ति होती है। लोक में जितनी अनीतियाँ हैं वे सभी मान कषाय से होती हैं। परधन हरण आदि भी अपने अभिमान को पुष्ट करने को करता हैं। इस जीव का बड़ा बैरी मान कषाय है। अत: विनय गुण का बहुत आदर करके अपने दोनों लोक उज्जवल करो। देव, शास्त्र और गुरु की विनय मन, वचन और काय से प्रत्यक्ष करो और परोक्ष भी करो।

देवविनय - देव अर्थात् अर्हन्त भगवान, समवशरण की विभूति सहित, गंधकुटी के मध्य से सिंहासन के ऊपर चार अंगुल, अधर विराजमान, चौसठ चमर ढोरित, तीन छत्र-आठ प्रातिहार्य से विभूषित, कोटि सूर्य समान प्रभा के धारी, परम औदारिक शरीर से रहने वाले, बारह सभा से सेव्यमान, दिव्यध्वनि द्वारा अनेक भव्य जीवों का भला करने वाले, अरहंत का चिंतन-ध्यान करना, मन से उनकी परोक्ष विनय है। उनकी विनयपूर्वक वचनों द्वारा स्तुति करना, वचन से परोक्षविनय है। हाथों की अंजुलि जोड़कर मस्तक झुकाकर नमस्कार करना, तन से परोक्ष विनय है। जिनेन्द्र देव के प्रतिबिम्ब की परम शांत मुद्रा को प्रत्यक्ष नेत्रों से अवलोकन कर महा आनन्द से मन में ध्यान कर अपने को कृतकृत्य मानना वह मन से प्रत्यक्ष विनय है। जिनेन्द्र देव के प्रतिबिंब के सामने खड़े होकर स्तवन करना यह वचन से प्रत्यक्ष विनय है। हाथों की अंजुलि सहित हाथ, पैरों तथा मस्तक को झुकाकर नमस्कार करना काय से प्रत्यक्ष विनय है।

सर्वज्ञ, वीतराग जिनेन्द्र परमात्मा के नाम का स्मरण, ध्यान, वंदन, स्तवन आदि करना वह सब परोक्ष विनय है। देव की इस प्रकार की विनय सभी अशुभ कर्मों को नाश करने वाली है।

गुरुविनय - वीतरागी निर्ग्रन्थ मुनीश्वरों को प्रत्यक्ष देखकर खड़े हो जाना, आनंद सहित सन्मुख जाना, स्तवन करना, बराबर में चलना पड़े तो गुरू के बायीं तरफ चलना, गुरु को दाहिनी तरफ करके चलना, बैठना, गुरु के साथ रहते हुऐ स्वयं उपदेश नहीं देना, गुरु की आज्ञा होने पर अनुकूल उत्तर देना, गुरु के होते हुए उच्च आसन पर नहीं बैठना, गुरु के उपदेश को हाथ जोड़कर आदर से ग्रहण करना, गुरुओं के गुणों में अनुराग कर उनकी आज्ञा के अनुकूल प्रवर्तन करना, गुरु के दूर क्षेत्र में होने पर उनकी आज्ञा के अनुसार प्रवर्तन करना दूर से ही गुरुओं का ध्यान, स्तवन और नमस्कार करना गुरु की विनय है।

शास्त्रविनय - शास्त्र की विनय करना, आदर से पढ़ना, श्रवण करना, शास्त्र में कहे व्रत-संयम आदि धारण करते नहीं बन सके तो भी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना, शास्त्र की आज्ञा के अनुसार कहना, उसे एकाग्रचित्त से श्रवण करना, अन्यथा कथन नहीं करना, आदर पूर्वक मौन से श्रवण करना, यदि शंका हो तो उसे दूर करने के लिये विनयपूर्वक थोड़े शब्दों में सभा के अन्य लोगों तथा वक्ता को क्षोभ नहीं उत्पन्न हो इस प्रकार विनय पूर्वक प्रश्न करना तथा वक्ता के उत्तर को आदर से ग्रहण करना, शास्त्र की विनय है। शास्त्र को उच्च आसन पर रखकर स्वयं नीचे बैठना, प्रशंसा-स्तवन इत्यादि करना शास्त्र की विनय है। इस प्रकार देव, शास्त्र और गुरु की विनय ही धर्म का मूल है।

निश्चयविनय - रागद्वेष द्वारा जिस प्रकार से आत्मा का घात नहीं हो, उस प्रकार प्रवर्तन करना, आत्मा की विनय है। इसे निश्चयविनय भी कहते हैं। यह मेरा जीव चारों गतियों में भ्रमण न करे तथा मेरी आत्मा मिथ्यात्व-कषाय-अविनयादि से आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात नहीं करे, आत्मा की विनय है। इसे परमार्थ विनय भी कहा है।

व्यवहारविनय - जो दूसरों का सम्मान करेगा, वह स्वयं ही सम्मान को प्राप्त कर लेगा। जो दूसरों का अपमान करेगा वह स्वयं ही अपमान को प्राप्त हो जायेगा। सभी से मीठे शब्द बोलना विनय है। किसी भी जीव का तिरस्कार नहीं करना भी विनय ही है।

अपने घर कोई आया हो उसका यथायोग्य सत्कार करना, सामने जाकर आना, उठकर (खड़े होकर) एक हाथ से माथा स्पर्श कर विनय करना, आईये-आईये-आईये-इत्यादि तीन बार कहकर बुलाना, आदर पूर्वक समीप बैठाना, बैठने का स्थान देना, आओ-बैठो कहना, शरीर की कुशलता पूंछना, हम आपके ही हैं, हमें आज्ञा करिये, यह आप ही का घर है, यह घर आपके आने से पवित्र हो गया है, ऊँचा हो गया है, आपकी कृपा हमारे ऊपर हमेशा है इस प्रकार कहना। किसी को हाथ उठाकर माथे तक लगा लेना, अन्य प्रकार भी सम्मान कुशल पूछना, रोगी दु:खी की वैयावृत्ति करना और अपने से नहीं बन सकता हो तो धीरता-संतोष आदि का उपदेश देना, व्यवहार विनय है। यह परमार्थ विनय का कारण है, जो यश उत्पन्न कराती है और धर्म की प्रभावना करती है।

वचनविनय - मिथ्यादृष्टि का भी अपमान नहीं करना, मीठे वचन बोलना और यथायोग्य आदर-सत्कार करना ये भी विनय है। महापापी, द्रोही, दुराचारी को भी कुवचन नहीं कहना। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियादि तथा सर्पादि दुष्ट जीवों की विराधना नहीं करना तथा उनकी रक्षा करना विनय है। अन्यधर्मियों के मंदिर मूर्ति आदि से बैर करके निंदा नहीं करना। इस प्रकार परमार्थ व व्यवहार दोनों प्रकार की विनय को धारण करके गृहस्थ को प्रवर्तन करना योग्य है।

सम्पूर्ण परिग्रह के त्यागी वीतरागी मुनिराज को भी यदि कोई मिथ्यादृष्टि वन्दना करता है तो वे उसे भी आशीर्वाद देते हैं। कोई चांडाल, भील, धीवर आदि नीच जाति का भी वन्दन करता है तो वे उसे "पापक्षयोस्तु" पापों का नाश हो इत्यादि आशीर्वाद देते हैं। इसलिए यदि विनय अंग धारण करते हो तो बालक, अज्ञानी धर्म रहित नीच-अधम जाति का कोई हो तो उसका भी तिरस्कार-निंदा करना उचित नहीं है। मनुष्य जन्म की शोभा विनय ही है। भगवान गणधर देव तो ऐसा कहते हैं कि विनय बिना मनुष्य जन्म की एक घड़ी भी नहीं बीतना चाहिए।

विनय धर्म ही मनुष्य जीवन का सार है। अब विचारिये जीभ कोमल होती है। पहले जन्म लेती है बाद तक रहती है। दाँत कठोर होते हैं जो बाद में उत्पन्न होते हैं और पहले टूट जाते हैं। दाँत कठोर होते हैं इसलिए किले की रक्षा पंक्ति की तरह आगे खड़े रहते हैं और सारी कठोरता को सहते हैं। जीभ कोमल है इसलिए पीछे सुरक्षित विश्राम करती है और कोमलता को सुरक्षित रखती है। दाँत कठोर वस्तु जैसे चने, मटर आदि का सेवन करते हैं और जीभ को नरम नरम हलुआ खाने को मिलता है। कठोर वस्तु को दाँत पहले मुलायम कर देते हैं, तब जीभ उसका सेवन करती है।

सोना कोमल होता है तो, मस्तक आदि स्थानों में शोभा पाता है और तिजोरी में रहता है। लोहा कठोर होता है इसलिए सड़क पर पड़ा रहता है। आचार्य कहते हैं कि जिसके जीवन में दाँत के समान कठोरता विद्यमान रहती है वे जल्दी चले जाते हैं और जिसके जीवन में जीभ जैसी कोमलता विद्यमान होती है वे बाद तक बने रहते हैं। नम्रता से जीने में ही सार है। नम्र जीव इस लोक व परलोक दोनों लोकों में सुखी रहता है।

झुकेगा वही जिसमें जान है, अकड़पन तो खास मुर्दे की पहचान है।

एक जंगल में दो पेड़ खड़े हैं एक बड़ का दूसरा बेंत का। बड़ का पेड़ घमण्ड में चूर है वह बेंत के पेड़ से कहता है तुम्हारे जीवन से क्या लाभ ? न तुम किसी को छाया देते हो, फल और फूल का तो नाम ही नहीं। मुझे देखो मैं कितनों को छाया देता हूँ और यदि मुझे कोई काट ले तो भी मेरी लकड़ी से बैठने के लिए सुन्दर आसन का निर्माण हो सकता है। तुम्हारी लकड़ी से दूसरों को पीटा जा सकता है। वाद-विवाद चल रहा था। थोड़ी देर में मौसम बिगड़ जाता है और तूफान और वर्षा दोनों शुरू हो जाते हैं। कुछ ही देर में बेंत का पेड़ साष्टांग दण्ड्वत करने लगता है किन्तु तूफान ने देखा कि बड़ का पेड़ वैसे ही खड़ा है। पाँच मिनट बाद देखा बड़ का पेड़ उखड़ गया। उसका सिर नीचे और पैर ऊपर हो गये। आचार्य कहते हैं कि जहाँ अविनय है वहाँ इसी तरह ही दशा होती है। जिनमें अकड़ होती है वे अपनी जगह स्थिर नहीं रह सकते और जिनमें विनय गुण होता है उन्हें अपने स्थान से कोई हटा नहीं सकता अर्थात् वे स्थायी होते हैं।

विनय का अनुपम महत्व है। यह भाव सोपान है जिस पर आरूढ़ होकर साधक मुक्ति की मंजिल तक पहुँच सकता है। विनय आत्मा का गुण है और सरलता का प्रतीक है। अविनय मानव शक्ति का बिखराव है और विनय में शक्ति का केन्द्रीयकरण है। विनय गुण दूसरे को झुकने को विवश कर देता है।

गाँधी जी के जीवन की एक घटना है। उनकी मेज पर कई प्रकार के कागज बिखरे पड़े थे। एक आदमी गाली से भरे हुए चार कागज उनके सम्मुख रख गया। गाँधी जी काम में व्यस्त थे उनको एक पिन की आवश्यकता हुई, पिन जो गाली से भरे कागजों में लगी हुई थी। इधर उधर ढूढने पर गाँधी जी की निगाह उन कागजों पर गई। उनमें से पिन निकालकर बाकी कागज रद्दी की टोकरी में डाल दिये। दूसरे दिन वह व्यक्ति गाँधी जी की प्रतिक्रिया जानने के लिए आया और पूछा आपने वे कागज पढ़े? जो मैं आपके पास कल रखा गया था कैसा लगा ? गाँधी जी बोले-बड़ा लाभ हुआ, आपके कागजों में पिन लगा था वह मेरे अच्छे समय पर काम आया, आपने मेरी बड़ी सहायता की। गाँधी जी की बातें सुनकर वह आदमी बहुत ही प्रभावित हुआ और उनके चरणों में गिर पड़ा।

विनय युक्त शब्दों को प्रयोग करना चाहिए। कभी-कभी शब्दों की अविनय भी हानिकारक हो जाती है। एक भारतीय महोदय अमेरिका गये। वहाँ उन्हें एक सभा को संबोधित करना था। लोग उन्हें देखकर हँसने लगे और जब वह बोलने के लिए खड़े हुए तो और अधिक हँसने लगे। उन भारतीय महोदय को थोड़ा क्रोध आ गया, उन्होंने अपने भाषण में सबसे पहले कहा कि पचास प्रतिशत अमेरिकन मूर्ख होते हैं। अब क्या था सारी

सभी उखड़ गई और कन्ट्रोल से बाहर होने लगी, तभी थोड़ा विचार आया और उन्होंने कहा भाइयों! मुझे क्षमा करें, मुझसे गलती हो गई पचास प्रतिशत अमेरिकन बुद्धिमान होते हैं। इस वाक्य को सुनकर सभा में शान्ति छा गई और सभी लोग यथास्थान बैठ गये। अर्थ में कोई अन्तर नहीं था किन्तु शब्दों की विनय से उस भारतीय ने सब को वश में कर लिया।

अत: विनय गुण का विकास करो विनयगुण से असाध्य कार्य भी साध्य बन जाते हैं। विनय गुण साध्य है, उपास्य है और आराध्य है। भगवान महावीर कहते हैं कि मेरी उपासना चाहे मत करो परन्तु विनय गुण की उपासना अवश्य करें। विनय का यह मतलब नहीं कि भगवान महावीर के सामने विनय करें और पड़ौसी के साथ अविनय का प्रदर्शन करें। अपने पड़ौसी की विनय करें, कोई घर पर आ जाये तो उसका सम्मान करें क्योंकि नीतिकार ने कहा है कि सम्मान-आदर से तृप्ति होती है, भोजन से नहीं। विनय गुण से सिद्धत्व की प्राप्ति हो सकती है।

जीवन में कुछ ऐसी घटनायें घटती हैं जिनका महत्त्व सदा के लिए अमिट हो जाता है। प्रसिद्ध है कि राजाभोज के दरबार में ऐसे सैकड़ों कवि थे जो एक उपदेशप्रद श्लोक से लाखों रूपयों की आमदनी कर लेते थे। राजाभोज एक उपदेशप्रद श्लोक की कीमत लाख रूपये दिया करता था।

यमुना तटीय राज्यों में एक राज्य का राजा मधुसूदन था। वह प्रजा वात्सल्य, धार्मिक और दानवीर था। उसके राज्य में सब प्रकार की सुख सम्पदा थी। एक दिन नगर में एक महात्मा को घूमते देखा। सबने उसे भोजन व वस्त्र के लिए पूछा परन्तु उसने कुछ भी स्वीकार नहीं किया और वह ऊँचे स्वर में आवाज लगाता रहा कि एक-एक लाख की तीन बातें।

महात्मा के भ्रमण का यह समाचार राज्यसभा तक पहुँच गया। सभी उस महात्मा को देखने के लिए उत्सुक हो गये। राजा दरबारियों सहित महात्मा के समीप पहुँचा, उसने महात्मा के दर्शन कर अपने को कृतार्थ समझा। उसने विनीत स्वर में महात्मा से कहा-''क्या चाहिए महात्मन''? महात्मा बोला ''तुम दे सकोगे'' ''आज्ञा कीजिये-यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा''। राजा ने कहा।

राजन कुछ महात्मा तीर्थ यात्रा से लौटते हुए तुम्हारी नगरी में ठहरे हैं, उनके लिए भोजन का प्रबन्ध करना है। मेरा अहोभाग्य, राजा ने कहा। परन्तु भिक्षा नहीं चाहिए, साधु ने कहा राजन परिवर्तन चाहिए, आपको तीन बातें उपयोगी बतलाऊँगा। आप तीन बार के लिए भोजन का प्रबन्ध कर दें।

राजा ने अपने भण्डारियों के नाम आदेश जारी कर दिया कि महात्माओं के लिए समस्त सामग्री का प्रबन्ध होना चाहिए। महात्माओं को जिन उपयोगी वस्तुओं की आवश्यकता हो वे सभी वस्तुऐं भण्डार से दे दी जायें। यदि महात्माओं की सेवा में कमी आयेगी तो परिजनों को इसके लिए दण्ड दिया जायेगा।

धार्मिक राजा की प्रजा भी धार्मिक होती है। सारा नगर महात्माओं के दर्शनार्थ उमड़ पड़ा। सभी महात्माओं के दर्शन कर अपने को कृतकृत्य समझने लगे। प्रजा ने भी महात्माओं की सेवा और भक्ति में अपने को लगा दिया। महात्मा बड़े प्रसन्न हुए, फिर विदा होते समय प्रमुख महात्मा ने राजा को उपदेश देते हुए कहा। सुनो राजन् हम तुम्हारी सेवा-भक्ति से बहुत प्रसन्न हैं, हमारी इन बातों को सदा ध्यान रखना (1) प्रातः ब्रह्ममुहूर्त में उठना (2) अतिथि का आदर करना (3) क्रोध के समय शान्ति रखना।

इतना कहकर महात्मा चले गये। राजा मंत्रियों के साथ लौट आया। राजा मधुसूदन ने उसी दिन से तीनों बातों का पालन शुरू कर दिया। इस प्रकार बहुत काल व्यतीत हो गया। एक दिन प्रातः उठकर मधुसूदन राजा यमुना तट पर घूम रहे थे, आकाश में उस समय तारे चमक रहे थे, अंधकार अभी दूर नहीं हुआ था। राजा को एक स्त्री के रोने की आवाज सुनाई पड़ी। राजा ने इधर उधर देखा, उन्हें एक स्त्री रोती हुई मिली, तब राजा ने बड़े ही नम्र शब्दों में पूछा, तुम कौन हो और क्यों रो रही हो?

उसने कहा कि मैं भवितव्यता हूँ। इस राज्य के राजा को कल सायंकाल पहाड़ी से एक सर्प निकल कर डस लेगा और राजा की मृत्यु हो जायेगी। राजा के इस वियोग से इस नगरी में हाहाकार मच जायेगा और प्रजा रोने लगेगी। अतः मैं पहले से ही दुःखी होकर रो रही हूँ। राजा ने पूछा क्या इसको रोका नहीं जा सकता? नहीं, हरगिज नहीं, भवितव्यता को रोकने की शक्ति किसी में नहीं है। इतने में आकाश में प्रकाश हो गया। सूर्य पूर्व से अपनी किरणें फैलाने लगा। रोने वाली नारी अदृश्य हो गयी।

दिन में राज्य परिषद की बैठक हुई, महाराज ने अपनी सभी बातें कहीं। किसी ने केवल भ्रम कहा और किसी ने स्वप्न, परन्तु राजा के मन में यह बात सत्य के रूप में बैठ गयी। प्रातः उठने का लाभ वह प्रत्यक्ष देख चुका था कि उसको अपनी मृत्यु का दो दिन पूर्व ही पता चल गया।

दरबार के कुछ विद्वान व्यक्तियों ने ठीक ही समझा और वे चिन्तित हो गये। महाराज मधुसूदन के कोई लड़का नहीं था केवल एक लड़की थी। मंत्रीमण्डल में निश्चित हुआ कि महाराज के बाद पुरुष के भेष में इस लड़की को अभिषिक्त किया जाय। विवाह हो जाने पर इसके योग्य पति को यह राज्य सौंप दिया जायेगा।

महाराज ने यह निर्णय महलों में जाकर रानियों को सुनाया, रानियाँ व्याकुल हो गयीं। राजा ने कहा चिन्ता करने एवं रोने से क्या लाभ होगा? आप लोग लड़की को पुरुष भेष में पहले ही तैयार रखना। अन्यथा राज्य ही गड़बड़ हो जायेगा। यह कार्य बड़ी सावधानी से करना होगा क्योंकि उस समय की थोड़ी सी भूल ही बरबादी का कारण बन जायेगी।

दूसरे दिन प्रातः महाराज उठे, अपने दैनिक कार्य से निवृत हो बाहर निकल गये। अचानक उनके मन में आया कि अतिथि का आदर करना आवश्यक कर्तव्य है। वह साँप भी हमारा अतिथि होगा। अतः उसके सत्कार का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। जिस ओर से साँप आने वाला था सारा मार्ग सजा दिया गया।

अगरबत्ती एवं धूप आदि सुगन्धित पदार्थ जला दिये गये। स्थान -स्थान पर मीठे दूध के कटोरे रख दिये। पर्वत से लेकर महल के उद्यान तक यही सजावट थी।उद्यान में राजा कुर्सी लगाकर बैठ गया। आदेश दे दिया कि साँप को आने में किसी प्रकार की रुकावट न की जाये।

होनी होकर रहती है। ठीक समय पर साँप उसी पर्वत से निकला मार्ग की सुगन्धी और सजावट से प्रसन्न होता हुआ कभी लोटता, कभी उछलता और कभी दूध पीता हुआ रेंगने लगा और उद्यान तक पहुँच गया। राजा ने कहा ''नाग देवता प्रणाम, आप अपना कार्य कीजिये। मैं मरने के लिए तैयार हूँ।'' साँप भी मनुष्य वाणी में बोला - राजन! मैं तुम्हारे अतिथि सत्कार से बहुत प्रसन्न हुआ मुझसे आप कुछ भी माँग लीजिये।

मेरे पास सब कुछ है और कुछ नहीं चाहिए। आप अपना कार्य करें। राजा ने अपने मुख पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा। अच्छा राजन्! यदि तुम कुछ नहीं मांगते तो मैं ही तुम्हारी मौत मरता हूँ। यह कहते हुए साँप पृथ्वी पर लेट गया, पटक-पटक कर स्वयं के प्राण पखेरू उड़ गये और निर्जीव हो गया।

अतिथि सत्कार का फल राजा को प्रत्यक्ष प्राप्त हो गया राजा प्रसन्न होकर महलों की ओर चल दिया। रानी रो-रोकर व्याकुल हो रही थी और पुरुष रूप में तैयार बेटी को गले लगाकर अपने हृदय को शान्त करने लगी। राजा महलों में प्रविष्ट हुआ और रानी के कमरे में पुरुष को देखकर दंग रह गया। रानी को पुरुष के गले लगे देखकर उसे बहुत क्रोध आया और मारने को तैयार हो गया परन्तु शीघ्र ही मन में विचार आया कि महात्मा ने कहा था कि क्रोध के समय शान्ति (धैर्य) रखना चाहिए। वह शान्त होकर आगे बढ़ा तो अपनी पुत्री को पुरुष वेष में देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और मन ही मन शान्ति धारण करने की प्रशंसा करने लगा। उसने अब सच्चे हृदय से पहचाना कि महात्मा जी की तीन बातें सचमुच तीन लाख की हैं।

इस प्रकार ऐसी विनय गुण की महिमा जानकर इसका महान अर्घावतारण करो। हें विनय सम्पन्नता अंग हमारे हृदय में तुम्हीं निरन्तर वास करो, तुम्हारे प्रसाद से अब मेरी आत्मा कभी भी आठ मदों रूप अभिमान को प्राप्त नहीं हो।

आतम उन्नति को करे, विनय सदा बलवान।
नर से नारायण बने, पावे मुक्ति प्रधान।।

बीरबल बादशाह को सदैव खुश करने की कोशिश करता। यहाँ तक कि भरे दरबार में भी अपनी विनय बुद्धि कला द्वारा उन्हें हँसा देता। एक दिन अकबर ने खुश होकर कुछ माँगने को कहा तो बीरबल बोले-महाराज आप रोज दरबार में मेरी कुशलक्षेम पूछ लिया करें बस यही माँगता हूँ। अरे! कुछ जमीन, जायदाद, अशरफी माँगों। अकबर ने कहा, बीरबल बोला-हुजूर इतना ही काफी है। अकबर बादशाह भरे दरबार में जब भी प्रवेश करते तो सबसे पहले बीरबल से कुशल क्षेम पूछते। यह बात दिल्ली प्रदेश के चारों ओर फैली तो जनता ने समझा कि बीरबल बादशाह का कोई रिश्तेदार है। अत: लोग बीरबल के यहाँ भेंट

लेकर पहुँचने लगे। थोड़े ही दिनो में बीरबल मालामाल हो गया। बादशाह को पता चला तो पूछा-तुम्हारे पास बहुत सारा धन इकट्ठा हो गया। आखिर यह कहाँ से आया? बीरबल बोला महाराज आपकी निगाह में आया तो जनता धन दौलत दे गई। सबकी नजरों में मैं बस गया। यदि हम भी गुरु के बतलाये मार्ग पर विनय से चलें तो निश्चित ही गुरु की नजर में बस जायेंगे, फिर सारा संसार ही हमें पूछेगा, कहा भी है-

धर्म पहचाना नहीं, कर्त्तव्य को भूला रहा।
मूक पशु की भांति कायर, मृत्यु पथ पर चल रहा।।

कर्त्तव्य परायण - हे भव्य जीवों! तुम अपने कर्त्तव्य का पालन करो, विश्वासघाती मत बनो, अपसे बड़े देव, शास्त्र, गुरु की विनय करो। कर्त्तव्य से च्युत व्यक्ति को गधा कहते हैं एवं जो अनेकों विघ्न आने पर भी अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं होते उसे लोमड़ी संज्ञा दी गई है। इसीलिये श्रावक का कर्त्तव्य है कि गुरु भक्ति करना। राजगृही नगरी में श्रेणिक राजा राज्य करते थे, उनके राज्य में एक चांडाल था। चांडाल की स्त्री को बेमौसम में आम खाने की इच्छा हुई। राजा श्रेणिक के बगीचें में आम के वृक्ष लगे थे, पर ऊँचे थे। चांडाल एक विद्या के बल से उसने आम के वृक्ष को झुकाकर आम तोड़कर अपनी गर्भवती स्त्री की इच्छा पूरी की। राजा को आम चोर का पता चलने पर चांडाल से कहा कि इस विद्या को तुम मुझे सिखा दो तब तुम्हें छोड़ दूँगा। नहीं तो सजा दूँगा। चांडाल ने यह बात मान ली। अब राजा सिंहासन पर बैठा और चांडाल खड़ा होकर विद्या सिखाने लगा। बहुत बार सिखाने पर भी राजा को विद्या नहीं आई। तब मन्त्री नम्रतापूर्वक बोला कि हे राजन! इस चांडाल को सिंहासन पर बैठाकर तुम खुद खड़े होकर यदि विद्या सीखोगे तब आयेगी अन्यथा नहीं। राजा ने ऐसे ही किया, बहुत ही शीघ्र उन्हें विद्या आ गई। गुरु का महत्त्व महान है। अत: सभी को अपने कर्त्तव्य को पालना चाहिये अर्थात् विनय करना चाहिये। कहा भी है-यदि सुख चाहते हो तो विनय करो।

जो सुख चाहत रहे जिया, राग द्वेष मद छोड़,
प्रेम भाव रक्खो सदा, सुर शिव के सुख भोग।।

उत्तम खेती करना, मध्यम व्यापार करना, अधम दूसरों की नौकरी करना है और इन सभी में मूर्ख वह है जो घर में पारस रत्न रखकर तेल बेच रहा है उसे रत्न की परख नहीं है। कहा भी है -

दुर्लभ चिंतामणि पाकर यों ही गवाँ रहा है। रत्न को बेचकर पत्थर ले रहा है। हाथी को बेचकर गधा खरीद रहा है।

उत्तम खेती मध्यम वणज, अधम चाकरी निश्चय मरण।
घर में पारस, बेचें तेल ये, देखो ये दुनिया के खेल।।

अत: यह मनुष्य जीवन अमूल्य है। इसकी कीमत हम कभी नहीं कर सकते, क्योंकि एक बार जाने के बाद वापस मिलना बड़ा कठिन है।

एक समय की बात है कि राजा शिकार करने के लिये वन में गया वह अपने साथियों से बिछुड़ गया रास्ता भूल गया। देवयोग से उसकी भेंट एक लकड़हारे से हुई, उसने राजा को खाना खिलाया और शहर का रास्ता बताया। राजा ने उसका उपकार माना और कहा कि जब भी तुझे सहायता की जरूरत पड़े तो मेरे पास आ जाना। क्योंकि सबसे बड़ा धर्म है दूसरों की सहायता करना एवं परोपकार करना।

एक बार लकड़हारा इतना दुखी हुआ कि उसे कड़ी मेहनत के बाद भी अपने परिवार का पालन पोषण करना अति मुश्किल हो गया। अत: वह सहायता के लिये राजा के पास पहुँचा। राजा ने उसकी सारी बात सुनी और चन्दन के वृक्षों का वन उसे दान कर दिया। फिर राजा ने लकड़हारे से कहा-चन्दन का वन तुम्हारे परिवार की आने वाली पीढ़ीयों के लिये काफी होगा। इसलिए अब जाओ, आनन्द मनाओ। लकड़हारा इससे अति प्रसन्न हुआ परन्तु अपनी मूर्खता के कारण उसने चन्दन के वृक्षों को साधारण पेड़ समझा और उनको काटकर तथा उनको जलाकर, उनका कोयला बनाकर बेचने लगा। ऐसी मूर्खता को धिक्कार है।

जब इस प्रकार चन्दन के वन का काफी भाग नष्ट हो चुका तो एक दिन अचानक ही राजा का निकलना उधर से हुआ। वहाँ जो कुछ हो रहा था राजा ने उसे ध्यान से देखा। राजा बहुत दुखी हुआ। उसने लकड़हारे से कहा, कुछ लकड़ियो को काटो तथा बाजार में ले जाओ और देखो कि क्या होता है? क्योंकि जितना भाग्य में है उतना ही मिलेगा।

नदी पेड़ों व चट्टानों, का सारा गर्व हरती है।
मगर सागर से मिल करके, वह सारा नाश करती है।।

अर्थात् नदी सागर में मिलकर अपने गौरव को खो देती है। इसी प्रकार लकड़हारे ने व्यर्थ में अमूल्य चंदन को जला दिया।

लकड़हारे ने चन्दन के पेड़ की लकड़ियाँ काटी और बाजार में उन्हें ले गया। बहुत से व्यापारी चन्दन की सुगंधी के कारण वहाँ इकट्ठे हो गये और चन्दन की लकड़ी के लिये पैसे बोलने शुरू किये। वहे मन ही मन पश्चाताप करने लगा।

अब पछताये होत क्या? जब चिड़िया चुग गई खेत।

ज्यों-ज्यों व्यापारियों ने ज्यादा पैसे बोलने शुरू किये, त्यों-त्यों लकड़हारे ने रोना शुरू कर दिया। एक व्यापारी ने उससे रोने का कारण पूछा। लकड़हारे ने उत्तर दिया, मैंने अन्जाने में अपना तथा अपने परिवार का भविष्य बिगाड़ दिया। मुझे जो सुनहरा अवसर मिला था उसका पूरा लाभ नहीं प्राप्त कर सका यों ही जीवन बर्बाद कर दिया।

यह मनुष्य जीवन भी चन्दन के समान बहुमूल्य है। यह हमारी मूर्खता है यदि हम ईर्ष्या, लालच तथा अन्य बुरे कामों में पड़कर इस बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ बरबाद कर दें। हमें चन्दन की सुगन्धि के समान अपने चारों ओर दयालुता, मनुष्यता तथा नम्रता की सुगन्धि फैलानी चाहिये। यदि हम मनुष्य शरीर का अच्छा और

ठीक प्रयोग करने में असफल रहे तो हमें लकड़हारे की तरह बाद में पछताना पड़ेगा। अत: हमें मान तजकर 'विनय गुण' अपनाना चाहिये। किसी ने कहा भी है-विनय से मानव महान बनता है।

विनयवान जग में मनुज, आम वृक्ष सम जान।
अभिमानी जग में मनुज, ताड़ वृक्ष सम मान।।

आम का वृक्ष फल लगने पर सदा झुका रहता है ताड़ का वृक्ष नहीं झुकता, वैसे ही मानी पुरुष होता हैं।

एक राजा था उसने अपने लिये एक सुन्दर महल बनवाया था। जों भी उसे देखता था। वह उसकी प्रशंसा करता था। एक दिन राजा ने देखा, उसके महल की बगल से धुआं निकल रहा है। राजा ने पूछा-धुआं कहाँ से निकल रहा है? चौकीदार ने कहा- पड़ौस में एक बुढ़िया की झोंपड़ी है वहीं से धुआँ निकल रहा है। राजा ने क्रोध में आकर कहा, जाओ बुढ़िया से कहो अपनी झोपड़ी यहाँ से हटा ले। चौकीदार बुढ़िया के पास गया और कहा-राजा की आज्ञा है अपनी झोपड़ी यहां से हटा लो। बुढ़िया ने कहा-मैं नहीं हटाऊँगी, जाकर अपने राजा से कह दो। चौकीदार ने राजा को बुढ़िया की बात सुनाई। राजा ने कहा-बुढ़िया को मेरे सामने पेश करो। चौकीदार बुढ़िया को लेकर आया। राजा ने पूछा तू अपनी झोपड़ी क्यों नहीं हटाती? बुढ़िया ने नम्रता से कहा आपकी आज्ञा सिर माथे पर है। पर हे राजन्! मेरी बात का जवाब दीजिये। मैं आपके इतने बड़े महल को देख सकती हूँ पर आप मेरी छोटी सी टूटी-फूटी झोंपड़ी को नहीं देख सकते। क्या यह न्याय है? राजा का सिर लज्जा से झुक गया और अपने कोमल परिणामों से बुढिया को क्षमा कर दिया। इसीलिए कहा है-

मान वचन जग में बुरे, पैनी सुई सम जान।
विनय वचन जग में भले, अमृत रस सम मान।।

अत: इस मनुष्य रूपी चिंतामणि को पाकर इसे व्यर्थ खोना ठीक नहीं है पुन: मनुष्य जन्म पाना बड़ा कठिन है कहा भी है-

हाथी सुन्दर पाय के, मूरख ईंधन ढोय।
जप तप संयम छोड़ के, भोगों में चित देय।।

समुद्र के किनारे एक लकड़हारा रहता था। एक दिन मिट्टी खोदते समय वह एक चिंतामणि रत्न मिल गया। विशेष चमकदार होने से वह उसे घर ले आया। रात्रि को दीपक की जगह उसे रत्न उजाले का काम देने लगा। उसने सोचा चलो एक रोज का तेल बचा। एक दिन एक जौहरी उससे लकड़ी खरीदने आया। उस रत्न को देख परख कर उसके मुँह से निकल गया, यह बहुत कीमती चिंतामणिरत्न है। इससे जो मांगो वही मिल जाता है। जौहरी ने कहा- इसे दस हजार रूपये में मुझे दे दो, लकड़हारा बोला-जब यह चिंतामणि रत्न है तो इससे ही मांग लेंगे। उसने राजा का वैभव मांग लिया। उसे उसी समय मिल गया। अब वह आनन्द से उसी समुद्र के किनारे महलों में रहने लगा, कोई उसे चुरा न लें इसलिए वह हमेशा अपने पास रखता था। एक दिन रत्न को हाथ में लेकर सो गया। सुबह उठते ही सामने कौआ काँव-काँव करता हुआ दिखा उसे देखते ही बड़ा गुस्सा आया इसलिए अपने हाथों में रखा रत्न कौए को फेंक कर मार दिया। रत्न समुद्र में जाकर डूब गया साथ

में वैभव भी। वह हाथ मल-मल कर रोने लगा। इसी प्रकार अमूल्य रत्न मानव जीवन को पाकर हम व्यर्थ में खो रहे हैं। विषय सुख रूपी कौए को उड़ाने के लिए मानव रूपी रत्न को खोकर हम दु:खी हो रहे हैं और खूब पश्चाताप कर रहे है पर अब पछतने से क्या होता है जब समय निकल गया।

अमृत रस को पाय के, मूरख पैर पखार।
उत्तम नर भव पाय के, विषयों में चित् धार।।

इस प्रकार बिना विनय गुण के शिष्य विद्या प्राप्त नहीं कर सकता। चाहे कितना परिश्रम करे सब व्यर्थ है।

इसी पर एक और दृष्टांत है। बनारस में एक पंडित जी थे, उनके पास १०-१२ लड़के पढ़ते थे। उनमें से एक लड़के को बहुत अधिक पढ़ाते थे। जब एक स्त्री बोली तुम एक लड़के को अधिक पढ़ाते हो और सब लड़कों की उपेक्षा करते हो। पंडित जी बोले-अच्छा इसका उत्तर अभी मैं तुम्हें देता हूँ। बस क्या था पंडित जी ने एक पके आम को अपनी भुजा में बाँधकर कपड़े से लपेट दिया। सब लड़को को बुलाया गया और बताया गया कि गुरुजी बड़ी तकलीफ में हैं, उनके फोड़ा हो गया है, वे बड़े बेचैन हैं। बच्चों ने पूछा, गुरु जी कैसे मिटेगा फोड़ा? डाक्टर, वैद्य बुला दें? गुरु जी ने कहा-बेटा किसी दवा से नहीं मिटेगा? डाक्टर वैद्य बुला दें? गुरु जी ने कहा- बेटा किसी दवा से नहीं मिटेगा। इसकी सरल औषधी यह है कि जो कोई अपने मुख से इसे चूस ले तो अभी ठीक हो जायेगा। यह सुनकर सभी बच्चे भागने लगे और बोले इसका मवाद पीप कैसे चूसे? किन्तु उस एक बालक ने चूस लिया। इस घटना को देखकर वह स्त्री और सभी समझ गये कि यही बालक विनय शील है तभी गुरुजी इसे अधिक पढ़ाते हैं। अत: सभी को विनय गुण सीखना चाहिए। तभी हम अपने जीवन को सफल कर सकते हैं अन्यथा नहीं क्योंकि बिना विनय के कभी भी विद्या नहीं आ सकती ।

यह 'विनय-सम्पन्नता' हमें हमारे व्यक्तित्व का विकास करने में सहयोगी है। इसके माध्यम से हम अपने जीवन को बहुत ऊँचा उठा सकते हैं। हम आचार्य समन्तभद्र स्वामी के चरणों में बैठे तो वे बताते हैं कि हम जितना गुरूजनों के चरणों में झुकेंगे उतने ही ऊँचे उठेंगे। उच्चकुल की प्राप्ति गुरुजनों की विनय से होती है। दान-पुण्य करने वाला ही भौतिक सुख पाता है। गुरुजनों की उपासना करने से स्वयं की पूजा होने लगती है। हम स्वयं भी पूज्य-पद प्राप्त कर लेते हैं। भक्ति से सुन्दर रूप मिलता है यानी भक्ति-भाव से भरा जीवन ही सुन्दर लगता है। गुरूजनों की स्तुति करने वाला स्वयं यश ख्याति को प्राप्त कर लेता है। इस तरह हम देखें तो आत्म-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर हम अपने जीवन में यदि दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि के प्रति विनय धारण करते हैं तो हमारा जीवन समृद्ध बनता है, अच्छा और सच्चा बनता है।

अहं जो भरा है इंसान में क्या करें गलता नहीं। कषाय से तो जलते है, ज्ञान का दीप जलता नहीं।।
विनय से सम्पन्न कैसे हो इंसान प्यारे भाई। जब इंसान को स्वयं का पता चलता नहीं।।

****

3

निरतिचार शीलव्रत

अनेक शील सम्पूर्ण, व्रत पञ्चक संयुतम्।
पञ्चविंशति-क्रिया यत्र, तच्छीलव्रतमुच्यते॥३॥

जहाँ पाँच व्रत सहित अनेक शीलों से परिपूर्णता को प्राप्त पच्चीस क्रियाएँ होती हैं उसे शीलव्रत कहते हैं।

नर भव पाया रत्न अमौलिक, विषयों में खोता।
भोगों में अनुराग लगा जो, अतीचार होता॥
अतीचार से रहित व्रतों, को पाले जो कोई।
प्रकट होय आतम निधि उसकी, सदियों से खोई॥
कृत-कारित अरु अनुमोदन से, मन-वच-तन द्वारा।
नव कोटी से शील व्रतों का, पालन हो प्यारा॥
सोलहकारण शुभम् भावना, भाव सहित भावे।
अनतिचार व्रत शील से अपना, जीवन महकावे॥

हम सभी लोगों ने पिछले दिनों अपने जीवन को अच्छा बनाने की बहुत सारी बातों पर विचार किया है। हमने यह बात अच्छे से जान ली है कि अपने जीवन को जैसा चाहें वैसा अच्छा या बुरा बना सकते हैं। हमारा जीवन यदि अच्छा बनता है तो उसकी जिम्मेदारी भी हमारी है और यदि हमारा जीवन हम स्वयं अनुभव करते हैं कि अच्छा नहीं बन पाया तो यह जिम्मेदारी भी हमारी अपनी है। ऐसी स्थिति में हमारा दायित्व है, हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपनी जिम्मेदारी को ठीक-ठीक समझें और अपने जीवन को अच्छा बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ करें।

हमारे सामने तीर्थंकरों का जीवन है जो हमारे आदर्श है। संसार के बीच रहकर जो सर्वश्रेष्ठ जीवन जीते हैं, सभी को अपना जीवन अच्छा बनाने का सदुपदेश देते हैं और अंत में संसार से पार हो जाते हैं - ऐसे हमारे तीर्थंकर हैं। हमने उन तीर्थंकरों के बिम्ब अपने मन्दिरों में स्थापित करके उनके जैसे आदर्श बनने के लिए

अपनी भावनाएँ रोज-रोज उनके सम्मुख प्रकट करने और उनसे प्रेरणा लेने का क्रम बनाया है।प्रतिदिन जिनबिंब का दर्शन करना भी जीवन को अच्छा बनाने की प्रक्रिया का एक सोपान है। लेकिन इतने अकेले से काम नहीं चलेगा। हमें अपना जीवन अच्छा बनाने के लिए रोज-रोज प्रयत्न भी करना होगा। उस दिशा में आगे बढ़ने का पुरुषार्थ करना होगा।

देखने में आता है कि जिसका जो प्रिय है, फेवरेट है वह व्यक्ति भी उसी का अनुकरण करता है। किसी व्यक्ति का कोई प्रिय कलाकार है तो वह व्यक्ति उस कलाकार के जैसा ही अभिनय करने का, उसके जैसे ही बोलने का, उसके जैसे ही वस्त्र आदि पहनने का प्रयास करता है। ऐसे ही यदि हमारे आदर्श भगवान जिनेन्द्र हैं या तीर्थंकर हैं तो हम उनके जैसे बनने की कोशिश नहीं करेंगे क्या? बचपन में माँ कहा करती थी कि देखो हम तुम्हारे पसन्द की चीज, तुम्हारे मन की चीज देंगे लेकिन पहले तुम भगवान जैसे बैठो। तो हम भगवान जैसे बनकर आलथी-पालथी लगाकर हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाते थे। पर आँखें खुली रखते थे। माँ कहती थी-अरे! तुम तो आँख खोलकर बैठे हो। भगवान तो हमेशा आँखें बंद किए रहते हैं। आज समझ में आता है कि बचपन में माँ ने कितनी बड़ी बात इतनी सहजता से कह दी थी। भगवान ने सदा के लिए संसार के राग-द्वेष से आँखें बंद कर लीं। अपनी दृष्टि उस ओर से मोड़ ली। तभी उन्होंने वीतरागता प्राप्त की है। वे भगवान भी तभी बने हैं।

हम भगवान को आदर्श मानकर उनके जैसा बनना चाहते हैं तो हमें भी उनके जैसी वीतरागता अपने जीवन में लाने का अभ्यास करना होगा। हमें रोज-रोज आत्म-विश्लेषण या आत्मावलोकन (सेल्फ-इन्ट्रास्पेक्शन) करते रहना होगा कि वास्तव में हमारे कदम, हमारा जीवन वीतरागता की ओर बढ़ रहा है या नहीं। निर्मल-दृष्टि प्राप्त होने पर हमारे भीतर प्राणी मात्र के प्रति सद्भाव, सहानुभूति, सौंदर्य या अत्यन्त उदारता का भाव सहज ही उत्पन्न होने लगेगा। मैं अपने जीवन को आदर्श बनाऊँ और सब जीव भी अपने जीवन को आदर्श बनाएँ-ऐसी निर्मल दृष्टि होना ही तो दर्शन-विशुद्धि है। मेरे समान ही आत्मतत्त्व सबमें विद्यमान है, उस आत्मतत्त्व को देखने और उस आत्मतत्त्व को पाने की रूचि जागृत होना ही तो दर्शनविशुद्धि है। यह बात हम पहले ही समझ चुके हैं। साथ ही विनय-सम्पन्नता भी महानता की सूचक है, यह विचार भी कर चुके हैं।

आज हम विचार करें कि निर्मल दृष्टि और विनय-सम्पन्नता जिसने प्राप्त कर ली उसके हृदय में अपने स्वभाव को पाने, पापों से बचने, कषाय-भाव से बचने और अपने जीवन को आत्मानुशासित बनाने की बात आए बिना नहीं रहेगी। फिर अपना जीवन लापरवाही में पड़कर व्यर्थ गँवाने का नहीं होगा। अपने आत्म-कल्याण के प्रति सजग और सावधान होना, अपना आचरण सहज-सरल, निर्दोष और निर्मल बनाने का प्रयत्न करना-यही तो 'शीलव्रतेषु-अनतिचार' या 'निरतिचार-शीलव्रत' की भावना है।

सामान्यत: शील के मायने होता है स्वभाव या शील के मायने है ब्रह्मचर्य। लेकिन यहाँ पर शील का एक अर्थ और लिया है जिससे अहिंसा आदि व्रतों की रक्षा हो वह शील है। व्रतों की रक्षा होती है क्रोध आदि कषायों का त्याग करने से। इसलिए क्रोध आदि के त्याग का नाम भी शील है और व्रतों से तो सभी परिचित हैं। आचार्य उमास्वामी महाराज ने अपने तत्त्वार्थसूत्रजी में व्रतों की सीधी-सच्ची और अच्छी परिभाषा लिखी है-"**हिंसानृतस्तेयाब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्**"।। अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप है इसके विपरीत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच व्रत प्रसिद्ध हैं। श्रावक इन व्रतों का स्थूल रूप से पालन करता है और मुनिजन इन व्रतों का पूर्णरूप से पालन करते हैं। शील का पालन करने से व्रतों की रक्षा होती है। इसलिए श्रावक के लिए अणुव्रतों की रक्षा के लिए तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत ऐसे सात शील कहे गए हैं और मुनिराजों के लिए महाव्रतों की रक्षा के लिए पाँच-समिति और तीन गुप्ति का पालन करने रूप शील का उपदेश दिया गया है।

पाँच समिति और तीन गुप्ति - इनको अष्ट-प्रवचन मातृका कहा गया है। जैसे माता अपने पुत्र को अहित से बचाने के लिए, दोषों से बचाने के लिए सदा तत्पर रहती है उसी प्रकार समिति और गुप्ति अष्ट प्रवचनमाला भी मुनिराजों को दोषों से बचाने या चारित्र को निर्दोष बनाने में सहायक है। असल में, हमारे यहाँ व्रत, नियम, संयम या चारित्र सब निवृत्तिपरक हैं। जब हम निज में शुभ प्रवृत्ति करते हैं तो वहाँ भी अंतरंग में अशुभ से निवृत्ति का भाव है। हमारी शुभ प्रवृत्ति भी निवृत्तिपरक है यानी निवृत्तिपूर्वक प्रवृत्ति। जैसे - मौन रहना या वचन- व्यवहार नहीं करना यानी वचन-गुप्ति का पालन करना। इसमें तो पूर्ण रूप से निवृत्ति है। अब यदि प्रवृत्ति करना है, वचन बोलना है तो आचार्य महाराज कहते हैं कि सच बोलना। हित-मित-प्रिय वचन बोलना, यह प्रवृत्ति है। इसमें भी अपन देखें तो झूठ-वचन से निवृत्ति है, अहितकारी वचनों से निवृत्ति है, कठोर और निन्दापरक वचनों से निवृत्ति है। परिमित बोलना (टू द पोइंट), अनावश्यक और बहुत नहीं बोलना। देखो, वचनों में भी मितव्ययी होना सिखाया ताकि पाप से बच सकें। दोषों से बच सकें। यह है निवृत्तिमूलक शुभप्रवृत्ति। जिसमें अशुभ-प्रवृत्ति का त्याग है और शुभ-प्रवृत्ति में भी सावधानी है, प्रयत्न है, यत्नाचार है। इस तरह प्रवृत्ति और निवृत्ति का सन्तुलन रखने वाला ही अपने व्रतों का निर्दोष रूप से पालन कर पाएगा।

हम सब अपने जीवन में झाँककर देखें तो मालूम पड़ेगा कि सारी मुश्किलें असंतुलन के कारण आती हैं। व्यवहार में असन्तुलन हुआ कि आपस में व्यवहार बिगड़ गया। वचनों का असन्तुलन हुआ कि हम विवाद में पड़ गए। विचारों में असन्तुलन हुआ कि जीवन में उलझन खड़ी हो गयी। तो हमें ध्यान रखना चाहिए कि असन्तुलन न हो। किसी भी जगह 'अति' न हो। किसी भी चीज में 'अति' होना ही असन्तुलन है। खाने-पीने, उठने-बैठने, आने-जाने, बोलने, बात करने, लेने-देने में सभी जगह संतुलन बनाए रखना।

हमारे जीवन में असन्तुलन का मुख्य कारण है हमारी ही कषायों की तीव्रता। इसी कारण आचार्यों ने हमें और विशेष रूप से संतुलित, संयमित जीवन जीने का अभ्यास करने वाले व्रती जनों को कहा है कि

प्रशम-भाव रखो अर्थात् कषायों की मंदता का प्रयास करो। तीव्र कषाय करने वाला अपने व्रतों की रक्षा नहीं कर सकता। व्रतों की शोभा तो कषायों की मंदता में ही है। देखो, रावण अपने व्रतों का पालन करने में अत्यन्त दृढ़ था। उसने अपने व्रत का निर्वाह जीवन के अन्त तक किया। पर उसके अभिमान ने उसके व्रत की शोभा को नष्ट कर दिया। मान-कषाय की तीव्रता ने उसके व्रत को निस्तेज कर दिया। कोई भी उसका नाम त्यागी-व्रती की तरह गौरव से स्मरण नहीं करता।

इसी तरह द्वीपायन मुनि महाराज को देखें। वे महान मुनि थे। तपस्या के बल से उन्हें तेजस-ऋद्धि प्राप्त हुई थी। लेकिन क्रोध के वशीभूत होकर उन्होंने अपना ही अहित किया और द्वारिका भी उनके निमित्त से जल गई। क्रोध कषाय की तीव्रता होने से सारी तपस्या अकारण चली गई। इससे अपने को क्या शिक्षा लेनी चाहिए? यही शिक्षा लेनी चाहिए कि व्रत की शोभा, कषाय की मंदता से है, प्रशम-भाव से है। हम जीवन में छोटा-सा भी व्रत ग्रहण करें तो उस व्रत के साथ-साथ हमारे जीवन में सहजता, सरलता और निर्मलता भी आनी चाहिए। आचार्य श्री महाराज से जब कोई यह कहता था कि महाराज मुझे एक छोटा-सा व्रत दे दीजिए। तो वे कहा करते थे कि भाई! कोई व्रत छोटा, बड़ा नहीं होता। सभी व्रत महान हैं और हमारे कल्याण में सहायक हैं। व्रत लेने वाले को सदा स्व-पर कल्याण की भावना रखनी चाहिए।

रात्रि-भोज का त्याग करना, छोटा-सा नियम जान पड़ता है लेकिन वह छोटा व्रत नहीं है। वह भी हमें अनासक्ति और निर्विकल्प दशा की ओर ले जा सकता है। मान लो किसी ने एक वर्ष के लिए रात्रि-भोजन का त्याग कर दिया, तो इसका अर्थ है कि उसने एक तरह से छह महीने के उपवास जितना फल पा लिया क्योंकि प्रतिदिन बारह घंटे उसने निराहार रहने का अभ्यास किया। भोजन के प्रति आसक्ति में कमी आनी चाहिए और भोजन के विकल्प से उतनी देर के लिए मुक्त रहना चाहिए, तभी व्रत की शोभा है। किसी ने मान लो ऐसा संकल्प कर लिया कि मैं प्रतिदिन नौ बार णमोकार-मंत्र पढूँगा। यह नियम छोटा सा लगता है पर सोचें, णमोकार-मंत्र में पूरा द्वादशांग समाया है। यदि हमने णमोकार-मंत्र का उच्चारण किया है तो मानो द्वादशांग के प्रति और पाँचों परमेष्ठी के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति व्यक्त की है, तो श्रद्धा-भाव से णमोकार-मंत्र पढ़ने का संकल्प भी अपने-आप में बड़ा है और णमोकार-मंत्र पढ़ने के संकल्प की शोभा उसके प्रति सहज, निर्मल-श्रद्धा रखने में है।

बुंदेलखण्ड में वर्णीजी (क्षु. गणेशप्रसादजी वर्णी) का नाम प्रसिद्ध है। उनका जन्म मडावरा के पास हसेरा-गाँव में हुआ। वे जन्म से जैन नहीं थे। उन्होंने क्षुल्लक के व्रत धारण किए थे। उनकी प्रसिद्धि का कारण या उनके प्रति लोगों के मन में विशेष आदर का भाव, मात्र उनके व्रतों के कारण नहीं था बल्कि व्रतों के साथ-साथ उनकी सरलता, सहजता और प्रशमभाव के कारण था। तो अपने को यह बात स्पष्ट समझ में आ गई कि व्रत के साथ शील का होना कितना जरूरी है। व्रत धारण करने वाले के जीवन में निरन्तर आस्था बढ़ती जाए, प्रशम-भाव में कमी न आए, तो जीवन बहुत ऊँचा उठ सकता है।

एक शब्द और जुड़ा है निरतिचार। शील और व्रतों का निरतिचार पालन होना चाहिए अर्थात् उनमें अतिचार न लगे - इस बात का ध्यान रहे। अतिचार किसे कहते हैं यह जान लेना भी आवश्यक है। व्रतों में शिथिलता आना, व्रतों के पालन करने में उत्साह नहीं होना या व्रतों में दोष लगना इसे ही अतिचार करते हैं। व्रत लेने के बाद संभव है कि अज्ञानतावश या प्रमादवश उसमें दोष लग जावे तो सावधानी रखना जरूरी है। जैसे रात में अन्न से बनी चीजें नहीं खाने का नियम लिया। किसी के घर गए और अनजाने में या बातचीत करते-करते असावधानीवश अन्न से बनी कोई चीज खा ली। एकदम ध्यान आया तो तुरन्त छोड़ दी। यह अतिचार हुआ। अब जैसे अहिंसाणुव्रत लिया और किसी जीव को बंधन में डाल दिया, उसके साथ मारपीट कर दी, उनके छेदन-भेदन का कार्य कर दिया, उसे समय से भोजन-पानी नहीं दिया या उससे ज्यादा काम ले लिया, ये सब अतिचार हैं। ऐसे ही हर-एक व्रत के अतिचारों से बचना जरूरी है। तभी निर्दोष रूप से व्रतों का पालन होगा। अतिचार से बचने का सरल-सा उपाय है कि हम प्रतिक्षण सजग व सावधान रहें, अपने ग्रहण किए गए व्रतों के प्रति दृढ़ श्रद्धान रखें और सदा स्व. पर कल्याण की निर्मल भावना रखें।

अपने को पूर्व संचित पुण्य के कारण ऐसा कुल मिला जहाँ माँस, मदिरा और शहद (मधु) का सेवन नहीं करने का संस्कार बचपन से ही पड़ जाता है। माँस, मदिरा और मधु, ये अच्छे नहीं हैं ऐसा श्रद्धान प्रारम्भ से ही बन जाता है। यही श्रद्धान और संस्कार आगे चलकर हमें व्रत व शील को धारण करने और उनका निर्दोष रूप से पालन करने की प्रेरणा देते हैं। दो छोटी-छोटी सी घटनाएँ आपको सुनाता हूँ।

एक बाबाजी थे। भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करते थे। रोज किसी न किसी घर से भिक्षा लेकर पेट भर लेते थे। जिस दिन भिक्षा नहीं मिलती थी। उस दिन भूखे रहकर ही भगवान का भजन करते थे। एक दिन एक थानेदार के घर पहुँचकर भिक्षा माँगी तो थानेदार की जीवन-साथी ने भिक्षा तो नहीं दी, रूखी-सूखी चार बातें सुना दीं। बाबाजी कुछ नहीं बोले, चुपचाप खड़े-खड़े सुनते रहे। थानेदारनी को गुस्सा आया और गुस्से में फर्श पोंछने वाला गीला कपड़ा उठाकर बाबाजी की ओर फैंक दिया। बाबाजी ने प्रसन्न भाव से वह कपड़ा भिक्षा समझकर लिया और आगे बढ़ गए। रास्ते में नदी के किनारे उस कपड़े को धोकर सुखा लिया और उसकी छोटी-छोटी सी बाती बना लीं। थानेदार को घर आने पर जब मालूम पड़ा कि बाबाजी बिना भिक्षा लिए ही द्वार से चले गए, उन्हें थानेदारनी ने भिक्षा नहीं दी बल्कि फर्श पोंछने वाला पोंछा फेंका। बड़े दु:खी हुए और शाम को गाँव के बाहर मंदिर में, जहाँ बाबाजी रहते थे वहाँ पहुँचे। वहाँ जाकर देखा तो बाबाजी भगवान की आरती कर रहे थे और थानेदारनी की प्रशंसा कर रहे थे कि आज अच्छी भिक्षा में मिले कपड़े की बाती से भगवान की आरती उतारने का अवसर मिला। ''हे भगवान! जैसी यह बाती की ज्योति है, प्रकाश है, ऐसी ही प्रेम की ज्योति थानेदारनी के हृदय में जले जिससे घृणा व द्वेष का अंधेरा हट जाए और हृदय में प्रकाश फैले।'' थानेदार सारी बात सुनकर चकित रह गया। बाबाजी के चरणों में गिर पड़ा। थानेदारनी भी पीछे-पीछे आकर खड़ी हो गई थी। वह भी चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगी! देखो, बाबाजी का त्याग के साथ जो प्रशम-भाव

है, कषायों की मंदता है, निर्दोषपना है, उसका कितना प्रभाव पड़ा। हमारे आचार्य महाराज ने लिखा है कि शील व व्रत के पालन में गड़बड़ न हो तो आत्मा व मन पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। जो सम्पर्क में आता है वह भी प्रभावित होता है और अपना जीवन स्वयं भी प्रभावशाली बनता है, जैसे कस्तूरी की गंध और मेंहदी का रंग।

अंत में जैनेन्द्र कुमार का संस्मरण सुनाकर आज की बात पूरी करता हूँ। जैनेन्द्र कुमार ने लिखा कि एक दिन जब वे रामकथा सुनकर घर लौटे तो देखा कि बच्चे बाहर पड़े रेत के ढेर में घर बनाने का खेल कर रहे हैं। वे वहीं बगीचे में रखी बेंच पर बैठकर बच्चों का खेल खेलने लगे। बच्चे रेत में पैर फँसाकर बड़ी सावधानी से अपना-अपना घर बना रहे थे और घर बनाने का यानी नवनिर्माण का आनन्द ले रहे थे। हम बड़े लोग अपने जीवन में आनन्द पाने के लिए ढेरों उपाय करते हैं फिर भी आनंदित नहीं रह पाते। बच्चों के जीवन में छोटी-छोटी सी बातें भी उन्हें आनन्दित करती हैं। क्योंकि वहाँ सहजता है, हार्दिक-भाव है। घर, रेत का है, क्षण भर में ढह जाने वाला है पर सृजन का आनन्द अपना अलग है। मिट जाने की चिन्ता और पीड़ा बच्चों को नहीं घेरती इसलिए उनके द्वारा किया गया रचनात्मक कार्य आनन्द देता है। जैनेन्द्र कुमार ने देखा कि दो बच्चों ने अपना घर पास-पास बनाया है। लगता है दोनों भाई-बहिन हैं। बड़ी मजे की बात यह है कि घर बनाते समय यह भी ध्यान रखा गया है कि धुआँ कहाँ से निकलेगा तो बहिन ने रेत के घर में एक माचिस की तीली लगा दी है, मानो यह धुआँ निकलने की चिमनी है। इस पर पूरा घर बन गया।

अब सब अपने घर को दूसरे से ज्यादा बड़ा और अच्छा साबित करने में लग गए। तुलना होने लगी आपस में। भाई ने बहिन से कहा कि मेरा घर तुमसे बड़ा है। बहिन ने भी सहज-भाव से कहा कि मेरा घर भी तुमसे बड़ा है। फिर बात दुगुने और चौगुने पर पहुँच गई और बढ़ते-बढ़ते बात सौ गुने तक पहुँची। गिनती इतनी ही आती थी। तो बहिन ने सोचते-सोचते कहा कि मेरा घर रामजी बराबर बड़ा। अब भाई क्या कहे, उसे कुछ नहीं सूझा तो बोला कि मेरा घर तो दो रामजी बराबर बड़ा। ऐसा सुनते ही बहिन जोर-जोर से हँसने लगी। सभी बच्चे हँसने लगे और बहिन ने भैया को समझाते हुए कहा कि भैया! रामजी दो नहीं होते। रामजी तो एक ही हैं। बात तो छोटी-सी थी पर जैनेन्द्र कुमार ने लिखा कि बच्चों की भगवान के प्रति ऐसी अटूट श्रद्धा देखकर लगा कि मैं वर्षों से रामकथा सुन रहा हूँ पर जैसी दृढ़ आस्था बच्चों की है वैसी शायद मेरी नहीं है।

भैया! निरतिचार व्रत और शील का पालन ऐसी ही दृढ़ आस्था के साथ करना चाहिए। हमें अपने जीवन में सच्ची श्रद्धा और आत्म-कल्याण की भावना के साथ व्रत और शील को धारण करने में तत्पर रहना चाहिए तथा ग्रहण किए हुए व्रत व शील का पालन निर्दोष रूप से करना चाहिए, जिससे हमारा जीवन स्वस्थ और प्रसन्न बने। शान्त और सबल बने। हमारी चेतना इतनी परिष्कृत हो कि हम भी तीर्थंकरों के जैसा आदर्श जीवन जी सकें।

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे।
सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्य परिवारा। ९।।

शीलपाहुड़ की 19वीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि स्वभाव तथा प्रकृति का नाम शील है। मिथ्यात्व सहित कषाय रूप ज्ञान की परिणति दु:शील है, इसको संसार प्रकृति कहते हैं और इसके विपरीत अर्थात् सम्यक् सहित ज्ञान की प्रकृति को सुशील कहा है इसको मोक्ष सम्मुख प्रकृति कहते हैं। ऐसे सुशील के जीवदया, इन्द्रियों का दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप आदि परिवार कहे हैं। संसार प्रकृति के पलटने से संसार और देह से वैराग्य होता है। मोक्ष से अनुराग होने पर सम्यग्दर्शनादि परिणाम होते हैं। जो मोक्ष के सम्मुख होगा यही सुशील है और यह प्रकृति जिसके होती है उसके संसार का अन्त होता है।

अनगारधर्मामृत के अध्याय 4 श्लोक 172 में पं. आशाधर जी ने लिखा है कि जिसके द्वारा व्रतों की रक्षा की जाये, उसको शील कहते हैं।

शीलपाहुड़ की 40वीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि पंचेन्द्रिय विषयों से विरक्त होना शील कहलाता है।

शील की महिमा का वर्णन करते हुए कवि ने कितना सुन्दर कथन किया है –

शील सदा सुखकारक है, अतिचार-विवर्जित निर्मल कीजे।
दानव देव करे वसु सेव, विषानलभूत पिशाच पती जे।।
शील बड़ा जग में हथियार, जुशील की उपमा काहे की दीजे।
'ज्ञान' कहे न शील बराबर, ताते सदा दृढ़शील धरीजे।।

शील सदा ही सुखकारी है इसको अतिचार-रहित निर्मल अर्थात् स्वच्छ कीजिए। इस पर देव, दानव, भूत, पिशाच आदि सभी विश्वास करते हैं। शील से बड़ा हथियार संसार में दूसरा नहीं है, फिर शील की उपमा किससे दी जा सकती है? अर्थात् नहीं दी जा सकती है। शील के बराबर कुछ भी नहीं है इसलिए शील का सदा दृढ़ता से पालन कीजिए।

शील सदा दृढ़ जो नर पालै, सो औरन की आपद टालै। जो मनुष्य शील को दृढ़ता से पालते हैं, वे दूसरे की विपदा को दूर कर देते हैं।

जिसके द्वारा व्रतों की रक्षा अतिचार रहित की जाती है, उसे शीलव्रतेष्वनतिचार भावना कहते हैं।

शीलव्रतेष्वनतिचार का अर्थ – राजवार्तिक में कहा है कि अहिंसादि पाँच व्रतों को पालने के लिए क्रोधादि कषायों के त्यागरूप शील में वन-वचन-काय की जो निर्दोष प्रवृत्ति है वह शील व्रतेष्वनतिचार भावना है। आत्मा के स्वभाव का नाम शील है, आत्म स्वभाव का घात करने वाले हिंसादि पाँच पाप हैं। उनमें

कामसेवन नाम का एक ही पाप हिंसादि सभी पापों को पुष्ट करता है तथा क्रोधादि सभी कषायों को तीव्र करता है।

यह शील दुर्गति के दुःख को हरने वाला है। स्वर्गादि शुभगति का कारण है। शील बिना तप करना, व्रत धारण करना, संयम पालना, मृतक के शरीर समान कार्यकारी नहीं है। शील रहित तप, व्रत-संयम, धर्म की निन्दा कराने वाला है। ऐसा जानकर शील नाम के धर्म के अंग का पालन करो, चंचल मन रूपी पक्षी का दमन करो और अतिचार रहित शुद्ध शील को पुष्ट करो।

मन हाथी के समान है - धर्मरूपी वन का विध्वंस करने वाले मनरूपी मदोन्मत्त हाथी को रोकना चाहिए। चलायमान होकर मनरूपी हाथी महान अनर्थ करता है। जैसे-मतवाला हाथी अपने स्थान से निकल भागता है। उसी प्रकार काम से उन्मत्त हुआ मन रूपी हाथी अपने स्वभाव रूप स्थान से निकल भागता है। कुल की मर्यादा, सन्तोष आदि छोड़ देता है। मदोन्मत्त हाथी सांकल तोड़कर भाग जाता है। यह मनरूपी हाथी सुबुद्धिरूपी सांकल तोड़कर घूमता है। हाथी तो मार्ग में चलाने वाले महावत को गिरा देता है। कामी का मन सम्यग्धर्म के मार्ग में प्रवर्तानि वाले ज्ञान को दूर कर देता है। मत्त हाथी अकुंश को नहीं मानता, मनरूप हाथी गुरूओं के शिक्षाकारी वचनों को नहीं मानता है। हाथी तो फल व छाया देने वाले बड़े वृक्षों को उखाड़ फेंकता है। काम से उद्दीप्त मन स्वर्ग, मोक्षरूपी फल को देने वाले तथा यशरूपी सुगन्ध को फैलाने वाले समस्त विषयों के आतप को हरने वाले ब्रह्मचर्य रूपी वृक्ष को उखाड़ फेंकता है।

हाथी मैल, कीचड़ आदि को दूर करने वाले सरोवर में स्नान करके मस्तक के ऊपर धूल डालता हुआ धूल से खेलता है। काम से व्याप्त मन सिद्धान्तरूप सरोवर में स्नान करके अनेक प्रकार के अज्ञानरूप मैल को धोकर भी पापरूप धूल से खेलता है। हाथी तो कानों की चपलता दिखलाता है। काम संयुक्त मन पाँचों इन्द्रियों के विषयों में चंचलता दिखलाता है। हाथी तो हथिनी में रति करता है। काम युक्त मन कुबुद्धि रूपी हथिनी में रमता है। हाथी स्वच्छन्द होकर डोलता है। मन भी स्वच्छन्द होकर डोलता है। हाथी तो मद से मस्त रहता है। कामी का मन रूपादि आठ मदों से मस्त रहता है। हाथी के पास कोई पथिक नहीं आता दूर से ही भाग जाता है। काम से उन्मत्त मन के नजदीक भी एक भी गुण नहीं रहता है।

इसलिए इस काम से उन्मत्त मन रूपी हाथी को वैराग्य रूपी खम्बे से बांधों, यदि यह खुला रहा तो महान अनर्थ करेगा। ये काम अनंग है। इसके पास अंग नहीं है। यह तो मनसिज है। मन से ही इसका जन्म होता है। मन का मंथन करने वाला है। इसलिए इसे मन्मथ कहते हैं। संवर का अरि अर्थात् बैरी है इसलिए इसे संवरारि कहते हैं। काम से खोटा दर्प अर्थात् गर्व उत्पन्न होता है इसलिए इसे कंदर्प कहते हैं। इसके द्वारा अनेक मनुष्य-तिर्यञ्च परस्पर लड़कर मर जाते हैं इसलिए इसे मार कहते हैं। इसी कारण मनुष्यों में अन्य इन्द्रियों के अंग तो प्रकट हैं। काम के अंग ढके हुए हैं। उत्तम पुरुष तो काम के अंग का नाम भी उच्चारण नहीं करते इसके

समान दूसरा पाप नहीं है। धर्म से भ्रष्ट करने वाला काम ही है। इस काम ने ऋषि, मुनि, देवता, हरि, हर, ब्रह्मा आदि को भ्रष्ट करके अपने अधीन किया है। इसलिए मोक्षाभिलाषी को काम पर विजय पाना आवश्यक है।

मन, वचन, काय से स्त्रियों में राग का त्याग करो। स्वयं कुशील के मार्ग पर नहीं चलो। दूसरे को कुशील के मार्ग का उपदेश नहीं दो। जो कुशील के मार्ग पर चलता हो, भव्य जीव उसकी अनुमोदना नहीं करते। बालिका स्त्री को देखकर उस पर पुत्रीवत् निर्विकार बुद्धि करो। समान उम्र की स्त्री को बहन की तरह मानो। बड़ी उम्र की स्त्री को मातावत् मानो।

जो शीलवान हैं उनकी दृष्टि स्त्रियों पर जाते ही उसके नेत्र बन्द हो जाते हैं। जो स्त्रियों से वचनालाप करेगा, स्त्रियों के अंगों को देखेगा उसका शील अवश्य भंग होगा। इसलिए जो विवेकी गृहस्थ हैं उनके तो एक अपनी स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों की संगति, अवलोकन, वचनालाप का त्याग होता है तथा अन्य स्त्रियों की कथा का विचार स्वप्न में भी नहीं आता है। वे एकान्त में माता, बहन, पुत्री के साथ भी नहीं रहते हैं।

स्त्री के समान इस जीव का बुरा करने वाला अन्य कोई नहीं है। इसलिए सज्जन लोग इसे नारी कहते हैं। दोषों को प्रत्यक्ष देखते-देखते ही ढक लेती है। अतः इसे स्त्री कहते हैं। इसे देखने से पुरुष का पतन हो जाता है। इसलिए इसका नाम पत्नि है। कुमरण होने का कारण है। इसलिए इसका नाम कुमारी है। इसकी संगति से पौरुष, बुद्धि, बल आदि नष्ट हो जाते हैं। इसलिए इसे अबला कहते हैं। संसार के बंध का कारण है। इसलिए इसका नाम वधु है। कुटिलता-मायाचार का स्वभाव रखती है। इसलिए इसका नाम वामा है। इसके नेत्रों में कुटिलता बसती है। इसलिए इसे वामलोचना कहते हैं।

शीलवन्त को इन्द्र भी नमस्कार करता है, शीलवान पुरूष रत्नत्रय धन लेकर कामादि लुटेरों के भय से रहित निर्वाणपुरी की ओर गमन करते हैं। शील से भूषित, रूप रहित हो, मलिन हो, रोगादि सहित हो तो भी अपनी संगति से सभी सभाजनों को मोहित करता है। शीलरहित व्यभिचारी पुरुष में कामदेव समान रूप हो तो भी लोग उस पर थू-थू कर ही जाते हैं। इसका नाम ही कुशील है।

शील का नाम स्वभाव है - कहा भी है- पयही शील सहावो, जीवं गाढ अणादि सम्भाद्यो। शील तो आत्मा का स्वभाव है, वह काम से खोटा हो जाता है। इसलिए इसको कुशील कहते हैं। कामी मनुष्य धर्म से, आत्मा के स्वभाव से, व्यवहार की शुद्धता से रहित हो जाता है। इसलिए इसे व्यभिचारी कहते हैं। इसके समान जगत में अन्य खोटा कर्म नहीं है। इसलिए इसे कुकर्म कहते हैं। कामसेवन के समय मनुष्य पशु के समान हो जाता है। इसलिए इसे पशुकर्म कहते हैं। ब्रह्म अर्थात् आत्मा का ज्ञान-दर्शन आदि स्वभाव का इससे घात होता है। अतः अब्रह्म कहते हैं जिसने शील की रक्षा की उसे अपने स्वभाव से चलायमान नहीं होना चाहिए। शीलगुण सभी गुणों में बड़ा है। शील सहित पुरुष का थोड़ा भी व्रत, तप, प्रचुर फल देता है तथा शील बिन बहुत भी व्रत, तप निष्फल हो जाते हैं। इस प्रकार जानकर अपनी आत्मा में शील की शुद्धता के लिए नित्य

शील ही को पूजो। यह शीलव्रत मनुष्य जन्म में ही है, अन्यगति में नहीं। अत: जन्म सफल करना चाहते हो तो शील की उज्ज्वलता को प्राप्त करो।

स्त्रियों में राग उत्पन्न करने वाली कथाओं को सुनने का त्याग, स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने का त्याग, पूर्व में भोगे गये भोगों का स्मरण करने का त्याग, कामोद्दीपन करने वाले पौष्टिक और इन्द्रियों की लालसा उत्पन्न करने वाले रसों का त्याग, शरीर के श्रृंगार करने का त्याग, ये पाँच भावनायें शील को दृढ़ करती है।

एक समय एक आचार्य महाराज अपने संघ के साथ विहार कर रहे थे। वे रास्ता भूल गये। कुऐं पर एक लड़की पानी भर रही थी। उन्होंने उस लड़की से रास्ता पूछा। लड़की ने रास्ता बता दिया। पूरा संघ अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच गया। स्थान पर पहुँच कर आचार्य ने शिष्यों से कहा कि रास्ते में जो दोष लगा है उसका प्रायश्चित लो। शिष्यों ने गुरु से कहा कि आज तो प्रायश्चित आप लेंगे। आपने रास्ते में उस लड़की से क्या पूछा था? आचार्य महाराज बोले कि हमने रास्ता पूछा था। शिष्यों ने कहा कि क्या प्रमाण है कि आपने रास्ता ही पूछा था। आचार्य महाराज शिष्यों की बात सुनकर दंग रहे गये और कहने लगे वास्तव में प्रायश्चित के अधिकारी हम ही हैं। तुरन्त आचार्य महाराज ने प्रायश्चित लिया। यह बात लोक व्यवहार से भी विरूद्ध है। शील को अधोलिखित अतिचारों से बचाना चाहिए।

बंध, वध, छेद, अधिक भार लादना और अन्नपान का निरोध करना - ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं। पशु आदि जीवों को रस्सी इत्यादि से बांध कर रखना बंधातिचार है। प्राणियों को लकड़ी आदि से मारना वधातिचार है। नाक, कान आदि अंगों को छेदना छेदातिचार है। प्राणी की शक्ति से अधिक भार लादना अतिभारारोपणातिचार है। प्राणियों को ठीक समय पर खाना-पीना न देना अन्नपान निरोधातिचार है।

मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद, ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं। परमागम के विरूद्ध झूठा उपदेश देना मिथ्योपदेश है। किसी की गुप्त बात को प्रकट करना रहोभ्याख्यान है। झूठे पत्र आदि, पत्र के प्रयोग के वश से कोई खोटा लेख लिखना कूटलेखक्रिया अतिचार है। कोई मनुष्य कुछ वस्तु दे गया और फिर वापिस माँगते समय उसने कम माँगी तब ऐसा कहकर कि तुम्हारा जितना हो उतना ले जाओ तथा बाद में कम देना न्यासापहार अतिचार है। हाथ आदि की चेष्टा से दूसरे के अभिप्राय को जानकर, उसे प्रगट कर देना साकारमंत्रभेद अतिचार है।

चोरी के लिए चोर को प्रेरणा देना या उसका उपाय बताना, चोर से चुराई हुई वस्तु को खरीदना, राज्य की आज्ञा के विरूद्ध चलना, देने-लेने के बाट, तराजू आदि कम ज्यादा रखना और कीमती वस्तु में कम कीमत की वस्तु मिलाकर असली भाव से बेचना ये अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

दूसरे के पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना-कराना, पति सहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास आना-जाना, लेन-देन रखना, रागभाव पूर्वक बात-चीत करना, पति रहित व्यभिचारिणी स्त्री (वेश्यादि) के यहाँ जाना-आना, लेन-देन आदि का व्यवहार रखना, अनंग क्रीड़ा अर्थात् काम-सेवन के लिए निश्चित अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से काम सेवन करना और काम सेवन की तीव्राभिलाषा, ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

क्षेत्र और रहने के स्थान पर परिमाण का उल्लंघन करना, चाँदी और सोने के परिमाण का उल्लंघन करना धन (पशुआदि) तथा धान्य के परिमाण का उल्लंघन करना, दासी और दास के परिमाण का उल्लंघन करना, ये पाँच परिग्रह प्रमाण के अतिचार हैं।

दिन ढल चुका था। नन्हीं-नन्हीं बूंदे गिरने से हवा ठण्डी हो गई थी। सभी अपना-अपना काम पूरा करके अपने घर आ गये थे। रास्ते में कीचड़ होने से रास्ता चलना मुश्किल हो रहा था। इसी समय एक 16 वर्ष का किशोर युवक गाड़ी के पीछे-पीछे दौड़ता हुआ आ रहा था। उसके मुख से गाड़ी रोको-रोको की आवाज़ आ रही थी। गाड़ी के अन्दर बैठे हुए व्यक्ति ने कोचवान से कहकर गाड़ी रूकवाई। लड़के ने समीप आकर कहा कि तीन दिन पहले गाड़ी के कोचवान ने गाड़ी में लालटेन जलाने के लिए एक पैसे की दियासलाई मोल ली थी। उस समय आप एक पैसे की जगह अठन्नी दे गये थे। मैंने अंधेरे में नहीं देखा, आप अठन्नी ले लें और मुझे एक पैसा दे दें। उस लड़के की बात पर व्यक्ति को बड़ा आश्चर्य हुआ। यदि मैंने अठन्नी तुम्हें दे दी तो तुम्हें कुछ न कुछ मिला ही। लड़के ने कहा कि जब मेरी अठन्नी नहीं है तो मैं क्यों रखूं? मैं दिन भर की कमाई से काम चला लेता हूँ। तुमने यह अठन्नी चुराई थोड़े ही है। आदमी को हमेशा कमाई पर विश्वास रखना चाहिए। लड़के की बात सुनकर रईस दंग रह गया। उसने मन ही मन लड़के की प्रशंसा की। आज ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जिससे समाज में फैली घूसचोरी, बाजारी आदि का सर्वनाश हो जाय।

ये पाँच भावनायें अथवा अतिचार दूर कर शील का पालन करना चाहिए। अतिचार और अनाचार में बड़ा अन्तर है अतिचार दोष है जो लगाये नहीं जाते, लग जाते हैं किन्तु अनाचार सम्पूर्ण व्रत को ध्वंस करने की प्रतिक्रिया है।

एक पुरानी रस्सी से बाल्टी खींची जा रही है। रस्सी चट-चट कर रही है। पानी खींचने वाला बाल्टी को ग्रहण कर ऊपर ले आता है। इस प्रकार बाल्टी और रस्सी को बचा लेता है। अगर वह बाल्टी को बीच में ग्रहण नहीं करता तो बाल्टी और पानी दोनों ही हाथ से चले जाते। चट-चट की आवाज अतिचार है और भरी बाल्टी से हाथ धो बैठना, अनाचार है। रावण के व्रतों में अतिचार तो अवश्य लगे किन्तु व्रत भंग नहीं हुए। जो इस व्रत के सम्पर्क में पड़ जाते हैं बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकते। कस्तूरी को अपनी सुगन्ध के लिए क्या प्रतिज्ञा करनी पड़ती है? उसकी सुगन्ध चारों ओर विकीर्ण हो जाती है। बगीचे में गुलाब का फूल खिला हुआ है और आप कहीं भी बगीचे में बैठे हों तो आपकी नाक में उसकी सुगन्ध प्रवेश अवश्य करेगी।

मुनिराज निरतिचार व्रत के पालन में पूर्ण सचेष्ट रहते है। मुनिराज तो शील के अठारह हजार दोष बताते हैं। ऐसे वीतरागी साधु के दर्शन मात्र से सब दु:ख भाग जाते हैं।

शील के अठारह हजार दोष :-

स्त्रियाँ दो प्रकार की होती है -	1. चेतनात्मक	2. अचेतनात्मक	
चेतनात्मक स्त्रियों के तीन भेद हैं -	1. मनुष्यनी	2. तिर्यंचनी और	3. देवी
अचेतनात्मक स्त्रियों के तीन भेद हैं -	1. काष्ठांग	2. पाषाण और	3. चित्राम

तीन चेतनात्मक को मन, वचन, काय से गुणा करने पर 3×3=9 इनकी कृत, कारित, अनुमोदना से गुणा करने पर, 9×3=27, इनको आहार, मैथुन, भय, परिग्रह इन चार संज्ञाओं से गुणा करने पर 27×4=108, इनको 5 भाव इन्द्रिय व 5 द्रव्य इन्द्रिय से गुणा करने पर इसके 1080 भेद हो जाते हैं एवं 1080 को 16 कषायों से गुणा करने पर 17280 चेतनात्मक स्त्रियों के भेद हो जाते हैं।

तीन अचेतनात्मक-काष्ठांग, पाषाण, चित्राम को कृत, कारित, अनुमोदना से गुणा करने पर 3×3=9 इनको 5 भाव इन्द्रियों से गुणा करने पर 9×5=45 इनको 16 कषायों से गुणा करने पर 45×16=720 अचेतनात्मक स्त्रियों के भेद हो जाते हैं।

कुशील के दोष - चेतनात्मक + अचेतनात्मक

17280+720=18000 इस तरह शील के अठारह हजार दोषों से रहित निरतिचार व्रत पालन करने की महिमा अद्भुत है।

एक भिक्षुक झोली लेकर एक-एक द्वार पर रोटी माँग रहा था। रूखा जवाब मिलने पर भी वह नाराज न होकर आगे बढ़ जाता। एक थानेदार को तरस आ गया। वह उस भिक्षुक को बुलाने लगा। भिक्षुक के न रुकने पर एक नौकर को उसके पास भेज दिया। भिक्षुक बोला मैं रिश्वत का अन्न नहीं खाता और भिक्षुक चला गया। नौकर ने वापस आकर वही शब्द दोहरा दिये कि मैं रिश्वत का अन्न नहीं खाता। थानेदार की आत्मा में वे शब्द प्रवेश कर गये और उसने सदा के लिए रिश्वत लेने का परित्याग कर दिया। भिक्षुक की प्रतिज्ञा ने, उसके व्रत ने दूसरे की जिन्दगी सुधार दी। निरतिचार पालन करने वाला स्वयं तो तिरता ही है दूसरों को भी तिरा देता है। वह स्वयं तो मंजिल पर पहुँचता ही है दूसरों को भी मंजिल पर पहुँचाने में सहायक बन जाता है। उस भिक्षुक की प्रतिज्ञा के कारण उस थानेदार की आत्मा भी सफल बन गयी।

एक ब्राह्मण के एक लड़का था। ब्राह्मण ने उससे एक लड़की से शादी करने के लिए कहा। पहले लड़का इंकार करता रहा परन्तु कई बार कहने पर बोला मैं अँधी लड़की से शादी करूँगा। अँधी लड़की से उसकी शादी हो गई। उस लड़की से उनके तीन लड़के पैदा हुए। एक दिन अँधी लड़की भी बोली कि आप तो

मंत्र जानते हैं मेरी आँख खोल दो मैं भी संसार देख लूंगी। उसके पति ने बहुत मना किया लेकिन वह नहीं मानीं तब उसने आँखे खोल दीं, फिर उसके एक पुत्र पैदा हुआ। स्त्री ने पूछा आप मेरी आंख खोलना क्यों नहीं चाहते थे? ब्राह्मण बोला, मेरी बात की परीक्षा कर लो। आज रोटी मत बनाना। अगर कोई पूछे तो कह देना तुम्हारे पिताजी ने मुझे पीट दिया है इसलिए रोटी नहीं बनाई। स्त्री ने वैसा ही किया। बड़ा लड़का आया और दु:ख मनाने लगा कि लड़ाई आपकी, भूखे हम मरे। इस प्रकार वे दोनों लड़के भी आ गये। तब चौथा लड़का जो आँखे खुलने के बाद हुआ था, आया। उसने भी रोटी माँगी, उसको भी यही जवाब मिला तब उसने तड़क कर कहा तू रोटी बना मैं देख लूँगा। तब ब्राह्मण ने पत्नि से पूछा जब वह गर्भ में था तो किसी को देखकर विचार आया था क्या? तब स्त्री ने कहा कि और तो विकार नहीं। एक रोज एक पहलवान को मैंने देख लिया था तब मन में विचार आया तो यह आज जवाब दे रहा है। इसीलिए कहते हैं कि दूसरों के ऊपर दृष्टि पड़ने पर अगर भाव विकृत हो गये तो ब्रह्मचर्य में दोष आता है फिर उसकी संतान भी वैसी होती है। इसलिए अपने व्रतों को निरतिचार पालन करना चाहिए। शीलवान पुरुष को निम्न बातें ध्यान में रखना चाहिए।

1. जहाँ पर स्त्री ठहरी हो या नपुंसक हो, वहाँ पर नहीं ठहरना।
2. शीलवान को स्त्री कथा नहीं करना चाहिए।
3. स्त्री के आसन पर नहीं बैठना चाहिए।
4. स्त्री के रूप को नहीं निहारना चाहिए।
5. जहाँ पर स्त्रियाँ रागभरी बातें करती हों वहाँ पर नहीं ठहरना चाहिए।
6. पिछले भोगे हुए भोग याद नहीं करना चाहिए।
7. पौष्टिक पदार्थ नहीं खाना चाहिए।
8. रसों का त्याग कर भोजन करना चाहिए।
9. शरीर का श्रृंगार नहीं करना चाहिए।

ये नौ बातें शील की बाढ़ अर्थात् रक्षक हैं। सभी के कोई न कोई व्रत अवश्य होना चाहिए। व्रत बड़े ही मार्मिक होते हैं। व्रत पर अडिग रहने से सभी कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाते हैं। व्रतों को निरतिचार पालने से संसारिक सुख ओर पारमार्थिक सुख दोनों प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार शील की नौ बाढ़ को अपना कर जो ज्ञानी जन अपने ब्रह्मचर्य व्रत का निरतिचार पालन करते हैं और किसी प्रकार का कोई दोष नहीं लगने देते वे परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इसलिए हे भव्य आत्माओं! निरतिचार दृढ़तापूर्वक अपने शील का पालन करके इस भव सागर को पार करके शाश्वत सुख का रसपान करते हए अपने में लीन हो जाओ।

शील की प्रशंसा करते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं –

शीलेन हि त्रयो लोका, शक्या जेतुं न संशयः।
न हि किंचिद साध्यं, त्रैलोके शीलवतां भवेत्॥

शील के द्वारा तीन लोक पर विजय प्राप्त की जा सकती है इसमें कोई संशय नहीं। शीलवानों के लिये संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है। जिसने अपने ब्रह्म स्वरूप को पहचान लिया उसका मनोबल जागृत हो जाता है। वह अपने मन और इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

धन नाशे-नाशे धरम, करे जो हिंसा जान।
शाकाहारी मनुज ही, अहिंसक बने महान्।।

''अहिंसा परमो धर्मः'' प्राणी मात्र का धर्म है। अहिंसा धर्म को पार करना जैसे मुकुट बिना राजा एवं शिखर रहित मन्दिर शोभायमान नहीं है वैसे ही अहिंसा धर्म के बिना मानव की शोभा नहीं होती। धर्म की इमारत दयारूपी नींव पर ही खड़ी होती है क्योंकि अहिंसा धर्म के बिना कोई भी धर्म जीवित नहीं रह सकता है। अतएव धर्म तथा आत्मा को जीवित रखने के लिए अहिंसा धर्म ही कार्यकारी है। पुरूषार्थ सिद्धि उपाय में ''अमृतचंद्रसूरि'' हिंसा और अहिंसा की परिभाषा स्पष्ट रूप से कर रहे हैं। यह पुरुषार्थ सिद्धि उपाय चरणानुयोग शास्त्र है। इसमें कहा गया है –

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पर्त्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप।। पु.उ.।।

अर्थ – निश्चय करके रागादिभावों का प्रगट न होना यह ''अहिंसा'' है और उन्हीं रागादि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है, ऐसा जैन सिद्धान्त का सार है और भी ''उमास्वामी आचार्य'' ने तत्वार्य सूत्र में कहा है ''प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'' अर्थात् प्रमाद के योग से प्राणियों का घात करना हिंसा है। आरम्भी हिंसा, ''उद्योगी हिंसा'', इसमें सबसे बड़ी संकल्पीं हिंसा मानी है। अपना अधिकार एवं बड़प्पन दिखाने के लिए ईर्ष्यावश दूसरे को नीचा दिखाने हेतु उसके प्रति बुरे परिणाम करना भी संकल्पी हिंसा है। इसी पर एक कथा है – यह कथा बड़ी रोचक एवं मन मोहक है।

पुष्पदंत प्रभु का जन्म स्थान काकन्दीपुर में एक शूरसेन नामक राजा था। वह बड़ा प्रजावत्सल न्यायप्रिय था। एक समय वह राजा दिगम्बर मुनि से अणुव्रत धारण कर जैनधर्मी बन गया। पर एक दुष्ट रूद्रदत्त नामक वेदपाठी के बहकाने में आकर ''यज्ञ'' में प्राणियों का हिंसा करना धर्म है इत्यादि विपरीत मान्यताओं के कारण रसोईये को आज्ञा दी कि मुझे जल में, बिल में, थल में रहने वाले जीवों को मारकर मांस पकाकार खिलाओं। प्रतिदिन रसोईये ने घोर हिंसा करना शुरू कर दिया। एक दिन वह रसोईया सर्प के काटने से मरकर अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य नामक मगरमच्छ हो गया। जो एक हजार योजन लम्बा ५००

योजन चौड़ा और २५० योजन मोटा था। मत्स्य अनंतानंत जीवों को खाकर फिर ६ माह तक मुख फाड़कर खुर्राटे लेता था। वह राजा मरकर इसी महामत्स्य के कान में ''तंदुल'' नामक मत्स्य हुआ। वह सोचता कि देखो ये कितना अभागा है मुख में आये प्राणी को भी नहीं खाता। मैं होता तो एक जीव को भी नहीं छोड़ता। इसी महान संकल्पी हिंसा रूप खोटे परिणामों के द्वारा तंदुल मत्स्य सातवें नरक में गया और महामत्स्य ने भी तैंतीस सागर उत्कृष्ट आयु को लेकर उसी सातवें नरक में जन्म लिया। वहाँ पर दो नारकी परस्पर वार्तालाप करने लगे। महामत्स्य ने कहा भाई मैंने तो घोर हिंसा की, अत: मुझे यहाँ आना पड़ा पर आपने तो कोई हिंसा नहीं की मात्र कान का ही मल भक्षण करते थे फिर आप यहाँ कैसे आ गये? तंदुल मत्स्य ने उत्तर दिया, भाई क्या बताऊँ, मैं मात्र मानसिक संकल्प रूप ध्यान करता रहा, इसी कारण से मुझे यहाँ पर आना पड़ा। कर्मों की विचित्रिता है, यह प्राणी स्वार्थ वश क्या-क्या अनर्थ नहीं करता है? जगह-जगह पशुओं की हत्या हो रही है। जो दुर्गति का कारण है, अत: दयालु ऋषि कह रहे हैं हे भव्य! बिना दया धर्म के आपका जीना व्यर्थ है।

सुख शांति के दीपों की, सजा आज आरती।
धो लो हृदय का मैल, अहिंसा पुकारती।।

''खुद जिओ एवं जीने दो'' मात्र एक ही सूत्र में कितना बड़ा रहस्य है। जिस प्रकार पटरी बिना गाड़ी चलने में असमर्थ है उसी प्रकार यह जीवन रूपी गाड़ी अहिंसा धर्म रूपी पटरी बिना व्यर्थ है। जिस तरह बिना वृक्ष, नींव बिन मकान, बाड़ बिना खेत, पुल बिना नदी ठहरने में असमर्थ है उसी तरह दया रूपी जड़ बिना यह धर्म भी ठहरने में असमर्थ है। इसी प्रसंग में एक बात याद आ जाती है। जब जयपुर के नरेश ने दीवान जी को शिकार हेतु प्रेरित किया था तब दीवान जी ने शिकार के प्रति अत्यन्त घृणा प्रकट की थी। जयपुर के नरेश कहते हैं, हे दीवान जी! मैं तुम्हें सच्चे रूप में अहिंसक तभी मानूंगा जब तुम एक सिंह को भी अहिंसक बना दोगे। फौरन दीवान जी सिंह के पिंजड़े में जाकर उसके सामने खीर रख देते हैं। सिंह खीर को सूंघकर खिसक जाता है इसी तरह चार दिन तक बराबर दीवान जी ने सिंह के सामने खीर रक्खा, पर मांस भोजी सिंह ने खीर नहीं खाई। पाँचवे दिन दीवान जी सिंह के सामने जलेबी रखकर कहते हैं हे सिंह वनराज! या तो खुशी-खुशी के साथ इस जलेबी को खाओ या मेरे को भक्षण करो, मैं अपना जीवन अपर्ण करने को तैयार हूँ। तभी सिंह मन में सोचता है, अहो यह नरेश अपने जीवन को अर्पण कर रहे हैं मेरे लिए, कहाँ मैं तुच्छ जीवों की हिंसा करके अपना पेट भर रहा हूँ। धिक्कार है मेरे जीवन को, ऐसा सोचकर फौरन बड़ी खुशी के साथ सिंह जलेबी खाने लगा। यह दृश्य देखकर सभी अहिंसा धर्म के नारे लगाने लगे। वैज्ञानिक लोगों ने भी अहिंसा धर्म की पुष्टि करके पानी की एक बूँद में 36450 जीव सिद्ध किये हैं। अनछने जल पीने से महान हिंसा होती है। अत: पानी छानकर पीना बताया है। खादी के दोहरे छन्ने से पानी छानना चाहिए।

गिरती मनुष्यता को अहिंसा उबारती।
धोलो हृदय का मैल अहिंसा पुकारती।।

अहिंसा धर्म के बल पर ही "जैन संस्कृति" एवं "श्रमण संस्कृति" कायम रहेगी एवं २४ तीर्थंकर और संतों ने मुक्ति प्राप्त किया।

अत: अन्दर की रागद्वेष कषाय रूपी कालिका को तजकर प्राणि मात्र के साथ मैत्री भाव व दीन दु:खियों पर करुणा भाव रखना यही सबसे बड़ी अहिंसा है। भावना शुद्ध होना सभी के प्रति, इसका नाम भी अहिंसा है।

आज अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करके व्यर्थ में करोड़ों रुपया बरबाद कर रहे हैं। इन कुरीतियों को दूर कर सभी के प्रति शुद्ध भावना रखना यही परम धर्म है। क्योंकि सभी कार्य भावों पर निर्भर है -

यदि कुआ खोदोगे तुम पर के लिये। गिर कभी उसमें पड़ोगे आप भी।।
सामने आकर दिखेगा एक दिन। सात परदों में विचारा पाप भी।।

अधिक क्या कहें अहिंसा धर्म में सभी धर्म गर्भित है। जिस प्रकार नमक बिन षटरस व्यंजन भी स्वादकारी नहीं होते, उसी प्रकार अहिंसा धर्म बिना अन्य सभी धर्म शोभित नहीं होते हैं। गधे के सींग आकाश में पुष्प कभी नहीं होते, वैसे ही हिंसा में कभी भी धर्म नहीं होता। जो मानते हैं वे नरक निगोद का बंध करते हैं।

अन्त में हमें शाकाहारी बनकर पूर्णरूप से अहिंसा धर्म का पालन करना चाहिए। बिना अहिंसा धर्म के हम संसार रूपी समुद्र से तिर नहीं सकते, हमारा जीवन यों ही बर्बाद हो जायेगा।

यावत रवि शशि मेदिनी का है जग में वास।
विशद लोक में धर्म का, तावत रहे प्रकाश।।

इसी तरह झूठ बोलना भी महापाप है ऐसा सत्य भी नहीं बोले जिससे किसी का अहित हो। कहा भी है -

वाणी ऐसी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरहुँ को शीतल करे, आपहु शीतल होय।।

धनदेव और जिनदेव दोनों मित्र व्यापार हेतु परदेश में गये। खूब सा धन कमाकर दोनों लौट रहे थे कि दोनों के प्रति परस्पर में बुरे विचार आ गये और उन्होंने कहा यह मेरा धन है। बात बहुत बढ़ गई। अन्त में राजा के पास यह बात पहुँची। राजा ने निर्णय करके दोनों के हाथ में अंगार रक्खे और बोले जो झूठ बोलता है उसका ही हाथ जलेगा। बस क्या था धनदेव का हाथ जल गया और सत्यवादी जिनदेव बच गया। उसे खूब धन मिला। अत: झूठ का त्याग करना चाहिए। इसी तरह चोरी करना भी महापाप है। चोरी करने से महापाप का बंध होता है।

देख पराई चूपड़ी मत ललचायो जी।
रूखी सूखी खाय के ठंडा पानी पी।।

इसका अर्थ है कि लोभ में आकर चोरी नहीं करनी चाहिए।

एक नवीन लुटेरा कहीं से एक बहुत सुन्दर घोड़ी चुराकर बाजार में बेचने गया। एक ग्राहक ने घोड़ी का मूल चार सौ और दूसरे ने सात सौ रुपये लगाये। परन्तु उस चोर ने सबको यही उत्तर दिया कि ''क्या चोरी का माल है?'' जो इतने थोड़े मूल्य में बेच दूँ। करनी का फल सबको मिलता है। कोयले को धोने पर भी हाथ काला होगा ही।

एक पुराना चोर यह सब कुछ देख रहा था। वह ताड़ गया कि यह घोड़ी अवश्य चोरी की है। वह उसके पास गया और कहा ''भाई! घोड़ी मुझे पसन्द है, मुँह माँगा धन दूँगा। पर इसकी चाल कैसी है? घोड़ी चोर बोला ''भाई सवारी करके देख लो।'' पुराने चोर के पास एक आने का नारियल का खोल था। उसने घोड़ी चोर को वह पकड़ा दिया और घोड़ी की चाल देखने के बहाने स्वयं घोड़ी पर सवार होकर घोड़ी को भगा ले गया। जब वह नहीं लौटा तब लोगों ने चोर से पूछा ''घोड़ी तूने कितने में बेची है'' चोर ने उत्तर दिया ''जितने में खरीदी थी।'' लोगो ने पूछा लाभ क्या हुआ?'' चोर ने नारियल का खोल दिखाकर कहा 'यह'। सच है चोरी से आया हुआ धन कभी नहीं ठहरता। अत: चोरी के धन से कभी व्यापार नहीं करना चाहिए। चोरी करना महापाप है -

इसी तरह कुशील सेवन करना भी महापाप है - हमें शीलव्रत में दृढ़ होना चाहिए। वासुपूज्य, मल्लि, नेमि, पार्श्वनाथ, वर्द्धमान ये ५ तीर्थंकर बालब्रह्मचारी थे। जबकि शील-व्रत जगत में मानव मात्र का भूषण कहा गया है। शीलव्रत बिना व्रत तप करना सब व्यर्थ है।

शील रत्न सबसे बड़ा, सब रत्नों की खान।
तीन लोक की सम्पदा, रही शील में आन।।

दृष्टांत रूप में जयकुमार, अभयकुमार, सुदर्शन सेठ एवं मनोरमा, श्रीमती, सीता सती, सोमासती, रयणमंजूषा, द्रोपदी आदिक अनेक पुरुष और स्त्रियाँ जिन पर महान आपत्ति आने पर शील व्रत से नहीं डिगे। जो मूर्ख स्त्रियाँ एवं पुरुष होते हैं वे ही अपने शील व्रत को भंग करते हैं। इसके लिए दुराचारिणी रानी, और मनोरमा सुन्दरी पर आसक्त राजकुमार कडारपिंग जो कि परस्त्री की इच्छा से विष्टा में गिराकर उसे पंख लगाये गये और रावण, भामंडल आदिक अनेक दृष्टांत हैं। इसी तरह अन्य तापसी साधू विचित्र लीला करके स्त्रियों को ठगाने के लिए उनके घर जाते हैं। ऐसे भोगों को धिक्कार हो। संसार में वहीं मनुष्य धन्य है जो स्त्री का मुख भी नहीं देखता। देखो जिनसेनाचार्य श्रृंगारादि नव रसों का वर्णन करके भी निर्विकार थे एवं अखण्ड असिधारा व्रत को पालन करते थे।

तब तक ही विद्या व्यसन, धीरज अरु गुरु मान।
जब तक वनिता नयन विष, बैठो नहिं हिय आन।।

उदाहरण रूप में एक व्यक्ति ने "असिधारा व्रत आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत एवं विशल्या ने इसी व्रत का पालन किया, और तो क्या, अकलंक, निकलंक व अनन्तमती ने तो ८ वर्ष की अवस्था से ही अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। नारी को विद्वान लोगों ने पैनी छुरी कहा है। आदर्शनारी को नहीं कुल्टा स्त्री को पैनी छुरी कहा है -

पर नारी पैनी छुरी, तीन ठौर से खाय।
धन छीनें यौवन हरे, मरे नरक ले जाय।।

सात कौड़ी की बात -

इसी तरह परिग्रह भी दु:ख का कारण है इसी पर दृष्टांत दे रहे हैं। क्योंकि बहुत आरम्भ एवं परिग्रह रखने से नरक आयु का बंध होता है।

एक राजा भेष परिवर्तन कर रात्रि में गश्त लगा रहा था। तेज वर्षा आ जाने के कारण वह एक मकान के द्वार पर जाकर खड़ा हो गया। मकान एक पंडित का था। उसमें दीपक जल रहा था। अन्दर पंडितानी, पंडित से कह रही थी - पंडित जी ! आप सबको जीवनोपयोगी शिक्षा की बाते बताते हैं, आज मुझे भी कुछ बताइये।

पंडित ने कहा - मैं तुम्हें सात कौड़ी की बात बताता हूँ -

(१) जिस व्यक्ति की पत्नि अपने पीहर में अधिक रहती है उसका पति दो कौड़ी का है। (२) जो आदमी अपने अन्दर का रहस्य दूसरे को बता देता है, वह आदमी भी दो कौड़ी का है। (३) जो समय के लिए पैसा बचाकर नहीं रखता है, वह व्यक्ति भी दो कौड़ी का है। (४) और बिना पैसे वाला आदमी एक कौड़ी का है।

बात के साथ वर्षा समाप्त हुई। राजा महल में लौट आया। उसे रातभर नींद नहीं आई, क्योंकि उसकी रानी प्राय: मायके में रहती थी और मायके में रहने वाली स्त्री बर्बाद हो जाती है।

दूसरे दिन राजा ने प्रात:काल ही उस पण्डित को बुलाया कि जरा रात की अपनी बात सिद्ध कर मुझे बताओ।

पंडित ने कहा - राजन्! यदि आप सत्य तथ्य जानना चाहते हैं, तो स्वयं ही तीस हजार का धन लेकर अपनी ससुराल चले जाइए। "पढे लिखे को फारसी क्या किन्तु अपनी बुद्धि का उपयोग करते रहना, जिससे कि कठिन परिस्थिति में आप अपना मार्ग चुन सकें। अर्थात् सब कार्य विवेक पूर्वक करना। तभी तुम्हें सफलता प्राप्त होगी। अन्यथा नहीं।

राजा धन लेकर अपनी ससुराल की ओर वेष परिवर्तन कर चल दिया। जब ससुराल चार मील दूर रह गयी, तब एकान्त जंगल में बीस हजार रुपये गाड़ कर आगे चला।

राजा की वेष-भूषा एक गरीब किसान की थी। उसने नगर में घूमकर पता लगाया कि मेरी रानी का चाल चलन कैसा है? किसी व्यक्ति से पता लगा कि उसकी रानी का सम्बन्ध राजमंत्री के साथ है। यह सुनकर राजा ने बड़ी युक्ति से कार्य किया।

राजा उस माली के घर पहुँचा। दस हजार रुपये मालिन के चरणों में रखकर कहा - माता, मैं तुम्हारा बेटा हूँ, यह धन तुम रखो। मुझे राजमंत्री के यहाँ नौकरी दिलवा दो। बाप बड़ा ना भैया सबसे बड़ा रुपैया।

मालिन दस हजार रुपये देखकर बहुत ही प्रसन्न हुई। उसने उसे भोजन कराया और मंत्री के यहाँ उसकी नौकरी पक्की कर दी।

मंत्री रात को बारह बजे रानी के मकान में जाया करता था और प्रात: तीन बजे पुन: लौट आया करता था। मंत्री ने (नौकर) राजा से कहा - तुम रात्रि में ग्यारह बजे मेरे मकान पर घोड़ा तैयार करके लाया करो और रानी के महल में पहुँचाकर तीन बजे तक घोड़े के पास बैठे रहा करो। मैं तीन बजे लौट आऊँगा। यही तुम्हारा प्रतिदिन का कार्य रहेगा।

राजा ने दूसरी रात से ही कार्य प्रारम्भ कर दिया। कुछ दिनों में यही क्रम चलता रहा। एक दिन मंत्री को ज्वर आ गया। उसने राजा से कहा - रानी को तुम जाकर सूचित कर दो आज मेरी तबियत खराब है, इसलिए मैं नहीं आ सकूँगा।

राजा ने मंत्री का सन्देश रानी को दिया। रानी ने राजा के चेहरे को देखते ही पहचान लिया कि यह तो मेरा पति है। दूसरे दिन मंत्री जब मिलने को गया तब उसने स्पष्ट आदेश देते हुए राजा को मारने के लिए कहा। कुल्टा स्त्रियाँ पापों से नहीं डरती हैं।

दूसरे दिन मंत्री ने जल्लादों को बुलवाकर राजा को मारकर उसकी आँखें निकाल लाने की आज्ञा दी, जल्लाद-राजा को पकड़कर मारने के लिए चल पड़े। मार्ग में राजा ने धीरे से कहा - मुझे मारने से तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा। यदि मुझे छोड़ दो तो, मैं तुम्हें दस हजार रुपये दे सकता हूँ।

जल्लाद हम तुम्हें छोड़ नहीं सकते क्योंकि मंत्री ने तुम्हारी आँखे मंगवाई हैं। राजा ने बताया देखो, मानव और हिरण की आँखें एक सदृश होती है। तुम किसी हिरण की आँखें भी मंत्री को दे सकते हो। यह बात जल्लादों को पसन्द आ गई। राजा ने शीघ्र जाकर मालिन से अपने रुपये माँगे, मालिन नट गई, अब राजा समझ गया कि दूसरे को भेद देने वाला व्यक्ति भी दो कौड़ी का है मुझे इसका फल मिल गया। राजा जल्लादों को जंगल में ले जाकर गड्ढे को खोदकर बीस हजार रुपया निकाल कर उन्हें दे दिये। अब मुझे समझ में बात आई कि जो पैसे बचाकर नहीं रखता, वह व्यक्ति भी दो कौड़ी का है। पुन: जैसे-तैसे जान बचाकर राजा अपने घर जा रहा था। बीच में उसे जोरों से प्यास लगी, इतने में उसे एक वृद्धा माँ दिखी जो पानी का घड़ा लिए बैठी थी।

राजा ने कहा माँ – मुझे पानी पिला दो, उसने पैसा माँगा – अब भी राजा को भान हुआ कि जिसके पास एक पैसा नहीं वो भी व्यक्ति एक कौड़ी का है उस पण्डित की सात कौड़ी की बात सत्य समझ कर राजा ने उसे खूब इनाम दिया। रानी को मंत्री ने बुलाकर उन्हें उचित शिक्षा दी। दोनों ने अपनी करनी पर पश्चाताप किया।

तो कहने का तात्पर्य है कि हमें समय पर दान देने में व धर्म कार्य में या किसी की सहायता करने के लिए अपने पास अवश्य पैसा रखना चाहिए। जिसके पास कौड़ी वह साधु नहीं और जिसके पास एक कौड़ी नहीं वह श्रावक नहीं। इसका मतलब यह भी नहीं कि हम लोभ में खूब सारा इकट्ठा करके पाप कमायें कहा भी है। बहुत आरम्भ एवं परिग्रह रखने से नरक आयु का बंध होता है – आशा तृष्णा लोभ महा दु:खदायी है।

जो आशा के दास हैं, वे हैं सबके दास।
आशा जिनकी दास है, सब जग उनका दास।।

एक बालक जा रहा था राजा भोज ने पूछा–तुम कौन हो? उसने कहा मैं चक्रवर्ती हूँ। राजा ने बड़ा आश्चर्य किया। बोले तेरे पास कौन सी सम्पत्ति है? उसने कहा मेरे पास अटूट सम्पत्ति है। तुमने कौन से खंड को जीता है? उसने कहा – मैंने पंचेन्द्रिय रूपी ५ म्लेच्छ खंड एवं मनरूपी आर्य खंड को जीता है। अत: जिसने इन छहों खंड को जीता, वही चक्रवर्ती है। उनके सभी दास हैं और सबसे बड़ा चक्रवर्ती वही है।

इसी पर एक दृष्ट्रांत है – एक सेठ करोड़पति था पर किसी को १ पैसे का दान नहीं देता था। धर्म कार्य में एक पैसा खर्च नहीं करता था। यहाँ तक पहनने को फटे कपड़े और खाने को सूखी रोटी खाता था। यदि कोई सज्जन उससे कहता कि मेरे प्यारे भाई व्यर्थ में धन को क्यों बरबाद कर रहे हो, बैंक का पैसा बैंक में ही रह जायेगा, कम से कम आप इसका सदुपयोग तो करें। तो यही उत्तर देता कि आप मेरे नाम से दान कर दो आपको बड़ा पुण्य मिलेगा और आप सीधे स्वर्ग जाओगे, मैं नरक जाऊँगा। इतना बड़ा कंजूस था। ऐसे–ऐसे कंजूस संसार में पड़े हुये हैं जो न स्वयं खाते हैं न दूसरों को खिलाते हैं। वों ही पाप की गठरी बाँधकर संसार में भ्रमण करते रहते हैं। यदि हम वास्तविक सुख शांति चाहते हैं तो इतना संकल्प लें कि जहाँ तक हो सकेगा शील व्रत का पालन करेंगे। व्रत धारण करना नर पर्याय का सार है और समस्त व्रतों का सार शीलव्रत है। कहा भी है –

अंकस्थाने भवेच्छीलं, शून्याकार व्रतादिकम्। अंकस्थाने पुनर्नष्टे, सर्वशून्यं व्रतादिकम्।।

अर्थात् शून्य किसी भी अंक को दश गुणा कर देता है परन्तु अंक बिना शून्य का कोई महत्व नहीं होता। इसी प्रकार शीलव्रत के बिना अन्य व्रत अंक रहित शून्य के समान ही है किन्तु शील संयुक्त होते ही कई गुणे महत्व को प्राप्त हो जाते हैं।

शील की बात तो हर कोई कर लिया करते हैं। शील का उपदेश कुशील भी किया करते हैं।।
वे अपने शील में अतिचार भी नहीं लगने दिया करते हैं।। शील का पालन विशद मोक्ष के राही किया करते हैं।

****

4

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना

काले पाठः स्तवो ध्यानं, शास्त्रे चिन्ता गुरौ नतिः।
यत्रोपदेशना लोके, शास्त्र-ज्ञानोपयोगता॥४॥

योग्य काल में पाठ, स्तवन और ध्यान करना, शास्त्र का मनन करना, गुरु को नमन करना और उपदेश देना, इन्हें लोक में अभीक्ष्णज्ञानोपयोग कहते हैं।

ज्ञानावरणी कर्म ने भाई, जग में भरमाया।
सम्यक् ज्ञान हृदय में मेरे, जाग नहीं पाया॥
सम्यक् श्रद्धा के द्वारा अब, 'विशद' ज्ञान पाना।
ज्ञाता बनकर ज्ञान के द्वारा, चित् स्वरूप ध्याना॥
अजर अमर पद पाने हेतु, ज्ञानामृत पाना।
ॐकार मय जिनवाणी के, छन्दों को गाना॥
ज्ञान योग होता अभीक्ष्ण यह, भावों से ध्याना।
'विशद' ज्ञान के द्वारा भाई, शिवपुर को जाना॥

आप्त कथित शास्त्र जिनकी गणधर रचना करते हैं परम्परागत आचार्यों ने जिसका मनन किया है ऐसे शास्त्र का अभ्यास करना ''अभीक्ष्णज्ञानोपयोग'' है। अत: हमें ज्ञानोपयोग के लिए 'स्वाध्याय' की जरूरत है, बिना स्वाध्याय के हेय, उपादेय, ज्ञेय एवं हित-अहित का भेदज्ञान नहीं होता। हमें क्रम-क्रम से चारों अनुयोगों का स्वाध्याय करना चाहिए। तभी हमें हित की प्राप्ति होगी। यही स्वाध्याय का फल है। हर प्राणी को क्रम-क्रम से स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये जिसमें तिरेसठ शलाका पुरुषों का वर्णन है। ऐसे प्रथमानुयोग शास्त्र को सबसे प्रथम पढ़े। मनन करें और अपने जीवन में उतारें। इससे अँतरंग में वैराग्य भाव चढ़ता है।

फिर जिसमें मुनि धर्म एवं श्रावक धर्म का वर्णन है। ऐसे चरणानुयोग शास्त्र को पढ़ें। जिसमें तीन लोक के आकार वगैरह का वर्णन है ऐसे करणानुयोग शास्त्र को पढ़ें। जिसमें जीव, अजीव आदि तत्त्वों का वर्णन हो ऐसे द्रव्यानुयोग शास्त्र को पढ़ना चाहिए। किसी भी शास्त्र को शुरु से अंत तक पढ़ना चाहिए। ''स्वाध्याय'' ही परम तप है अत: सभी शास्त्रों का निरन्तर पठन मनन करना चाहिए। इसी ''अभीक्ष्णज्ञानोपयोग'' से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है और केवलज्ञान प्रगट होता है।

इसी प्रकार सभी को अपनी संतान पर अच्छे संस्कार डालना चाहिये तभी वह संतान योग्य बनेगी।

कहा भी है –

करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ही, शिल पर पड़त निशान।।

अर्थात् अभ्यास करते-करते मूर्ख भी विद्वान बन जाता है। इसी संस्कार से बालक भी बड़े भारी विद्वान बन जाते है।

पुत्र वही पितु भक्त जो, पिता वही प्रतिपाल।
नारी वही जो पतिव्रता, मित्र वही दिलमाल।।

बालपन के संस्कार – आज मनुष्य अपने कर्त्तव्य एवं पद से च्युत हो रहे हैं, वास्तविक भक्ति श्रद्धा उनमें दिखती नहीं, प्रत्येक कार्य स्वार्थ को लेकर ही होता है। सच्चा मित्र वही जो दु:ख में सहायी हो, नारि वही जो पतिव्रता हो अर्थात् पति की अनुगामिनी हो, पुत्र वही जो पिता का भक्त हो, पिता भी वही हो जो पुत्र की रक्षा करें। कहीं मेरा पुत्र कुमार्गगामी न हो जावे, पुत्र को सुमार्ग में लाना माता-पिता पर निर्भर है। वे चाहे जैसा संस्कार अपनी संतान पर डाल सकते हैं। बाल्यावस्था कच्चे घड़े के समान है। जैसे कि कच्चे घड़े को जिधर मोड़ों उधर ही मुड़ जायेगा, किन्तु पकने पर नहीं मुड़ेगा भले घड़ा फूट जाये, यही अवस्था बालक की भी होती है। पूज्यपाद ने समाधि शतक में कहा है –

अविद्याभ्यास संस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदैव ज्ञान संस्कारैः स्वतस्तत्वेऽवतिष्ठते।।

जो मन अज्ञानाभ्यास रूपी संस्कार के द्वारा क्षोभ को प्राप्त है। वही मन ज्ञान रूपी संस्कार द्वारा निज आत्म तत्त्व में ठहरता है। शिक्षा, दीक्षा के संस्कार, जन्म, विवाह आदिक के संस्कार इस तरह अनेक प्रकार के संस्कार होते हैं। संस्कार यानी आभूषणों व व्रत आदि के द्वारा सुसज्जित कर देना इसका नाम संस्कार है। बाल्यावस्था के संस्कार आजीवन अडिग रहते हैं। क्योंकि बच्चों का हृदय निर्विकार अत्यन्त कोमल, पवित्र रहता है।

दृष्टांत रूप में, किसी सेठानी ने राजपुत्र को घर में ले जाकर, मारकर, वहीं कोने में गाड़ दिया। उसे सेठानी का पुत्र देख रहा था। उस पुत्र ने जाकर राजा से सब बात कह दी। राजा ने सेठानी को मरवा डाला। बच्चों के अन्दर मायाचारी नहीं रहती। बच्चों की बुद्धि प्राय: कर तीक्ष्ण होती है। इसलिए बच्चों के साथ हँसी मज़ाक, लाड़-प्यार जितना आवश्यक है उतना ही करना चाहिए। अधिक लाड़-प्यार से उनके अन्दर विनय नहीं रहता है। वीरसेन, जिनसेनाचार्य, भद्रबाहु की माता-पिता, गुरु के प्रति अटूट भक्ति थी। इसका कारण माता-पिता ने उन पर संस्कार डाला था। जैसे जन्म दायक माता-पिता महान् गुरु माने गये हैं इनके उपकार रूप ऋण को यह व्यक्ति कभी भी नहीं चुका सकता, वैसे ही शिक्षा-दीक्षा दायक महान् गुरु हैं।

शिक्षा से ही मनुष्य ज्ञानी बनता है और शिक्षा से संसार रूपी समुद्र से तिर जाता है। इन दोनों से रहित मनुष्य का जीवन व्यर्थ है। कहा भी है –

नहिं शिक्षा सुख कारणी, जिन शिक्षा सी कोय।
नहिं दीक्षा दुख हारणी, जिनदीक्षा सी होय।।

जैसे एक पत्थर की मूर्ति भी यंत्र, मंत्रादिक के द्वारा संस्कारित होकर पूज्य बन जाती है। वैसे प्रत्येक मानव को शिक्षा संस्कार से ही उच्च पद प्राप्त होता है। किन्तु इस कलयुग में माता-पिता बच्चों को मात्र नौकरी के हेतु उन्हें उल्टी शिक्षा दिलाते हैं। धार्मिक शिक्षा नहीं दिलाते। प्रत्येक व्यक्ति अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा दिलाने का प्रयत्न करें तभी कल्याण होगा। अन्यथा भविष्य में बच्चे माता-पिता को कुछ नहीं समझेंगे।

माता शत्रू पिता बैरी, येन बालो न पाठकः।
सभा मध्ये न शोभन्ते, हँस मध्ये बको यथा।।

अगर उन्हें सत् संस्कार नहीं दिये तो माता दुश्मन के समान है और पिता बैरी है जो अपने बच्चों को पढ़ाते नहीं है। जिस प्रकार हंसों के बीच में बगुला शोभा नहीं देता है उसी प्रकार ज्ञानियों की सभा में अज्ञानी पुत्र शोभा को प्राप्त नहीं होता।

कालबली सबको डसे, क्या राजा क्या रंक।
ज्ञानी चले खुशी खुशी, मूर्ख होय बदरंग।।

अतः माता-पिता अपनी संतान को योग्य चरित्रवान पैदा करें। जितने भी तीर्थंकर महापुरुष मुक्ति गये हैं वे सब आत्मा का अनुभव करके ही मुक्त हुये हैं। बिना ज्ञान के आत्म अनुभव होना कठिन है कहा भी है। क्योंकि आत्म अनुभव बिना मुक्ति पाना कठिन है।

अनुभव चिंतामणि रतन, अनुभव रस का कूप।
अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्ष स्वरूप।।

दीपक स्वयं प्रकाशित है तभी दूसरे को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार हम स्वयं ज्ञानी बने तभी दूसरे को ज्ञान दे सकते हैं –

हे आत्मन्! मनुष्य जन्म पाकर निरन्तर ज्ञानाभ्यास ही करो, ज्ञान का अभ्यास किये बिना मनुष्य पशु समान है। अतः योग्यकाल में जिनागम का पाठ करो, जब समभाव हो तब ध्यान करो, शास्त्रों के अर्थ का चिन्तन करो, बहुत ज्ञानी गुरूजनों में नम्रता वन्दना नादि करो, धर्म सुनने के इच्छुक को धर्म का उपदेश करो। इसी को अभीक्ष्णज्ञानोपयोग कहते हैं। इस अभीक्ष्णज्ञानोपयोग नाम के गुण का अष्ट द्रव्यों से पूजन करके इसका अर्घावतरण करो तथा पुष्प को दोनों हाथों की अंजुलि से इसके आगे क्षेपण करो, ज्ञानोपयोग

चैतन्य की परिणति है। अतः प्रतिक्षण निरन्तर चैतन्य की ही भावना करना। अनादिकाल से काम, क्रोध, अभिमान, लोभादि, मेरे साथ में लगे हैं। अनादि से ही इनका संस्कार मेरे चैतन्य रूप में घुल मिल रहा है। अब ऐसी भावना हो कि भगवान के परमागम सेवन के प्रभाव से मेरी आत्मा, रागद्वेष आदि से भिन्न अपने ज्ञायक स्वभाव में ही ठहर जाय, रागादि के वशीभूत नहीं हो, वही मेरी आत्मा का हित है।

नवीन शिष्यों के आगे श्रुत का इस प्रकार अर्थ प्रकाशित करना जिससे संशय आदि रहित स्व पर पदार्थों का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाये। जिस प्रकार पाप-पुण्य का स्वरूप, लोक-अलोक का स्वरूप, मुनि-श्रावक के धर्म का सत्यार्थ निर्णय हो जाये उसी प्रकार ज्ञानाभ्यास करना चाहिए। अपने चित्त में संसार, शरीर, भोगों से विरक्तता का चिन्तन करना। संसार, शरीर, भोगों का यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करने से राग-द्वेष, मोह आदि, ज्ञान को विपरीत नहीं कर सकते हैं।

समस्त द्रव्यों में मिला हुआ होने पर भी एक आत्मा भिन्न अनुभव होना, ज्ञानोपयोग है। ज्ञानोपयोग द्वारा ज्ञान का अभ्यास करने से विषयों की वांछा नष्ट हो जाती है। कषायों का अभाव हो जाता है। माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्यों का, ज्ञानाभ्यास से नाश हो जाता है। ज्ञान के अभ्यास से ही मन स्थिर होता है। अनेक प्रकार के विकल्प नष्ट हो जाते हैं। ज्ञानाभ्यास से ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान में अचल होकर बैठा जाता है। ज्ञानाभ्यास से ही व्रत संयम से चलायमान नहीं होते है। अशुभ कर्मो का नाश होता है। जिनधर्म की प्रभावना होती है। ज्ञान के अभ्यास से ही लोगों के हृदय में पूर्व का संचित पापरूप ऋण नष्ट हो जाता है।

जिनधर्म का स्तम्भ, ज्ञान का अभ्यास - ज्ञान के प्रभाव से ही समस्त जीव विषयों की वांछा रहित होकर सन्तोष धारण करते हैं। ज्ञान के अभ्यास से ही क्षमादि गुण प्रकट होते हैं। भक्ष्य-अभक्ष्य का, योग्य-अयोग्य का, त्यागने योग्य, ग्रहण करने योग्य का विचार होता है। ज्ञान बिना परमार्थ और व्यवहार दोनों नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञान रहित राजपुत्र का भी निरादर होता है। ज्ञान समान कोई धन नहीं हैं। ज्ञान के दान समान कोई दान नहीं है। दुःखी जीव को सदा ज्ञान ही शरण है। ज्ञान ही स्वदेश में, परदेश में आदर कराने वाला परम धन है। ज्ञानधन को कोई चुरा नहीं सकता। लूटने वाला लूट नहीं सकता है। किसी को देने से घटता नहीं है जो ज्ञान देता है उसका ज्ञान बढ़ जाता है। ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। ज्ञान से ही मोक्ष प्रकट होता है। सम्यग्ज्ञान आत्मा का अविनाशी स्वाधीन धन है। ज्ञान बिना संसार राग में डूबने वाले को हस्तावलम्बन देकर कौन रक्षा कर सकता है? विद्या के समान कोई आभूषण नहीं है। विद्या बिना केवल आभूषण से कोई सत्पुरूषों के द्वारा आदर योग्य नहीं हो जाता है। निर्धन को भी परम निधान प्राप्त कराने वाला एक सम्यज्ञान ही है।

भगवान वीतराग करुणा निधान गुरु तुम्हारे लिए यह शिक्षा दे रहे हैं कि अपनी आत्मा को सम्यग्ज्ञान के अभ्यास में ही लगाओ तथा मिथ्यादृष्टियों के द्वारा कहे गये मिथ्याज्ञान का दूर से ही परित्याग करो। सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान की परीक्षा करके ग्रहण करो। अपनी संतान को पढ़ाओ तथा अन्य लोगों को भी विद्या का अभ्यास कराओ। जो धनवान है यदि वे अपना धन सफल करना चाहते हैं तो पढ़ने वालों को दें। पुस्तकों को शुद्ध - कराओ, पढ़ने पढ़ाने के लिए स्थान दो, निरन्तर पढ़ने सुनने में ही मनुष्य जन्म का समय व्यतीत करो। यह अवसर बीतता चला जा रहा है। जब तक आयु, काय, इन्द्रियाँ, बुद्धि, बल ठीक हैं तब तक मनुष्य जन्म की एक घड़ी भी सम्यग्ज्ञान के बिना नहीं गँवाओ। ज्ञानरूप धन परलोक में भी साथ जायेगा। सम्यक्ज्ञान किसे कहते हैं? इसका उत्तर देते हुए समंतभद्राचार्य स्वामी कहते है -

अन्यूनमनतिरिक्त याथातथ्यं च बिना च विपरीतात्।

निःसन्देह वेदयदाहुस्तज्ज्ञान मागयिना

ग्रन्थार्थोभदपूर्णो काले विनदेन सोपधानंच

बहुमानेन समन्वित मनिहवं सम्यज्ञानेन माराध्य।। पु.सि.3611

अर्थ-जो न्यूनता अधिकता से रहित, जैसा है वैसा, विपरीतता से रहित एवं संदेह से रहित, वस्तु का ज्ञान, आगम के द्वारा सम्यकज्ञान कहा गया है।

ज्ञान के आठ अंग हैं - 1. व्यंजनाचार 2. अर्थाचार 3. उभयाचार 4. कालाचार 5. विनयाचार 6. उपधानाचार 7. बहुमानाचार और 8. अनिह्नवाचार।

1. **व्यंजनाचार** - शब्दों का ज्ञान होना और व्याकरण के अनुसार अक्षर पद मात्रा को पढ़ना-पढ़ाना व्यंजनाचार कहलाता है।
2. **अर्थाचार** - शब्द और अर्थ को ठीक-ठीक पढ़कर आगम को पढ़ना-पढ़ाना अर्थाचार कहलाता है।
3. **उभयाचार** - शुद्ध शब्द और अर्थ सहित सिद्धान्त को पढ़ना-पढ़ाना उभयाचार कहलाता है।
4. **कालाचार** - प्रातः, मध्य और संध्या इन तीनों कालों में अर्द्धरात्रि, ग्रहण, भूकम्प, उल्का पातादि दोष सहित समय को छोड़कर योग्यकाल में श्रुत शास्त्रों का अध्ययन करना कालाचार है।
5. **विनयाचार** - दोपहर को दो घड़ी पहले, दो घड़ी पीछे, प्रातःकाल के सूर्य निकलने के दो घड़ी पीछे और पहले, इन कार्यों को छोड़कर दिग्दाह, उल्कापात, इन्द्रधनुष, सूर्य ग्रहण, चन्द्रग्रहण, भूकम्प आदि उत्पातों के समय में गणधर देवों के द्वारा और ग्यारह अंग दस पूर्व धारियों के बने हुए शास्त्र पढ़ना-पढ़ाना वर्जित है। तीर्थंकरों के पुराण, स्तोत्र, आराधना तथा चारित्र और धर्म को

बताने वाले शास्त्र वर्जित नहीं है। शुद्ध जल से हाथ पैर धोकर पवित्र स्थान पर बैठकर चौकी आगे रखकर आगम स्तुति को नमस्कार कर श्रुत-भक्ति और अचार्य भक्ति पूर्वक आगम का पढ़ना-पढ़ाना ज्ञान का उत्तम विनयाचार है।

6. **उपधानाचार** - धारणा सहित आराधना करना, स्मरण सहित स्वाध्याय करना, भूलना नहीं उपधानाचार है। जब तक स्वाध्याय करेंगे तब तक कोई न कोई वस्तु आदि का त्याग या कुछ न कुछ नियम लेना।

7. **बहुमानाचार** - ज्ञान का, पुस्तक का, पढ़ने वाले का, विशेष ज्ञानी का बहुत आदर सम्मान करना। शास्त्र को ले जाते हुए, लाते हुए, उठकर खड़े हो जाना, पीठ न देना, आगम को उच्चासन पर विराजमान करना, पढ़ते समय लौकिक बातें नहीं करना, अशुद्ध वस्त्रों और अशुद्ध शरीर की अवस्था होने पर शास्त्रों को नहीं छूना आदि बहुमानाचार है।

8. **अनिह्नवाचार** - जिस शास्त्र, जिस गुरु, जिस पाठक से आगम का ज्ञान हुआ है उस आगम गुरू को नहीं छिपाना अनिह्नवाचार है। शास्त्र तथा अल्प ज्ञानी पाठक का नाम लेने से मेरा महत्व घट जायेगा। इस मत से बड़े ग्रन्थ एवं बहुज्ञानी अध्यापक का नाम लेना, ऐसा करने से मायाचार का दोष आता है।

जिनवाणी के बिन सच्चा ज्ञान नहीं होता,
केवल अक्षर के जानने से कोई विद्वान नहीं होता।।
"विशद" जिनवाणी की विराधना करने वालो,
जिनवाणी के बिना आत्म कल्याण नहीं होता।।

शब्द ज्ञान के साथ आत्मिक ज्ञान भी आवश्यक है। आत्मिक ज्ञान के बिना केवल शाब्दिक ज्ञान से कल्याण नहीं होगा। सुख भी आत्मा का ही गुण है। जैसे पाषाण से सोना, खान से हीरे-पन्ने आदि को निकाला जाता है। उसी तरह अभीक्ष्णज्ञान का प्रयोग ही वह साधना है जिससे आत्मा को शुद्ध किया जाता है। ज्ञान का प्रवाह तो नदी के प्रवाह की तरह है। जैसे गंगा नदी के प्रवाह को सुखाया नहीं जा सकता क्योंकि उसका उद्‌गम स्थल बहुत दूर पहाड़ों में छिपे हुए स्रोतों में है। केवल उस प्रवाह को या मार्ग को हम बदल सकते हैं। इसी प्रकार ज्ञान के प्रवाह को सुखाया नहीं जा सकता। केवल कार्य यह करना है कि उस ज्ञान के प्रवाह को अपने हित के लिए उपयोग करें। उस ज्ञान का सदुपयोग करना है। ज्ञान का दुरुपयोग विनाश है। ज्ञान का सदुपयोग विकास है। किन्तु ज्ञान के सदुपयोग के लिए जागृति की आवश्यकता है। हमारी अवस्था कबूतरों की तरह हो रही है। बिल्ली पेड़ के नीचे है और कबूतर पेड़ पर बैठा है। किन्तु बिल्ली को देखकर कबूतर बेहोश हो जाता है। अपने पंखों की शक्ति को भूलकर अपना समर्पण उस बिल्ली के समक्ष कर दे तो बताओ किस का दोष है? बिल्ली का या कबूतर का। यही हालत हमारी है। हम ज्ञान का सम्मान ही नहीं

करते। आज तक हम ज्ञेय पदार्थों की कद्र करते आये हैं, ज्ञान की नहीं। यदि हम ज्ञान की कद्र कर लेते तो संसार दु:खों से छूट जाते। हम अज्ञानता में पड़कर वस्तु को बाहर ढूँढ़ रहे हैं। लेकिन वह बाहर नहीं अन्दर है। केवल अक्षर ज्ञान से पंडित नहीं बना जा सकता है। वस्तुत: पण्डित तो वह है जिस ने आत्मा को जान लिया।

पढ़-पढ़ के पण्डित हुए, ज्ञान भी हुआ अपार।
निज वस्तु की खबर नहीं, सब नकली श्रृंगार।।

आचार्य कहते हैं कि ज्ञान के साथ प्रयोग आवश्यक है। एक पढ़े-लिखे बी.ए. पास युवक को गर्मी के दिनों में नदी की सैर करने की इच्छा हुई। नदी के किनारे गये और नाविक को बुलाकर पूछता है -भैया! नदी की सैर करा दोगे। उसने कहा हाँ बाबूजी, पाँच रुपये लूँगा। युवक ने स्वीकृति दी और नाव में बैठ गया। नाव में दूसरा कोई बात करने वाला नहीं था इसलिए वह उस नाविक से बात करने लगा। बातचीत करते हुए युवक ने नाविक से पूछा - कितने पढ़े-लिखे हो? नाविक ने कहा "कुछ नहीं", क्या ए, बी, सी, डी, भी नहीं पढ़ी?" युवक ने पूछा, नाविक ने इन्कार कर दिया। तब वह युवक बोला 'नालायक कुछ नहीं जानता ऐसे ही अनपढ़, बेवकूफ लोगों ने भारत को बरबाद कर दिया।" वह सब सुनता रहा। कुछ दूर और आगे बढ़े, बीच नदी में जाते-जाते नाव डगमगाने लगी। हवा तेज तूफान की तरह बह रही थी। नाविक बोला 'बाबूजी अब तो नाव बचानी मुश्किल हो रही है। आपको तैरना आता है या नहीं'। बाबूजी बोले 'नहीं भैया, मुझे तैरना नहीं आता।' तब नाविक बोला उल्लू, गधे, ऐसे लोगों का तो जीवन ही बरबाद है। जो सब कुछ डबल सीखा परन्तु जीने की कला नहीं सीखी, मैं तो तैर कर किनारे पहुँच जाऊँगा, आप क्या करोगे'? सारांश यह है कि अक्षर ज्ञान करने के साथ आत्मिक ज्ञान भी जरूरी है अन्यथा अक्षर ज्ञान-शब्द ज्ञान तो शीशी के लेबल के समान है। जैसे - फायादा शीशी के अन्दर की दवा से ही होगा, उसी प्रकार कल्याण तो आत्मिक ज्ञान से होगा, केवल शब्द ज्ञान निरर्थक है। जब तक आत्मा का ज्ञान नहीं, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भी नहीं हो सकता।

एक इंजीनियर जिसने 26 साल शिक्षण में लगा दिये वह मशीन को ठीक करने में कदाचित फेल हो जाता है लेकिन एक अनपढ़ अनुभवी मिस्त्री उसे तुरन्त ही ठीक कर देता है। मिस्त्री भले ही किसी को न पढ़ा सके, परन्तु मशीन संबंधी उसका ज्ञान स्पष्ट है और इंजीनियर अनेक को शाब्दिक ज्ञान करा दे परन्तु मशीन संबंधी उसका ज्ञान अस्पष्ट व मिथ्या है।

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
इहि परमामृत जन्म जरा मृत्यु रोग निवारण।।

इस संसार में सम्यग्ज्ञान के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह सम्यग्ज्ञान जन्म, जरा और मृत्यु रूप तीनों रोगों को नष्ट करने के लिए उत्तम अमृत के समान है। इसलिए हमेशा अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना भावो, तभी संसार के दु:खों से छूटकर मोक्षपद प्राप्त कर सकता है। जिनके पास ज्ञान नहीं होता है ऐसे बुद्धिहीन जीवों का निरंतर निरादर होता है।

एक सेठ बीमार था। उसका किसी दूसरे नगर में हकीम का इलाज चल रहा था। उसको बहुत आराम हुआ। उसने एक नौकर को अपनी हालत का समाचार देने के लिए और भोजन में क्या वस्तु लूँ यह पूछने के लिए हकीम के पास भेजा। सब कुछ जानकर हकीम ने एक पर्चा लिख दिया। भोजन में खिचड़ी बता दी। वह नौकर स्मरण शक्ति से विहीन था, बुद्धि भी नहीं थी, वह खाचड़ी-खाचड़ी बोलता जा रहा था। खाचड़ी शब्द सुनकर किसान ने उसे एक थप्पड़ मारा और कहा मेरी हँसी करता है। वह बोला भाई क्या बात है खाचड़ी क्यों कहता है? उड़चीड़ी, उड़चीड़ी कह, वह यही बोलता-2 चलने लगा क्योंकि उसे भूल जाने का डर था। आगे चिड़ियों को फँसाने के लिए बहेलिए ने एक जाल बिछा रखा था, उसने भी धमकाया, हमने चिड़ियाँ पकड़ने को जाल बिछाया है और तुम उड़ाना चाहते हो? उसने कहा और क्या कहूँ? कहो आती जाओ फँसती जाओ, वह यही उच्चारण करता हुआ चलने लगा। आगे चोरों का दल मिला। वे भी सब उस पर टूट पड़े। बोला और क्या कहूँ? कहो ले जाओ, ले जाओ घर-घर आओ। वह इस शब्द को भी बोलता जा रहा था। आगे कुछ मृतक को श्मशान पर ले जाते मिले। उन सबने भी उसे पीटा। नीच कहीं का अपशकुन बनाता है। क्या कहूँ भैया, ऐसा दिन किसी को न आये। ऐसा कहता हुआ वह आगे बढ़ा। आगे नगर में राजकुमार की शादी का कार्यक्रम चल रहा था। सिपाहियों ने उसे डंडे लगाये और कहा कि कहो ऐसा दिन सभी का हो। वह कहता हुआ आगे बढ़ने लगा। आगे आग लग रही थी। अनेक लोग बुझाने में लगे हुए थे उन सबने फटकार लगायी, बोला मैं सुबह से पिटता आ रहा हूँ और क्या कहूँ?, किसी सज्जन ने उससे प्रश्न पूछा, सुनकर समझा और कहा। हकीम ने खिचड़ी खाने को कहा है और उसे यह पर्ची लिख दी और बोला मुंह से कुछ नहीं बोलना केवल सेठ को यह पर्ची दे देना तब वह सेठ के पास पहुँचा। इस तरह बुद्धिहीन जीव सब जगह अनादर पाते हैं।

बन्धुओं, अज्ञानी मनुष्य सब जगह अनादर पाते हैं क्यों? और ज्ञानी जीव का सभी जगह आदर होता है क्यों? कहा है कि जो व्यक्ति स्वयं की रक्षा करने में सक्षम होते हैं उनकी रक्षा को सारा जगत तैयार रहता है। क्योंकि जो अपनी रक्षा कर सकता है वह दूसरों की भी रक्षा कर सकता है, जो अपना कल्याण कर सकता है वह दूसरे गिरतों को भी उठा सकता है, जो स्वयं अपना भला नहीं कर सकता है वह दूसरों का भला क्या करेगा? इसलिए अपने अन्दर ज्ञान गुण को उजागर करके जगत में पूज्यता को प्राप्त करो।

हम सभी लोग हमेशा की तरह आज भी अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए विचार कर रहे हैं। तीर्थंकर हमारे आदर्श हैं। वे सच्चे-धर्म के प्रवर्तक हैं। वे प्राणी मात्र के प्रति सद्भावना रखते हैं और प्राणी मात्र के कल्याण का मार्ग बताते हैं। हम उनके बताए मार्ग पर चलकर अपने जीवन को ऊँचा उठा सकते हैं। हम उनके जैसे गुणों को अपने भीतर उद्घाटित कर सकते हैं। हमें उनके जैसा बनने के लिए उनके ही समान अपना आचरण बनाना होगा।

हमने पिछले दिनों यह बात स्पष्ट रूप से जान ली है कि अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए हमें एक ऐसी दृष्टि प्राप्त करनी होगी जिससे हमें अपने आत्म-तत्त्व का दर्शन हो, आत्म-रुचि जागृत हो और आत्म-कल्याण की भावना उत्पन्न हो। हमारा हृदय प्राणी मात्र के प्रति सद्भाव से भर जाए। धर्म और धर्मात्मा के प्रति हार्दिक विनय का भाव उत्पन्न हो। जीवन के प्रति सम्मान का भाव (रिवरेन्स फॉर लाइफ) उत्पन्न हो। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारी भावों से मुक्त होने की भावना बलवती हो और अपने जीवन को निरन्तर अनुशासित और संयमित बनाने का हम पुरुषार्थ करें।

आज थोड़ा और आगे बढ़ते हैं। अपने जीवन को अच्छा बनाने की इस प्रक्रिया में हमें इस बात की जानकारी भी रखनी होगी, इस बात की पहचान करनी होगी या कहें इस बात का निरन्तर ध्यान रखना होगा कि मेरे जीवन में क्या करने योग्य है और क्या करने योग्य नहीं है? किसमें मेरा हित है, किसमें मेरा हित नहीं है? यानी अपने भले-बुरे का ज्ञान और स्व-पर विवेक निरन्तर बना रहे। इसी का नाम है अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग। जैसे कि हम अपने बच्चों को समझाते हैं, उन्हें सावधानी बरतने के लिए कहते हैं कि देखो वह जो लाइटर रखा है ना, उसको मत छूना, नहीं तो मुश्किल में पड़ जाओगे। वह जो वहाँ पर आग जल रही है उसमें कभी हाथ मत डालना, वरना हाथ जल जाएगा। हम उसे भले-बुरे का ज्ञान कराते हैं।

ऐसे ही अपने जीवन में भी ध्यान रखना होगा कि संसार के दु:खों को बढ़ाने वाली, मुझे मुश्किल में डालने वाली कौन-कौन सी बातें है और संसार के दु:खों से मुक्त करने वाली, मेरे जीवन को सहज स्वाभाविक बनाने वाली कौन-कौन सी बातें हैं? यह समझ या विवेक, अभीक्ष्ण यानी अनवरत, सतत (कन्टीन्यू) बना रहे। अभक्ष्ण ज्ञानोपयोग का अर्थ यही है कि मेरी चेतना निरन्तर स्व-पर प्रकाशक ज्ञान की आराधना में संलग्न रहे। हमें कदम-कदम पर अपने भले-बुरे का ज्ञान बना रहे। यह बात सदा स्मृति में बनी रहे।

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तैं, निज-भाव को न्यारा किया।।

ऐसी पैनी दृष्टि हमारे भीतर आ जाए, ऐसा ज्ञान, ऐसा विवेक, ऐसा भेद विज्ञान हमारे भीतर उत्पन्न हो जाए जिसके द्वारा हम स्व और पर का अन्तर पहचान सकें। जिसके द्वारा हम रागादि विकारी भावों से और रूप, रस, गंध व स्पर्श से युक्त पौद्गलिक शरीर से, अपने निजी स्वभाव को पृथक अनुभव कर सकें। वास्तव में, ऐसा भेद विज्ञान ही हमारे जीवन को ऊँचा उठाने में सक्षम है; वरना ज्ञान तो सभी जीवों के पास होता है। ज्ञान के साथ मजा यह है कि 'गंगा गए सो गंगादास और जमुना गए सो जमुनादास'। मिथ्यात्व के साथ वही ज्ञान संसार के दु:खों को दिलाने वाला है और सच्ची श्रद्धा के साथ वही ज्ञान संसार के दु:खों से मुक्ति दिलाने वाला है।

आत्मज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है, वही विद्या है, शेष भौतिक ज्ञान को तो अविद्या कहा गया है। कहा भी है - 'सा विद्या या विमुक्तये'। विद्या वही है जो मुक्त करे या मुक्ति दिलाए। आज की शिक्षा पद्धति के द्वारा हम कुतर्क और अविनय सीख रहे हैं। जिस शिक्षा के द्वारा हमें अपने जीवन को विवेकवान, विनयवान

और संयमित बनाना चाहिए था उसी के द्वारा हम जीवन में अनुशासनहीनता, स्वच्छन्दता और अनैतिकता या चरित्रहीनता का पाठ सीख रहे हैं। एक बात यह भी है कि मात्र शिक्षा को दोष नहीं दिया जा सकता। दोषपूर्ण, स्वार्थपूर्ण वा भोगवादी दृष्टि भी इसमें कारण है।

आचार्य भगवन्तों का हमारे ऊपर असीम उपकार है। वे अपने जीवन के अनुभव की सब बातें हमें बता गए हैं। उनके द्वारा लिखे गए शास्त्र हमारे लिए माइलस्टोन की तरह हैं। यदि हम उनके द्वारा कही गयी बातों का अनुकरण करें, उनके बताए मार्ग पर चलें, तो हम आसानी से अपने लक्ष्य या गंतव्य तक पहुँच सकते हैं। जैसे - माइलस्टोन को पकड़कर बैठ जाने से काम नहीं चलता, ऐसे ही आचार्यों द्वारा कही गयी ज्ञान की बातें करने मात्र से काम नहीं चलता और ज्ञान की बातें मात्र वाद-विवाद या तर्क-वितर्क का विषय भी नहीं है, वे तो हमारी श्रद्धा, हमारे आत्मज्ञान और हमारे चरित्र की उत्पत्ति और वृद्धि में सहायक है।

हम अपने अंतरंग में झाँककर देखें तो हम पाएँगे कि अभी तो हमारा सारा ज्ञान, सारी समझ, सारी बुद्धि इसी बात में व्यस्त रहती है कि हम अपने जीवन में अधिक से अधिक भौतिक सुख-सुविधा और इन्द्रिय व मन के अनुकूल चाही गई चीजों की पूर्ति कैसे करें? हम चाहें तो इन भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति में व्यस्त और अभ्यस्त ज्ञान को सही दिशा देकर स्व-पर कल्याण में भी लगा सकते हैं। स्व-पर प्रकाशक और स्व-पर उपकारी ज्ञान ही श्रेष्ठ है। हम प्रतिक्षण अपने ज्ञान के द्वारा विचार करें कि क्रोध के अवसर आने पर, मान-माया और लोभ जागृत होने पर कैसे स्वयं को सँभाले? कैसे इन सब विकारी भावों से पृथक् अपने निजी-स्वभाव का अनुभव करें? कल मेरे भीतर लोभ जाग्रत हुआ और मैंने लोभ के वशीभूत होकर बहुत सा समय, सम्पत्ति और शक्ति का अपव्यय किया। यह मैंने ठीक नहीं किया। आज मैं ज्यादा लोभ में नहीं पड़ूँगा। सन्तोष धारण करूँगा। आज मैं देह और देहाश्रित सुखों से भिन्न अपने स्वाभाविक आत्म-आनन्द को पाने की भावना पाऊँगा।

अरहंते सुह भक्ति, सम्मत्तं तेसिंमधिगमो णाणं।।
सीलं विसयविरागो, णाणं पुण केरिसं जाण।। ?

मेरी अरहन्त भगवान के प्रति शुभ-अनुराग रूप भक्ति सदा बनी रहे, मेरे ज्ञान में समीचीनता आवे और विषय-भोग विलास से मन विरक्त होकर अपने स्वभाव में लीन रहे, वास्तव में यही ज्ञान है। इसके सिवाय ज्ञान और किसे कहेंगे? आचार्य वीरसेन स्वामी के चरणों में बैठें तो ज्ञात होगा कि ज्ञान की आराधना का क्या महत्त्व है? कैसी महिमा है? उन्होंने धवलाजी में लिखा है कि जो आलस्य छोड़कर निरन्तर आत्म-ज्ञान का अभ्यास करता है। उसका यह आत्माज्ञान का अभ्यास आगामी जीवन में उसे केवल ज्ञान की प्राप्ति में कारण बनता है। ऐसी अपूर्व महिमा है अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग की।

भैया, यदि हम निरन्तर अपनी किताबी जानकारी बढ़ाने और दूसरे को अपनी विद्वता बताने में लगे रहेंगे तो केवल ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। किताबी ज्ञान हासिल कर लेना ही उपलब्धि नहीं है। आज के बौद्धिक युग में किताबी ज्ञान इतना बढ़ जाने के बावजूद भी आपाधापी, असन्तोष, भौतिक लोभ-लालच, वैचारिक उलझन, तनाव और चिन्ता में कमी नहीं आयी। हमारे आचार्य महाराज हमेशा कहते हैं कि किताबी ज्ञान से

कुछ नहीं होगा। पहले यह बात सुनकर हम सोचते थे कि अरे! आचार्य महाराज ने स्वयं तो कितनी किताबें, कितने ढेर सारे शास्त्र पढ़े हैं और हमें पढ़ने के लिए मना कर रहे हैं। लेकिन धीरे-धीरे उनका आशय समझ में आ गया कि किताबें पढ़ने के साथ-साथ आत्मज्ञान को पाने की साधना भी जरूरी है। सन् 1993 की घटना है जब हम ब्रह्मचारी थे एक दिन किसी पुस्तक को उठकर पढ़ने लगे। वह पुस्तक सोनगढ़ विचार धारा की थी। आचार्य श्री ने देख लिया और तुरन्त डांट लगाकर कहा- तुमने ये पुस्तक किससे पूछकर पढ़ी। उस दिन तो दिमाग खराब हो गया कि हमने पुस्तक ही तो ली थी। कुछ समय बाद स्वाध्याय में आचार्य श्री ने कहा- जो व्यक्ति स्व आगम में निष्णात नहीं होगा वह दूसरे (पर आगम) शास्त्रों में क्या कमी खोज पाएगा अर्थात नहीं। फिर समझ में आया था कि डांट क्यो पड़ी थी? उस समय की डांट याद आती है कि जो व्यक्ति पर-आगम को पढ़कर मार्ग से भटक सकता है।

विनोबा जी ने लिखा कि किताबों का होना या नहीं होना, ज्ञान और अज्ञान की कसौटी नहीं है। किताबों का होना तो हमारे अज्ञान को उजागर करता है, हमें यह ज्ञान कराता है कि हमारा ज्ञान कितना अल्प है। किताबों का आलम्बन लेना ज्ञान की अल्पता का भी सूचक है। इसका आशय यह नहीं है कि किताबें नहीं रखने वाला ज्ञानी हो गया। वास्तव में, जो किताब में लिखा है वह जीवन में प्रकट हो जावे तो ही किताब पढ़ना सार्थक है। सच्चा ज्ञानी वही है। '**स्वात्मानं पश्यति यः सः पण्डितः**' - जो अपने आपको, अपने आत्म-स्वरूपको जानता या अनुभव करता है वही पण्डित है, वही ज्ञानी है। उसी का ज्ञान कल्याणकारी है जिसके भीतर यह विचार या विवेक सदा बना रहता है कि अपने भीतर उठने वाले राग-द्वेष रूपी विकारी भावों को हटाना है और अपने वीतराग स्वभाव का अनुभव करना है।

आचार्य भगवन्तों ने लिखा है कि -

"जेण राणा विरज्जेज्ज, जेण मित्ती पवासेज्ज।
जेण तत्त्वं विवुज्जेज्ज, तं णाणं जिस-सासणे।।"

जिनेन्द्र भगवान ने उसे ही सच्चा ज्ञान कहा है जिसके अभ्यास से अन्तरंग में निर्मलता आए और राग-द्वेष रूपी विकारी भावों से विरक्ति हो जाए। जिस ज्ञान के अभ्यास से प्राणी मात्र के प्रति मैत्री-भाव जाग्रत हो। जिस ज्ञान के फलस्वरूप हमें अपने आत्मतत्त्व का बोध हो; ऐसे ज्ञान का अभ्यास निरन्तर करना चाहिए। जैसे हमारे पास बीज रखे हों और हमें यह ज्ञान न हो कि यह बीज किस पौधे के हैं। उसमें लगने वाले फल से हैं तो हम उन बीजों को जमीन में बोकर देख सकते हैं कि इन बीजों से कैसा फल मिलेगा? फल कसौटी है। ऐसे ही आत्मज्ञान या सच्चे ज्ञान की कसौटी यही है कि जैसे-जैसे आत्मज्ञान बढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे ही अंतरंग में रागादि विकारी भाव घटते जाएँगे। दोनों बातें एक साथ (साइमल्टेनियसली) होंगी। आचार्य पूज्यपाद स्वामी के चरणों में बैठें तो ज्ञात होगा कि -

यथा यथा समायति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा-2 न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।। 37।।

यथा-यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभाअपि।
तथा-तथा समायति, सवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।38।।

विषय-भोग की सामग्री, भौतिक सुख-सुविधा की सामग्री सुलभता से प्राप्त होने पर भी रुचिकर नहीं लगेगी - यह निरन्तर बढ़ते हुए आत्मज्ञान की कसौटी है।

प्राणी मात्र के प्रति मैत्री-भाव से हृदय भर जाएगा, यह भी ज्ञान का फल है। मैत्री का अर्थ है सबके हित का भाव। किसी भी जीव को दुःख न हो - ऐसा भाव। आज हम देखते हैं कि हम लोगों का बौद्धिक-स्तर कितना बढ़ रहा है लेकिन हमारे बीच परस्पर स्पर्धा, ईर्ष्या, मनोमालिन्य भी कितना बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में हम जैन तभी कहलाएँगे जब हमारा हृदय सबके प्रति प्रेम-भाव से भरा होगा। सबके प्रति उपकार का भाव हमारे हृदय में जागेगा। अपने जैसा ही सबको मानें और अपने व सबके कल्याण का भाव मन में जागृत हो तो ही हमारे ज्ञान की सार्थकता है।

एक साधुजी ज्ञान प्राप्त करने एकान्त गुफा में निरन्तर शास्त्र-अध्ययन करते रहते थे। अध्ययन करते-करते एक वर्ष बीत गया पर शान्ति व आनन्द नहीं मिला। सोचा वापिस लौट जाऊँ। देखा कि एक मकड़ी जाल बुनते-बुनते बार-बार नीचे गिर जाती है पर फिर से बुनने लगती है। बड़ी प्रेरणा मिली। सोचा एक वर्ष और अध्ययन कर लूँ। एक वर्ष तक अध्ययन चला पर लाभ नहीं मिला। बाबाजी लौटने को हुए तो देखा चिड़िया घौंसला बना रही है पर तिनके सब हवा में बिखर जाते हैं वह फिर मेहनत करके सारे तिनके जमाने लगती है। प्रेरणा मिली सो एक वर्ष और अध्ययन करने गुफा में ही रूके रहे। पर आनन्द नहीं मिला। अब निराश होकर लौटने लगे तो देखा रास्ते में एक गाय का बछड़ा पीड़ा से तड़प रहा है। पास जाकर पता किया तो मालूम पड़ा पैर में घाव हो जाने से कीड़े पड़ गए हैं। बाबाजी का मन दया से भर आया। बछड़े की सेवा में जुट गए। घाव साफ किया, मरहम लगायी, पट्टी बाँधी। बछड़े को राहत मिली। उसने आँखें खोलकर बाबाजी की ओर कृतज्ञता से देखा। बाबाजी को बड़ी शान्ति, मन प्रसन्न हो गया। प्रेमभाव से की गई सेवा सफल हो गई। जो वर्षों तक किताबी ज्ञान हासिल करके नहीं मिला वह प्राणीमात्र के प्रति प्रेमभाव रखने, उसका हित चाहने से मिल गया। भैया! ज्ञान की सार्थकता इसी में है कि वह स्व-पर कल्याण में निमित्त बने।

यह स्व-पर प्रकाशक, सर्वहितकारी आत्मज्ञान हमारे पास है। वह हमारी निजी सम्पदा है। उसे कहीं बारह से लाना नहीं है। उसे अपने में ही प्राप्त करना है। शास्त्र के अभ्यास से, गुरुजनों के उपदेश से, अपने आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा उसे भूले हुए आत्मज्ञान को स्मरण में लाना है।

तोते को पकड़ने वाला बहेलिया एक रस्सी को उमेठकर उसमें लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़े फँसा देता है और उस रस्सी को पेड़ के सहारे बाँध देता है। जैसे ही तोता आकर उस रस्सी में फँसी लकड़ी के ऊपर बैठता है वह लकड़ी तोते के वजन के कारण घूम जाती है। लकड़ी के घूमते ही तोता घबराकर उसे अपने पैरों से जोर से पकड़ लेता है और उल्टा उसी लकड़ी पर लटक जाता है। लकड़ी पर लटका हुआ तोता सोचता है कि अगर लकड़ी छोड़ दूँगा तो नीचे गिरकर मर जाऊँगा। वह भूल जाता है कि लकड़ी को

छोड़कर यदि वह चाहे तो अपनें पंखों के सहारे आकाश में उड़ सकता है लेकिन वह अपनी आकाश में उड़ने की चाल को भूलकर उसी लकड़ी पर लटकता और दु:खी होता रह जाता है। यही दशा हमारी है। हम भी अपनी सुध भूलकर, अपने आत्म-स्वरूप को भूलकर, इस संसार के बंधन में पड़कर दु:ख उठाते रहते हैं।

इसलिए हमें आलस छोड़कर ऐसे ज्ञान के अभ्यास में जुट जाना चाहिए, जिससे हमें अपने आत्म-तत्त्व का बोध हो सके। दुनिया-भर की सैकड़ों बातें जानते हैं हम लोग, पर अपने ही निर्मल वीतराग स्वभाव को भूले हुए हैं। कभी-कभी यह सोचकर ऐसा लगता है, लगना भी चाहिए कि व्यर्थ है यह दुनिया-भर की जानकारी, हमें तो अब स्व-पर प्रकाशक आत्म-ज्ञान प्राप्त करना है। जिसके द्वारा अपना ओर प्राणीमात्र का कल्याण हो सके। हम संसार से पार हो सकें।

एक घटना तो लगभग सभी ने सुन रखी होगी। एक पण्डितजी बनारस से पढ़-लिखकर अपने घर लौट रहे थे। रास्ते में नदी पार करनी पड़ती थी। सो जब चलते-चलते नदी के किनारे पहुँचे तो नाव में बैठकर नदी पार करने लगे। नाव में बैठे-बैठे पण्डित जी मल्लाह से पूछा - कुछ संस्कृत वगैरह पढ़े हो! मल्लाह ने इनकार कर दिया तो पण्डित जी बोले - तुम्हारी चार-आना जिन्दगी तो व्यर्थ हो गई। मल्लाह कुछ नहीं बोला। फिर थोड़ी दूर चलकर पण्डितजी ने पूछा - भाई व्याकरण शास्त्र तो जानते होंगे। मल्लाह ने कहा - पण्डितजी यह क्या होता है? यह तो मैं नहीं जानता। पण्डितजी बोले - भाई! तुम्हारी आठ-आना जिन्दगी तो बेकार हो गई। तुम व्याकरण भी नहीं जानते। अच्छा देखो ज्योतिष-शास्त्र तो कुछ जानते होंगे। अब बेचारा मल्लाह क्या कहे? उसने कहा - पण्डितजी मैं पढ़ा-लिखा बिल्कुल भी नहीं हूँ। ज्योतिष वगैरह मैं नहीं जानता। पण्डितजी बोले - भैया! अब तो तुम्हारी बारह-आना जिन्दगी बेकार चली गई।

नाव आगे बढ़ते-बढ़ते अचानक डवाडोल होने लगी। मल्लाह ने कहा - पण्डितजी लगता है नदी में तूफान आ गया है। पण्डितजी क्या कहें? बोले - भाई मैं तैरना तो नहीं जानता। मल्लाह ने धीरे से कहा - तब तो पण्डितजी आपकी सोलह-आना जिन्दगी बेकार गई।

आप समझ गए, हम सबके साथ भी ऐसा ही है। हमें यदि संसार-सागर से पार होने की विद्या नहीं आती तो बताइए हमारे किताबी ज्ञान की क्या उपयोगिता है? **'जेण तच्चं विवुज्जेज्जं'** - यानी जिसके माध्यम से अपने आत्म-तत्त्व का बोध हो वही वास्तविक ज्ञान है। हम निरन्तर ऐसे ज्ञान का अभ्यास करें जिससे अंतरंग में रागादि विकारी-भाव घटें, प्राणीमात्र के प्रति मैत्री-भाव जागृत हो और हमें अपने आत्म-स्वरूप का अपने वीतराग-स्वरूप का बोध हो।

संत साधना के लिए अनेक उपसर्ग परीषह सहते हैं।
अविनयी के प्रति माध्ययस्थ रखके कुछ नहीं कहते हैं॥
मोक्षमार्गी साधक लीन रहते हैं स्वयं की आत्मा में
वे हमेशा अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग में ही लगे रहते हैं॥

****

5

संवेग भावना

पुत्र-मित्र-कलत्रेभ्यः संसार-विषयार्थतः।
विरक्तिर्जायते यत्र स संवेगो बुधैः स्मृतः॥५॥

जहाँ पुत्र, मित्र, स्त्री और सांसारिक विषयों से विरक्ति होती है उसे पण्डितजन संवेग कहते हैं।

है संसार अपार असीमित, पार नहीं पाया।
काल अनादी से प्राणी यह, जग में भरमाया॥
भय से हो भयभीत जानकर, इस जग की माया।
मंगलमय संवेग भाव बस, ये ही कहलाया॥
सम्यक् दर्शन ज्ञान चरण को, सम्यक् धर्म कहा।
मोक्ष महल का सम्यक् साधन, अनुपम यही रहा॥
धर्म और उसके फल में जो, हर्ष भाव आवे।
सु संवेग भाव शास्त्रों में, ये ही कहलावे॥

हम सभी पिछले कई दिनों से इस बात पर विचार कर रहे हैं कि अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए हमें क्या-क्या प्रयत्न करना चाहिए। सही दिशा में किया गया प्रयत्न अवश्य ही हमारे जीवन को अच्छा बनाने में सहायक होगा। सच्ची श्रद्धा, आत्मज्ञान और सदाचरण के मार्ग पर चलना - यही हमारे जीवन को अच्छा बनाने के लिए किया जाने वाला समीचीन पुरुषार्थ है।

पूज्य पुरुष, जो समीचीन पुरुषार्थ करके अपने जीवन को अच्छा बना चुके हैं और जो समीचीन-मार्ग पर चलते हुए निरन्तर अपने जीवन को अच्छा बनाने में लगे हुए हैं उन सबके प्रति हमारे हृदय में, विनय और समर्पण का भाव हो। हम उनके जैसे बनने की भावना रखें। हम निरन्तर कषायों को कम करें, पाप-कार्य से बचें और जीवन को निर्दोष बनाएँ। हमारे हृदय में आत्मज्ञान की ज्योति जले और हम निरन्तर अपने आत्म-स्वरूप का ही ध्यान करें। इतनी सब बातें पिछले दिनों हमने सीखी और समझी हैं।

आज हम थोड़ा-सा और आगे बढ़ते हैं। **"संसार दुखात् नित्य भीरुता संवेगः"** संसार के दु:खों से सदा भयभीत रहना - यह संवेग कहलाता है। अथवा **"संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चित्तः"** हर्ष, उत्साह और सात्विक भाव का होना संवेग है। धर्म में और धर्म के फल में जो परम उत्साह है उसे ही संवेग कहा गया है। हम इस चीज को समझने का प्रयास करते हैं।

संसार, शरीर, भोगों से डरना तथा धर्म में अनुराग करना संवेग है। सम्यक्दर्शन के 4 गुण है प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य। इनमें से एक गुण भी अगर कम हुआ तो सम्यक्दर्शन पूर्णता को प्राप्त नहीं होगा। जैसे स्त्री पूर्ण श्रृंगार कर ले परन्तु माथे पर बिन्दी न लगाये तो सारी सुंदरता बेकार है, उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि को संवेग गुण नहीं तो सारी सुंदरता बेकार है उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि को संवेग गुण नहीं तो वह सम्यक्दृष्टि नहीं है क्योंकि सम्यक्दृष्टि की सारी क्रियायें संसार, शरीर, भोगों से विरक्त रहकर होती है। शरीर, भोगों में लिप्त होकर संवेग भावना नहीं हो सकती। संवेग भावना के बिना सारी भावनाएँ अधूरी है।

भ्रात न तात न पुत्र कलत्र न, संयम सज्जन ए सब खोटो।
मंदिर सुंदर काहि सखा सब, को इसको हम अंतर मोटो।
भाव के भाव धरी मन भेदन, नाहिं संवेग पदारथ छोटो।
'ज्ञान' कहे शिव साधन को जैसी, साह के काम करें जुवणोटो?

हम विचार करें, सबसे पहले संसार के स्वभाव का। **'जगत्काय स्वभावौ वा संवेग वैराग्यार्थं'** - संसार और शरीर के स्वभाव की जानकारी होने पर जीवन में संवेग और वैराग्य उत्पन्न होता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी के चरणों में बैठें तो मालूम पड़ता है कि संसार तो अशरण है, अशुभ है, नाशवान है, दु:ख रूप है और मेरे आत्म-स्वरूप से भिन्न है। **"अशरणमशुभमनित्यं, दुःखमनात्मानमावसामिभवम्।"**

अपनी ही अज्ञानता और आसक्ति के कारण हम संसार में भटकते रहते हैं। यह संसार अशरण है। इसमें जीव को मृत्यु से बचाने वाला कोई नहीं है। अपनी-अपनी आयु पूर्ण होने पर सभी को मरना पड़ता है। धन सम्पदा, पद प्रतिष्ठा और संगी-साथी या कोई मंत्र-तंत्र या देवी-देवता भी मृत्यु से हमें बचा नहीं सकते। मरण के समय सब निरुपाय और नि:सहाय है। संसार अशुभ है क्योंकि मेरी ही अज्ञानता और राग-द्वेष अशुभ कारणों से यह निरन्तर गतिशील है। पंच-परावर्तन रूप संसार मेरे ही अशुभ-भावों का प्रतिफल है। यह अनित्य है क्योंकि इस संसार में परिभ्रमण के दौरान मिलने वाली देह और देहाश्रित सारे सम्बन्ध, सारी संयोगी पर्यायें नाशवान हैं। यह दु:खरूप है क्योंकि यह दु:ख का कारण है। यहाँ प्राप्त होने वाला क्षणिक इन्द्रिय-सुख अंतत: हमें दु:ख में ही ले जाता है। यहाँ भौतिक-सुख मिलता अवश्य है पर वह दु:ख का ही कारण बनता है। दुष्यंतकुमार ने लिखा है - 'यहाँ दरख्तों के साए में धूप लगती है, चलो यहाँ से चलें उम्र भर के लिए।' यहाँ तो जिसमें सोचते हैं सुख मिलेगा, वहीं उसी में दु:ख मिलता है। यहा संसार, मेरे आत्म-स्वरूप से भिन्न है। मेरी आत्मा तो सत्, चित् और आनन्द रूप है। यह संसार उससे विपरीत है।

इस तरह यदि हम संसार की वास्तविकता का निरन्तर चिन्तन करते हैं तो सहज ही संसार के दु:खों से बचने का भाव उत्पन्न होता है।

संसार अशुभ है, दु:खमय है, असार है इसलिए हम संसार से भयभीत होकर पलायन करें या निराश होकर अपना जीवन व्यर्थ गवाँ दें - यह हमारी भूल होगी। संसार से पलायन करने या अकर्मण्य होकर जीवन जीने का नाम संवेग नहीं है। संवेग का अर्थ है संसार के स्वरूप को जानकर उससे पार होने के लिए उत्सुक होना। सांसारिक सुख-दु:ख में समता-भाव रखते हुए अपना कर्त्तव्य करना। संवेग में सजगता और सन्तुलन दोनों ही बातें हैं। संसार से पलायन भी नहीं और संसार में आसक्ति भी नहीं।

वास्तव में, राग-द्वेष करना ही संसार है। मैं यदि संसार से पार होना चाहता हूँ तो मेरा कर्त्तव्य है कि मैं अपने राग-द्वेष से मुक्त होने का उपाय करूँ। संसार से भयभीत होना यानी अपने ही राग-द्वेष रूप विकारों से भयभीत होना। निरन्तर राग-द्वेष भावों से बचने का प्रयास करना और राग-द्वेष के बीच समता भाव बनाए रखने का अभ्यास करना।

संसार में भौतिक-सुख की प्राप्ति को हम सच्चा सुख मान लेते हैं और निरन्तर भौतिक-सुखों की प्राप्ति का उपाय करते रहते हैं। हमें यह बात अच्छी तरह जान लेनी चाहिए कि भौतिक-सुखों की प्राप्ति कर्म के अधीन है, क्षणिक है, दु:ख से मिश्रित है और पाप में कारणभूत है। साता-कर्म के उदय में जो भौतिक-सुख सुविधा की सामग्री सुखकर मालूम पड़ती है। वही असाता के उदय में दु:खदायी लगने लगती है। यह बात देखने में भी आती है। जब इन्कम टैक्स की रेड (Raid) पड़ती है तो संचित धन सम्पदा और भौतिक-सुख सुविधा की सारी सामग्री भी दु:खदायी लगने लगती है।

भौतिक-संसाधनों के अर्जन, संरक्षण और संवर्धन में व्यक्ति को कितना संक्लेश करना पड़ता है, कितना कष्ट सहना पड़ता है, कितना छल-कपट, झूठ-फरेब करना पड़ता है, कितनी मेहनत करनी पड़ती है और जब जिस क्षण वह संचित धन-सम्पदा नष्ट होने लगती है, छिन जाती है या छीन ली जाती है उस क्षण होने वाली पीड़ा भी किसी से छिपी नहीं है। असल में, संसार की तासीर यही है कि यहाँ मिलने वाली सुख की सामग्री भी अंतत: दु:ख में ही ले जाने वाली है। हमारे आचार्य महाराज एक उदारहण देते हैं कि जब लोग शिखरजी की वंदना करने जाते हैं ठण्ड के दिनों में, तब खूब गरम कपड़े पहनकर जाते हैं। पहाड़ पर दोपहर होते ही धूप में चलते समय वही सुखदायी लगने वाले गरम कपड़े गर्मी के कारण दु:खदायी मालूम पड़ने लगते हैं। भौतिक-सुख तो सब ऐसे ही हैं। सारे संयोगी-संबंध भी संसार में ऐसे ही दु:खदायी हैं। इसलिए संसार के दु:खों से बचने का उपाय करना ही श्रेयस्कर है।

संसार के दु:खों से बचने का उपाय ज्यादा कठिन नहीं है। संसार में हम सजग और सावधान रहें, गाफिल न हों। आचार्य महाराज ने एक बार एक घटना सुनाई थी कि किसी के घर में एक व्यक्ति पहुँचा। घर

के मालिक ने उसकी खूब-आवभगत की। जब विश्राम करने का समय हुआ तब घर के मालिक ने उस व्यक्ति को एक कमरे में विश्राम करने को कह दिया। कमरा बहुत बढ़िया था, वातानुकूल (एअर-कंडीशन) था, सब सुख-सुविधाएँ उसमें उपलब्ध थीं परन्तु जैसे ही वह व्यक्ति विश्राम करने के लिए पलंग पर लेटने लगा तो घर के मालिक ने कह दिया कि भैयाजी और तो कोई असुविधा की बात नहीं है, बस इतना ही है कि अभी आपके आने से पहले ही इस कमरे में एक सर्प घुसा था। अब सोचिए, उस बढ़िया कमरे में जिसकी अभी प्रशंसा की गई थी, क्या वह व्यक्ति सुख की नींद ले सकेगा? उसे नींद तो तभी आ सकेगी जब सर्प उस कमरे से निकल जाएगा।

भैया, यह तो एक दृष्टान्त मात्र है। हमारे अपने जीवन में भी, इस संसार में रहते हुए, दु:ख के अनेक कारण विद्यमान है। जब तक दु:ख के कारणभूत राग-द्वेष आदि विषधर हमारे भीतर विद्यमान हैं तब तक हम सुख की नींद कहाँ ले सकते हैं? इस संसार में दु:खों से बचने का उपाय यही है कि हम अपने भीतरी जो दु:ख के कारणभूत राग-द्वेष आदि परिणाम हैं उनको बाहर निकालने का प्रयास करें। दु:ख के कारणभूत राग-द्वेष भाव जब तक मेरे भीतर विद्यमान हैं मैं जागता रहूँ। हमेशा सजग और सावधान रहकर उन्हें निकालने का उपाय करता रहूँ।

आचार्य भगवन्तों से जब कोई शिष्य पूछता है -

कधं चरे कधं चिट्ठे कधंमासे कधं सए।
कधं भुंजीज्ज भासेज्ज जदो पावं ण बंधई॥

हे भगवन्! कैसे चलूँ? कैसा विचार करूँ? कैसे आऊँ-जाऊँ? कैसे उठूँ-बैठूँ? कैसे शयन करूँ? कैसे भोजन करूँ? कैसे बोलूँ? तब आचार्य महाराज समझाते हैं कि '**जदं चरे जदं चिट्ठे, जद मासे जदं सये? जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बंधइ।।**' ऐसे सावधानी से विचार करो, सावधानी से उठो-बैठो, सावधानीपूर्वक शयन करो, सावधानी से आहार लो और सावधानीपूर्वक बोलो, जिससे पाप का बंध न हो। जो-जो भी कार्य करना आवश्यक हो वे सब सावधानी से करें, सजगता से करें, जिससे पापों का संचय न हो।

देखो, आचार्य भगवन्तों ने हमें संसार के दु:खों से मुक्त होने का कितना आसान-सा उपाय बता दिया। संसार दु:खमय है इस सच्चाई को जानकर दु:ख से बचने के लिए हमेशा सजग व सावधान रहें। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि संसार से भयभीत होने का अर्थ ये नहीं है कि कहीं डरकर भाग जाना है। हे भाई! जब तक हम संसार से पार नहीं हो जाएँगें तब तक तो हमें संसार में ही रहना है, इसलिए भागने से काम नहीं बनेगा। कर्तव्य से विमुख होने, पलायन करने से काम नहीं बनेगा बल्कि अपने कर्त्तव्य को अत्यन्त सजगता, प्रतिक्षण सावधानी से करना, यही संसार से पार होने का उपाय है। कदम-कदम पर सजगता,

प्रतिक्षण सावधानी ऐसी कि मेरे मन-वचन-काय से किसी का अहित न हो, स्वयं अपनी आत्मा भी पतन की ओर न जाए। मुनिजन सदा अप्रमत्त-भाव रखते हुए अपना कर्त्तव्य करते हैं इसलिए उन्हें पाप का बंध नहीं होता बल्कि पाप-कर्म की निर्जरा और पुण्य का संचय होता है।

एक सद्‌गृहस्थ भी घर-गृहस्थी में रहते हुए चाहे तो कर्त्तापने का भाव छोड़कर, मात्र कर्त्तव्य मानकर अपने कार्य करें, सावधानी रखें, सकारात्मक सोच रखे तो अपने दु:खों का बोझ हल्का कर सकता है। जैसे समझने के लिए एक माँ भोजन बना रही है और मन ही मन सोच रही है कि हमारे हिस्से में यह बड़ी मुसीबत आई कि सुबह से शाम तक चौका-चूल्हें में ही लगे रहो। खाने वाले समय से भोजन नहीं करते। भोजन बनाकर सबका इंतजार करते बैठे रहो। ऐसा नकारात्मक सोच होने से स्वयं संक्लेश हुआ और काम भी सब करना पड़ा, भले ही बेमन से किया, मजबूरी में किया। यदि वह माँ विचार करें कि मेरा सौभाग्य है जो मुझे सबको शुद्ध व सात्विक भोजन बनाकर खिलाने का अवसर मिला। मेरे द्वारा बनाया गया भोजन सबके धर्मध्यान में सहायक हो और जैसे ही भोजन बनाते-बनाते अवसर मिलता है वह माँ णमोकार-मंत्र का मन ही मन स्मरण कर लेती है। इस तरह भोजन बनाने का कर्म भी सावधानीपूर्वक प्रसन्नता से अपना कर्त्तव्य मानकर किया जए तो यह सकारात्मक सोच, कर्त्तव्य-बोध और सजगता भी कर्म के बंधन को ढीला करने में सहायक है। घर-गृहस्थी के कार्य करते समय जितना समता-भाव रख सकें उतना ही शीघ्र वह दु:खों से पार हो सकता है।

असल में, अज्ञानता और आसक्तिवश हम स्वयं ही अपना संसार बढ़ाते हैं। यदि हम संसार की वास्तविकता को जानकर, सजग और सावधान रहकर, हर्ष-विषाद से बचकर, विवेकपूर्वक अपना जीवन जिएँ तो संसार के दु:खों से स्वयं बच सकते हैं। सामान्य रूप से हम सभी अपना जीवन सोते-सोते यानी विवेकशून्य होकर और सपने देखते-देखते यानी भोग-विलास में आसक्त होकर व्यतीत कर देते हैं। जीवन भर स्वप्न और जागृति के बीच का अन्तर नहीं समझ पाते। सच्चाई क्या है और स्वप्न क्या है? यह पहचान नहीं पाते। जिसके जीवन में संवेग-भाव जागृत होता है वह सच्चाई को पहचान जाता है। संवेग के तीन चिह्न उसके भीतर दिखने लगते हैं। तत्त्व के प्रति रुचि होना, भौतिक सुखों के प्रति उदासीनता होना और कष्ट सहने की क्षमता आना या कष्ट सहिष्णु होना - ये तीन चिह्न संवेग के कहे गए हैं।

एक बहुत बड़ा राजा था। उसके एक ही बेटा था। एक बार वह बहुत बीमार पड़ गया। सभी को चिन्ता हो गई। राजा-रानी स्वयं बेटे के सिरहाने बैठकर दिन-रात सेवा में जुटे रहे पर तीन दिन तक राजकुमार को होश नहीं आया। राजा भी ठीक से सो नहीं पाया। चौथे दिन राजकुमार ने आँख खोली। सभी को प्रसन्नता हुई कि अब राजकुमार ठीक हो जाएगा। रानी साहिबा के कहने पर राजा थोड़ा विश्राम करने लगा। क्षणभर में राजा की नींद आ गई। नींद में राजा ने स्वप्न देखा कि वह एक भव्य राजमहल में अपार वैभव और अपने बारह राजकुमारों के बीच सुखपूर्वक रह रहा है। सब ओर खुशहाली है आनन्द है। तभी

अचानक रानी साहिबा के रोने की आवाज़ सुनकर राजा की नींद खुल गई मालूम पड़ा कि राजकुमार की मृत्यु हो गई। क्षण भर के लिए राजा विचार मग्न हो गया और सहसा उसके चेहरे पर मुस्कुराहट फैल गई। सभी दंग रह गए कि इतने दुःख के अवसर पर राजा के चेहरे पर मुस्कान कैसी? कहीं राजा घोर पीड़ा के कारण विक्षिप्त तो नहीं हो गया। लगता है राजा दुःख को झेल नहीं पा रहें हैं। रानी साहिबा ने राजा को हिलाया और पूछा कि आपको क्या हुआ? आप ठीक तो हैं? राजा ने कहा कि मैं निर्णय नहीं ले पा रहा हूँ। यह जो राजकुमार नहीं रहा इसके लिए रोऊँ या वे जो स्वप्न में मेरे बारह राजकुमार थे और स्वप्न टूटते ही वे सब नहीं रहे उनके लिए रोऊँ? लगता है मानो दोनों ही स्वप्नवत् हैं। मेरा भ्रम टूट गया। संसार की सच्चाई जानकर अनायास मेरे चहेरे पर मुस्कराहट आ गई। अब मैं इस संसार में सजग व सावधान होकर रहूँगा। जागृत होकर जीवन जिऊँगा। बंधन में डालने वाली और दुःख उत्पन्न करने वाली मन, वचन, काय की क्रियाएँ नहीं करूँगा और अन्ततः राजा मुनि बनकर आत्म-हित में लीन हो गए।

हम भी अपने जीवन में झाँककर देखें तो ऐसा ही है हमारा जीवन। रात्रि में देखे गए स्वप्न नींद खुलने पर टूट जाते हैं उनमें हमें सच्चाई नहीं जान पड़ती, पर दिन भर जो इष्ट-अनिष्ट और संयोग-वियोग के भ्रम में हम जीते हैं उसे ही सच्चाई मान लेते हैं। यही अज्ञानता और गाफिलता हमारे दीर्घकालीन संसार का कारण है। हम इस सच्चाई को पहचानें और संयोग-वियोग के बीच साम्य-भाव रखने का अभ्यास निरन्तर करते रहें। श्रेष्ठ वस्तु का संयोग होने पर, उसका सद्भाव होने पर उसकी कीमत समझें और उसका सदुपयोग कर लें। मनुष्य पर्याय श्रेष्ठ है उसकी कीमत समझें और उसका सदुपयोग करें; उसे स्व-पर कल्याण में लगाएँ - यही जीवन की उपलब्धि हैं समता और वीतरागता ही हमारा धर्म हैं। जीवन में आने वाले सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि के अवसर पर अपने भावों की सँभाल करना, हर्ष-विषाद नहीं करना, राग-द्वेष से बचना, यही तो वीतराग-धर्म है। ऐसे वीतराग धर्म के प्रति श्रद्धा रखना, उसे धारण करने के लिए उत्साहित और तत्पर रहना इसे भी आचार्यों ने संवेग कहा है। वीतरागता तो हमारा अपना स्वभाव है। हम अपने इस वीतराग-स्वभाव के प्रति अनभिज्ञता के कारण ही संसार में दुःख पा रहे हैं, भटक रहे हैं। जो जितना अपने वीतराग-स्वभाव के सम्मुख है वह उतना ही दुःखों से मुक्त है। वीतराग-स्वभाव के सम्मुख होने से हमारा आशय यही है कि हम वीतराग-भाव धारण करें। राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारी भावों से बचते रहें। वीतरागता और वीतरागी की संगति करें, उनकी सेवा करें, उसी में मन लगाएँ, उसी का गुणगान करें, उसे प्राप्त करने के लिए उत्साहित हों।

सीधी-सच्ची बात यह है कि हम अपने स्वभाव को न भूलें। एक घटना याद आ गई। एक मीर-साहब थे। रोजाना शाम को सैर करने निकलते थे। बदन पर शेरवानी, हाथ में छड़ी और सीधी सधी हुई चाल। सारा शहर भागमभाग में व्यस्त है, आपाधापी में लगा है। पर जैसे ही मीर-साहब सैर करने घर से निकले कि घर में आग लग गई। सब लोग घबराए। नौकर को दौड़ाया कि जाओ खबर करो मीर-साहब को

कि जरा जल्दी आएँ। नौकर भाग-भागकर गया। मीर-साहब सैर करके लौट रहे थे। नौकर ने डरते-डरते सारी बात बताई। मीर-साहब चुपचाप सारी बात सुनते रहे और अपनी चाल चलते रहे। चाल में कोई अन्तर नहीं आया। नौकर असमंजस में पड़ गया। उसने एक बार फिर से सारी बात दुहराई और कहा कि हुजूर! सब आपका इन्तजार कर रहे हैं। परेशान हैं जरा जल्दी चलिए। मीर-साहब मुस्कराए और बोले कि आग लगे तो लग जाए मैं अपनी चाल नहीं छोड़ूँगा। अपनी चाल चलूँगा।

हम अपनी स्थिति का आकलन करें। हमने संसार में आकर अपनी चाल ही छोड़ दी। हम तो अपने स्वभाव से विमुख होकर जीवन जी रहे हैं। हम चाहें तो अपनी स्वाभाविक-अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। अपने वीतराग-धर्म में स्थित रह सकते हैं। हमें सदा अपने धर्म में स्थित रहने का प्रयास करना चाहिए। जरा-जरा सी लाभ-हानि और जरा-जरा से भौतिक-सुखों की प्राप्ति के लिए अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिए। अपनी सरलता, अपनी मृदुता, अपना ईमान, अपनी समता और सन्तोष-भाव नहीं खोना चाहिए। संसार की वास्तविकता को जानकर सदा सजग और सावधान रहकर जीवन जीना चाहिए। जो इस संसार में समतापूर्वक जीवन जीने की कला सीख लेता है। वह शीघ्र ही संसार से मुक्त हो जाता है।

यहाँ संसार में जीव जिस पुत्र से राग करता है, वह जन्म लेते ही स्त्री का यौवन सौन्दर्य आदि बिगाड़ देता है। जन्म लेने के बाद बड़ी आकुलता करते हुए बड़े कष्ट आदि सहते हुए, धन खर्च करके पुत्र को बड़ा करते हैं तथा रोगादि से बचाते हुए, क्षण-क्षण बड़ी सावधानीपूर्वक महामोही-महारागी होकर, ग्लानि रहित होकर, बड़े कष्ट सहकर बड़ा करते हैं। वह पुत्र बड़ा होकर अच्छा भोजन, अच्छा वस्त्र, आभरण तथा अच्छा स्थान दृढ़तापूर्वक ग्रहण कर लेता है। यदि वह मूर्ख हुआ, व्यसनी हो गया एवं तीव्र कषायी हुआ तो रात-दिन परिणामों में जो क्लेश होता है, वह कहा नहीं जा सकता है।

पुत्र के मोह से परिग्रह में बड़ी मूर्च्छा बढ़ती है। यदि वह समर्थ हो जाये किन्तु अपनी आज्ञा में नहीं चले तो परिणाम बहुत विरूप हो जाते हैं। यदि जीवित रहते हुए युवा पुत्र का मरण हो जाए तो अपनी मृत्यु पर्यन्त महादु:खी रहता है, कष्ट नहीं मिटता है। जब तक पिता को अपना काम करने वाला समझता है तब तक वह पिता से प्रेम करता है। जब पिता काम करने में असमर्थ हो जाता है तो उनमें प्रेम नहीं करता है। यदि पिता धन रहित हो तो उनका निरादर करता है। इसलिए पुत्र का स्वरूप समझकर पुत्र से राग छोड़कर परम धर्म से राग करो। पुत्र के लिए अन्याय से धन परिग्रह आदि को ग्रहण करने का परित्याग करो।

स्त्री भी मोह नाम के ठग की बड़ी फाँसी है, ममता उपजाने वाली है तथा तृष्णा को बढ़ाने वाली है। स्त्री में तीव्रराग होने से वह धर्म में प्रवृत्ति का नाश करने वाली है। लोभ को बहुत अधिक बढ़ाने वाली है। परिग्रह में मूर्च्छा बढ़ाने वाली है। ध्यान-स्वाध्याय में विघ्न करने वाली है। विषयों में अंधा करने वाली हैं। क्रोधादि चारों कषायों में तीव्रता कराने वाली है। संयम का घात करने वाली हैं एवं झगड़े की जड़ है। ऐसा

जानकर विरागभाव को प्राप्त होना ही संवेग है। इसलिए संवेग भावना का निरन्तर चिन्तन करना ही श्रेष्ठ हैं। अत: मेरे हृदय में निरन्तर संवेग भावना रहे। ऐसा चिन्तन करते हुए संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति होने पर ही परम धर्म में अनुराग होता है।

जो वस्तु का स्वभाव है, वह धर्म है। उत्तम क्षमादि दशलक्षणरूप धर्म है, रत्नत्रय रूप धर्म है तथा जीवों की दयारूप धर्म है। पर्याय बुद्धि वाले शिष्यों को समझाने वाले के लिए धर्म शब्द का चार प्रकार से वर्णन किया है। क्षमादि दशभेदरूप आत्मा का ही स्वभाव है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र आत्मा से भिन्न नहीं हैं तथा दया आत्मा का ही स्वभाव है।

जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे गये आत्मा के स्वभावरूप क्षमादि दशलक्षण धर्म में अनुराग होना संवेग है। कपट रहित रत्नत्रय धर्म में अनुराग होना संवेग है। मुनीश्वरों के तथा श्रावकों के धर्म में अनुराग होना संवेग है। जीवों की रक्षा करने रूप जीव दया के परिणाम होना संवेग है।

तीर्थंकरपना, चक्रवर्ती होना, नारायण, प्रतिनारायण, बाधारहित केवली होना, स्वर्गादि में महान ऋद्धिधारी देव होना, इन्द्र होना, अनुत्तर आदि विमानों में अहमिन्द्र होना वह सब पूर्व जन्म में आराधना किये धर्म का ही फल है।

भोगभूमि आदि में उत्पन्न होना, राज्य संपदा पाना, अखण्ड ऐश्वर्य पाना अनेक देशों में आज्ञा चलना, प्रचुर सम्पदा पाना, रूप की अधिकता पाना, बल की अधिकता, चतुरता, महान् पण्डितपना, सर्व लोक में मान्यता, निर्मल यश की ख्याति, बुद्धि की उज्ज्वलता, आज्ञाकारी धर्मात्मा कुटुम्ब का संयोग मिलना, सत्पुरुषों की संगति मिलना, रोग रहित होना, दीर्घ आयु, इन्द्रियों की उज्ज्वलता, न्याय मार्ग में प्रवर्तना, वचन की मिष्ठता इत्यादि उत्तम सामग्री का पाना, धर्म से प्रेम एवं धर्मात्मा की सेवा, धर्म तथा धर्मात्मा की प्रशंसा का फल है। विश्वास पात्र मित्र मिलना ही धर्म का फल है।

इस कलिकाल के मित्र, विषयों में उलझाने वाले सभी व्यसनों में फँसाने वाले होते हैं। जिनको धनवान देखते हैं। उनसे अनेक लोग मित्रता करते हैं, निर्धन से कोई बात भी नहीं करता है। अधिक कहाँ तक कहा जाये, मित्रता तो व्यसनों में डुबोने के लिए ही है।

इसलिए यदि संसार में डूब जाने का भय लगता है तो अन्य सभी से मित्रता छोड़कर परमधर्म में अनुराग करो। यह संसार तो निरन्तर जन्म मरण रूप ही है। प्रत्येक जीव जन्म के दिन से ही मृत्यु की ओर निरन्तर प्रयाण करता है। अनँतानंत काल जन्म मरण करते हो गया है। अत: पंच परावर्तन रूप संसार से विरागता का भाव लाओ।

पाँचों इन्द्रियों के विषय आत्मा के स्वरूप को भुलाने वाले, तृष्णा को बढ़ाने वाले और असंतोष को बढ़ाने वाले हैं। विषयों के समान पीड़ा तीनों लोक में भी अन्य नहीं है। विषय तो नरकादि कुगति के कारण

हैं।धर्म से पराङ्मुख करने वाले हैं, कषायों को बढ़ाने वाले हैं, ज्ञान को विपरीत करने वाले है, विष के समान मारने वाले हैं, विषय और अग्नि के समान दाह उपजाने वाले हैं। इसलिए विषयों में राग छोड़ने में ही परम कल्याण है। जो अपना कल्याण चाहते हैं, उन्हें विषयों को दूर से ही छोड़ देना चाहिए।

शरीर रोगों का स्थान है, महामलिन दुर्गन्धित सप्त धातुमय है, मल मूत्रादि और वात-पित्त-कफ से भरा है। वायु के निमित्त से हलन चलन आदि करता है, सदा ही भूख प्यास का कष्ट लगाये रहता है, सब प्रकार की अशुचिता का पुंज हैं, दिन-प्रतिदिन जीर्ण होता चला जाता है तथा करोड़ों उपायों द्वारा रक्षा करते रहने पर भी मरण को प्राप्त हो जाता है। ऐसे शरीर से विरक्त होना ही श्रेष्ठ है।

इस प्रकार पुत्र, मित्र, कलत्र, संसार और शरीर भोगों का दु:खकारी स्वरूप है।

कल्पवृक्ष, चिंतामणि रत्न सभी धर्मात्मा के दरवाजे पर खड़े समझो। धर्म के फल की महिमा कोटि जिह्वाओं द्वारा भी कहने में समर्थ नहीं हो सकती है। ऐसे धर्म के फल को, जो तीन लोक में उत्कृष्ट जानता है, उसके संवेग भावना होती है। धर्म सहित साधर्मी जीवों को देखकर आनंद उत्पन्न होना, धर्म की कथनी में आनन्दमय होना तथा भोगों से विरक्त हो जाना वह संवेग नाम की पाँचवी भावना है। इसको आत्मा का हितरूप समझकर निरन्तर इसकी भावना भावो तथा भावना में आनंद सहित होकर इसकी प्राप्ति के लिए इसका महान् अर्घावतरण करो।

पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। 1. सराग और 2. वीतराग। संवेग सराग सम्यग्दर्शन के चार लक्षणों में से एक है। ललाट पर तिलक के अभाव में स्त्री का सम्पूर्ण श्रृंगार अर्थहीन है। वेदी में मूर्ति के विराजमान न रहने पर मन्दिर की कोई भी शोभा नहीं है। उसी प्रकार बिना संवेग के सम्यग्दर्शन सम्भव नहीं है। संवेग सम्यग्दृष्टि का अलंकार है। संवेग एक उदासी की स्थिति है। बाह्य विषय भोगों में उसे रस नहीं आता। शान्ति के सामने उनका क्या मूल्य है। जिसे हीरे जवाहरात मिलते है वह काँच के टुकड़े क्यों ग्रहण करेगा ? अत: भोग सामग्री से उसे स्वत: ही अन्तरंग से उदासीनता हो जाती है। कृत्रिम रूप से देखा देखी इस सामग्री का त्याग करने का नाम सच्ची उदासीनता नहीं है। उनका त्याग न होने पर भी गृहस्थी में रहते हुए उनमें पूर्ववत् रस आना बन्द हो जाता है। उसे ऐसा वैराग्य या संवेग उपलब्ध हो जाता है कि संसार के जंजाल से मानो कंपकपी सी छूटने लगती है। घर में संचित पदार्थो का ढेर देखकर उसका मन हिलने लगता है। जिस कमरे को उसने रूचिपूर्वक सजाया था आज मानों वह खाने को दौड़ रहा है, ऐसा संसार के प्रति भय उत्पन्न हो जाता है। इसमें रोता भी नहीं, हँसता भी नहीं। संवेग स्थिति तो भोगों की उदासीनता है। यह स्थिति सद्गृहस्थ से लेकर मोक्षमार्ग में आरूढ़ मुनि महाराज में प्रतिभासित होती है। अपने आहार विहार में, उठने-बैठने में सदैव सजग रहता है। साधु का आहार, आहार नहीं, सोना-सोना नहीं, उसका मार्ग चिन्तन और मनन है। ऐसे संवेग धारी साधु के दर्शन दुर्लभ हैं सम्यग्दर्शन के बिना डरना होता

नहीं, डरने वाला अपने अन्दर ही रहता है। जहाँ भोगों से भय है वहाँ सम्यग्दर्शन अवश्य है जैसे-जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि अवश्य होगी। ऐसी व्याप्ति बनती है। उसी प्रकार जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ अन्दर ही रहेगा बाहर रहना उसका हो नहीं सकता। संवेग, अनुभव तथा श्रद्धा के साथ जुड़ा हुआ है। जहाँ संवेग है, वहाँ विषयों की ओर प्रवृत्ति होती ही नहीं। जो संवेग से डरेगा वही उदास रह सकता है। पाँचों इन्द्रियों के विषय आत्मा के स्वरूप को भुलाने वाले है। नरकादि कुगतियों में फंसाते हैं। पुत्र, मित्र, कुटुम्ब, संसार, भोग, शरीर आदि के प्रति विराग भाव को प्राप्त होने के साथ आत्मलीनता होना संवेग है।

या संसार महावन भीतर, भ्रमते छोर न आवै।
जन्म जरा मृत्यु बैरी धावै, जीव महादुख पावै।।

संसार रूपी विस्तृत वन में संसारी जीव को भटकते-भटकते अन्त नहीं मिलेगा। जन्म जरा मृत्यु रूपी शत्रु सदा इसका पीछा किया करता है। जिससे जीव सदा दुःख उठाता है।

कब हूँ जाये नरक थिति भुंजै, छेदन भेदन भारी।
कब हूँ पशु पर्याय धरै तह, बध बंधन भयकारी।।
सुरगति में पर सम्पत्ति देखे, राग उदय दुख होई।
मानुष योनि अनेक विपत्तिमय, सर्व सुखी नहिं कोई।।

यह जीव पापकर्म के उदय से कभी नरक में दीर्घ काल तक छेदता, भेदता है तथा सर्दी, गर्मी आदि की असह्य यंत्रणाएँ सहता है। कभी दुर्भाग्य से पशु शरीर पाता है, वहाँ पर भी मरना, बँधना आदि भयानक दुःखों से जीवन बिताता है। यदि सौभाग्य से यह जीव देव पर्याय प्राप्त करें तो महान ऋद्धिधारक देवों को देखकार ईर्ष्या के कारण दुःखी रहता है। मनुष्य गति में भी अनेक विपत्तियाँ भरी हुयी हैं। इस प्रकार संसार में पूर्णतया कोई भी जीव सुखी नहीं है। मनुष्यगति में क्या-क्या दुःख हैं -

कोई इष्ट वियोगी विलखै, कोई अनिष्ट संयोगी।
कोई दीन दरिद्री विगुचे, कोई तन के रोगी।।
काहू घर कलिहारी नारी, के बैरी सम भाई।
काहू के दुख बाहर दीखै, काहू उर दुचिताई।।

मनुष्य में किसी प्रिय के वियोगी का दुःख या शोक समाया हुआ है और किसी को अप्रिय व्यक्ति के संयोग से बिलखना पड़ता है। कोई मनुष्य दरिद्रता के कारण दीनहीन बनकर और कोई भयानक रोग के कारण दुःख पा रहा है। किसी की पत्नि रात दिन कलह करती रहती है तो किसी का भाई शत्रु के समान व्यथा पहुँचाता रहता है, किसी के शारीरिक दुःख हैं जो ऊपर से दिखाई देते हैं। किसी को आन्तरिक दुःख अन्तर्वेदना है। यही नहीं -

कोई पुत्र बिन नित झूरै, होय मरे तब रोवे।
खोटी संतति सों दुख उपजै, क्यों प्राणी सुख सोवे।।
पुण्य उदय जिनके तिनके भी, नहीं सदा सुख साता।
यह जगवास जथारथ दीखे, सब दीखै दुःख दाता।।

कोई मनुष्य तो अपने घर में पुत्र के जन्म न लेने के कारण अपने मन में कुढ़ता रहता है। किसी के पुत्र भी होते हैं तो वे जन्म लेकर मर जाते हैं और किसी के पुत्र जन्म लेते भी हैं तो वे कुपुत्र निकल जाते हैं। ऐसी दशाओं से मनुष्य को लेश मात्र भी सुख प्राप्ति नहीं होती। जिन मनुष्यों को पुण्य के उदय से सुख साधन प्राप्त हो भी जाते हैं, उनका भी सुख सदा नहीं रहता, अशुभ कर्म के आने में भी देर नहीं लगती जिससे उन पर कोई न कोई दुःख टूट पड़ता है। इस प्रकार संसार की परिस्थिति पर विचार किया जावे तो निराकुल तथा स्थायी सुख संसार में कही भी नहीं है। अन्त में निष्कर्ष यह है कि -

जो संसार विषै सुख होता, तीर्थंकर क्यों त्यागै।
काहे को शिवसाधन करते, संजम सौ अनुरागै।।

यदि इस संसार में सुख होता तो तीर्थङ्कर देव निष्कंटक राज्य एवं परिवार का त्याग क्यों करते और वे किस लिए निर्ग्रन्थ तपस्वी बन कर संयम से प्रेम करके वन, पर्वतों में जाकर इस संसार से मुक्त होने का प्रयत्न करते।

इस संसार के स्वरूप का चिन्तन करके संसार से भयभीत होना तथा धर्म एवं धर्म के फल में अनुराग करना ही संवेग भावना है।

वज्रदन्त चक्रवर्ती अपनी सभा लगाये बैठे थे। उनके 32 हजार मुकुट बद्ध राजा, 96 हजार रानियाँ, नवनिधि और 84 लाख हाथी, चौदह रत्न, 18 करोड़ घोड़े और इन्द्र जैसे योग्य सेवक थे। एक दिन माली सहस्त्रदल कमल लेकर दरबार में आया। उसमें एक भँवरा मरा हुआ पड़ा था। चक्रवर्ती उस भँवरे को देखकर विचार कर रहे हैं कि भोग महापाप के कारण हैं। जब एक नासिका के भोग में अचेत भँवरे ने अपने प्राण दे दिये। हम पाँचों इन्द्रिय के भोगी है तब हमारी क्या दशा होगी? वे संसार तथा भोगों से डर जाते हैं और एक हजार लड़कों को बुलाकर कहते हैं। अब हम संसार से उदास हो गये हैं। वन में जाकर आत्मकल्याण करेंगे। राज-काज को संभालो और प्रजा का कल्याण करो। अब हम कर्म रूपीशत्रु से लड़ेंगे। ये बातें सुनकर कुमार उत्तर देते हैं। पिताजी जब आप राज्य व भोग को बुरा समझकर छोड़ रहे हैं तो हम भी आपके साथ महाव्रत लेंगे। लड़कों से चक्रवर्ती कहते हैं कि मुनियों को 28 मूलगुण, बारह तप, 22 परिषह जीतना पड़ते हैं। तुम्हारा कोमल शरीर है पालन कैसे करोगे? जंगलों में सिंह, व्याघ्र, बिच्छू सर्पादि भयंकर प्राणी मिलते हैं, ठण्डी-ठण्डी हवा चलती है। नदी नाले कल-कल करते हैं, गर्म पहाड़ों पर रहना पड़ता है, बरसात

में मच्छर शरीर से चिपट जाते हैं ऐसी अवस्था में तुम्हें महल के भोग याद आयेंगे और मोहकर्म सतायेगा। मोहकर्म मुनि को भी गुणस्थान से नीचे गिरा देता है। जब कामदेव सताता है तो बड़े-बड़े ज्ञानी भ्रष्ट हो जाते हैं। लड़के अपने पिता को उत्तर देते है कि हमें संसार भोगों से वैराग्य हो चुका है हम सब परिग्रह रूपी मोह को वैराग्य रूपी तलवार से जीत लेंगे। हम हर हालत में आपके साथ ही जायेंगे और कर्मों की फौज से लड़ेंगे। जब चक्रवर्ती की कोई भी बात नहीं चली तो उन्होंने छह माह के पोते को राजतिलक कर दिया और चक्रवर्ती अपने पुत्रों के साथ दीक्षित हो गये। ऐसी होती है संवेग भावना। चक्रवर्ती को यह भाव नहीं आया कि छह माह का बच्चा छह खण्ड के राज्य को कैसे सम्भालेगा? वैराग्य में किसी का उपाय नहीं चलता है।

स्वांगधारी ब्रह्मगुलाल मुनि, जिन्होंने हँसी-हँसी में स्वांग रचते हुए जिनदीक्षा को धारण किया। कुसंगति में पड़ने के कारण वे स्वांग बनाने का खेल खेलते, कभी वह राम का, कभी कृष्ण का, कभी सीता का, कभी रुक्मणी आदि का मन मोहने वाला लोगों को चकित करने वाला रूप धरते। जवानी का जोश और यह रूप देखकर लोग चकित हो जाते। एक राजा महलों में सभा को जोड़कर बैठे थे उस सभा में यह चर्चा चली कि कौन शेर की भाँति गरजने वाला, शक्ति शेर का रूप धारण करेगा। ब्रह्मगुलाल ने कहा कि यह स्वांग बनाना कठिन नहीं लेकिन किसी को चोट लगे इससे मैं डरता हूँ। राजा ने एक खून करने की इजाजत दे दी। उसी समय सिंह का रूप धारण करके ब्रह्मगुलाल गरज के साथ आये। वहाँ पर एक बकरी का बच्चा बँधा देखते है। यह धर्म-दया पालने में कैसा है? कुँवर ने कहा अरे शेर! आँगन में कौन खड़ा है? तू उसे भी नहीं मार सकता तो वन में क्या करता होगा? तू तो शेर नहीं, कोई गीदड़ है। तेरे जन्मदाता को धिक्कार है। कुँवर के इन वचनों को सुनकर शेर के मन में क्रोध आ गया। गुस्से में पूँछ हिलाने लगा और आँखों में खून खौलने लगा। उसने पंजा उठाकर कुँवर पर छलांग लगा दी। आस-पास के लोग भय के कारण भाग गयें पंजा लगते ही कुँवर सिंहासन से गिरकर मर गया। राजा विचार करने लगा जो कर्म में लिखा था वह हो गया। संसार तो वृक्ष की छाया है। अब जैनमुनि होकर या जैनमुनि दीक्षा लेकर कोई हितकर उपदेश दो। ब्रह्मगुलाल घर पर पहुँचे सबको बताया कि पापरूपी कर्मों के रोगों को काटने का अब समय आ गया है। उन्होंने मित्र मथुरामल से भी कहा अब हम महाव्रत धारण कर योग धरेंगे। सबने सोचा कि भोगों का त्याग कठिन है। उन्होंने बारह भावना मन में भाई और प्रात: जिनप्रतिमा के सामने मुनिव्रत ग्रहण कर लिया अर्थात् हाथ से केशलोंच करके कमण्डलु और पिच्छि को धारण कर जहाँ सभा बैठी थी वहाँ पहुँच गये। राजा इस वेष को देखकर हैरान रह गये और सिर झुकाकर बोले - हे मुनिराज! हमें ऐसी शिक्षा दें जिससे हम शोक रहित हो जायें। ब्रह्मगुलाल जी कहते हैं कि लाख यत्न करने पर कोई सुख व दु:ख नहीं दे सकता। मन की शंका को छोड़कर अपने हित के लिए परिश्रम करो। राजा क्रोध मत करो। इस संसार का रूप अनोखा है। यह संसार दुखों का सागर है। यहाँ सुख नहीं इसलिए मन की दुविधा को छोड़कर इस जग के रूप को विचारों। हमारे हाथ कुँवर मर गया, अज्ञानतावश घोर पाप हो गया। अब तक की ममता को छोड़कर

आत्मिक त्याग करेंगे। मुनि के रूप को देखकर राजा ने बैर त्याग दिया और प्रकट रूप में कहा तुम्हें जो चीज अच्छी लगे माँग लो। मुनि बोले हमारा तन तो वैराग्य भावना में लीन हो गया है। हे राजन्! हमें क्षमा कीजिए। हम वनवासी हैं हमने इच्छाओं का दमन कर दिया है।

इधर सारे नगर में चर्चा फैल गयी कि ब्रह्मगुलाल मुनि हो गये। आगे-आगे मुनिवेष में ब्रह्मगुलाल पीछे सारे नगरवासी माता-पिता और पत्नि शोकरत होकर चलने लगे। वन में पहुँचकर मुनि मोह का नाश करने के लिए तपस्या करने लगे। वन में परिवारजन ने अपने-अपने तरीके से ब्रह्मगुलाल मुनि को समझाने का प्रयत्न किया। बेटा घर चलो, तुम वन में क्यों बैठे हो, तुमने तो हँसी-हँसी में स्वाँग रचाया, अब मन में क्या सोचकर मुनिवेष धारण किया। इस प्रकार माँ व्याकुल होकर बोली।

मुनि - किसके घर जाऊँ मुझे इस आने जाने वाले शरीर से मोह नहीं है।

माँ - मेरे जिगर के टुकड़े! मैंने तुझे दु:ख झेल कर पाला है, मुझ दुखियारी को छोड़कर वैराग्य धारण करेगा।

मुनि - हम अनेक बार मिले हैं, अनेक बार बिछुड़े हैं। न कोई किसी की माता है न कोई किसी का बेटा। यह संसार एक अनोखा स्वाँग है।

माता - मैं इस दिन को नहीं जानती थी। क्या इस भरी जवानी में योग लेकर कुल का नाम लेने वाली कोई निशानी नहीं छोड़ेगा?

मुनि - जिस वैभव तथा पुद्गल को अपना समझते हैं वही एक दिन पराया हो जायेगा अर्थात् माटी बनकर माटी में मिल जायेगा।

पत्नि - हे प्रियतम! मुझे तो तुम मझधार में छोड़ चले। मैं किसके सहारे जीवन व्यतीत करूँ। अब मेरे दिन किस प्रकार कटेंगे?

मुनि - यह नारी की पर्याय बुरी है। दूसरों के पराधीन है, तुम धर्म की शरण में जाओ। जिससे यह स्त्रीलिंग समाप्त हो जाये।

अब सब कुटुम्बी निराश होकर लौट गये। घर पर आये, मथुरामल की स्त्री को बुलाकर कहा कि धिक्कार है तुम्हें जो तुम पति के साथ घर बैठी हो। हमने मुनि को बहुत समझाया लेकिन नहीं माने। अब हम तुमसे लाचार होकर कहते हैं कि मथुरामल को भेजो। अपने मित्र ब्रह्मगुलाल को वन से लौटा-लायें।

मथुरामल बोले वह किसी का कहना नहीं मानेगा, बहुत जिद्दी है। वह वापस नहीं आयेगा। फिर स्वयं सोचने लगे कि हमें क्या सारी जिन्दगी यही रहना है, हम भी संयम ले लेंगे। जिससे सारा संसार जान जायेगा हमारी दोस्ती को और नारी से कह दिया कि अगर वह नहीं आयेगा तो हम भी नहीं आयेंगे। यह

हमारी प्रतिज्ञा है फिर तुम मत पछताना। जंगल में ब्रह्मगुलाल से मथुरामल ने कहा कि मुनिव्रत के सम्बन्ध में विस्तार से हमें समझाओ। बचपन में तो दूसरों का हित करने वाली विद्या सीखी। जवानी अवस्था भोगने की है और त्याग की वृद्धा अवस्था होती है। बिना भोग भोगे योग धारण मत कर। तुमने मन में यह क्या विचारा ? मुनि ब्रह्मगुलाल बोले – भोग भोगने में बहुत रोग हैं। जब भोग भोगने की अवस्था क्षीण हो जाती है तब उदासी छा जाती है। वैसे सेज तो कुछ दिन ही अच्छी लगती है। पाँचों इन्द्रियों के भोग तो अग्नि के समान है। ज्यों-ज्यों अग्नि में ईंधन डालो त्यों-त्यों वह भड़कती है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों भोगों का सेवन करते हैं त्यों-त्यों वे भड़कते हैं। इनको छोड़ने वाला सदा एकान्त वासी हो सुखी रहता है।

मथुरामल ने बहुत समझाया लेकिन ब्रह्मगुलाल नहीं माने। मथुरामल भी जिनधर्म की महिमा जान गये और भोग वासनाओं को छोड़कर क्षुल्लक दीक्षा लेकर मुनि के साथ हो लिये और दया धर्म का उपदेश संसार में दिया। ऐसे मंगल हुआ जैसे लकड़ी के साथ लोहा भी पानी पर तैर जाता है। इस प्रकार का वैराग्य सब नर नारी मन लगाकर सुनो और जीवन में उतारो। इसे ही संवेग भावना कहते हैं।

संसार देह भोगों से जो, वैराग्य अवस्था प्राप्त किया।
सुकुमाल सुकौशल मुनि सम बन, संवेग भाव को धार लिया।।
संवेगहि तप का अलंकार, सम्यक्त्व शील का भूषण है।
''संवेग भावना'' भाकर ही, भवि लहें मुक्ति का संबल है।।

संसार, शरीर, भोगों से भयभीत होकर विरक्त हो जाना सो ''संवेग भावना'' है। इससे तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। संसारी जीव मोह के वशीभूत होकर घटी यंत्र सम पंच परिवर्तन रूप (द्रव्य, क्षेत्र काल, भव, भाव) संसार में परिभ्रमण करता रहता है। संसार के दुख से भयभीत होकर इनके स्वरूप का चिंतवन करना संवेग है और ऐसा विचार करना कि इस संसार में कुछ भी सार नहीं है।

एक राजा ने मेन दरवाजा बनाया वह दरवाजा बार-बार गिर जाता था। ज्योतिषी ने पूछने पर बताया कि एक पुत्र की हत्या करके उसके खून से दरवाजे को सींचो तब दरवाजा नहीं गिरेगा। राजा ने नगर में घोषणा करा दी कि जो अपने पुत्र की बलि देगा उसे पुत्र के बराबर सोना मिलेगा। एक ब्राह्मण के सात पुत्र थे। उसने सबसे छोटे पुत्र को बलि देना स्वीकार कर लिया। पुत्र माता-पिता के पास जाकर बोला मेरी रक्षा करो। उसने कहा- बेटा तेरे जाने से मेरी दरिद्रता दूर हो जायेगी। राजा ने झट उसे वस्त्राभूषण से सजाकर रथ पर चढ़ाया। वह बालक हँस रहा था जब राजा ने पूछा तुम क्यों हँस रहे हो तो उसने कहा- हे राजन् मेरी बात मन को स्थिर करके ध्यान से सुनो -

माता मारे स्वार्थ से पिता बेच के खाय।
राजा करे अन्याय तो न्याय कौन पे जाय।।

उस पुत्र की बात सुनकर राजा ने क्षमा कर दिया। हत्या नहीं की। माता-पिता पुत्र से घर चलने को कहते हैं कि पुत्र ने कहा आपको तो पुत्र नहीं चाहिये पैसा चाहिये। मेरी तो भगवान ने रक्षा की है इतना कहकर फौरन जाकर गुरु से दीक्षा लेकर घोर तप करने लगा। इसीलिये कहा है - ये संसार असार है, स्वार्थमयी है, कोई किसी का नहीं है, एक धर्म का शरण है और कुछ नहीं, अपने स्वार्थ में ये मनुष्य क्या-क्या नहीं करता।

मात पिता सुत नार मित्र स्वारथ के सब जान।
इन सबसे बचते रहो, कर लो आतम ध्यान।।

अत: संसार असार समझ कर हमें जल में भिन्न कमलवत् रहना चाहिये। एक कथा है - एक नगरी में एक सेठ जी निवास करते थे उनके एक पत्नी थी। दोनों दम्पत्ति देव, शास्त्र, गुरु पर सच्चे श्रद्धालु थे। एक दिन की बात है कि जंगल से मुनिराज आहार की चर्या के लिए उसी नगरी में पधारे। वह मुनि निर्मल गुणों के धारी थे। वह यति जेठ मास में पर्वतों के ऊपर शीत में वृक्ष के नीचे ध्यान लगाते हैं ऐसे ऋषि आहार की चर्या के हेतु नगरी में पधारें।

उसी दिन की बात है कि सेठ जी बाहर गये हुये थे, सेठानी ने नवधा भक्तिपूर्वक मुनिराज को आहार कराया। मुनिराज आहार के बाद जंगल की ओर विहार कर जाते हैं। थोड़ी ही देर में सेठ जी आ जाते हैं। सेठानीजी कहती हैं - हे प्राणनाथ! यदि आप कुछ समय पहले आ जाते तो मुनिराज के दर्शन हो जाते और आहार भी दे देते। सेठ जी जब रसोई घर में जाते हैं और भोजन को चारों ओर फैला हुआ देखते हैं, तो सेठ जी बोलते हैं कि यह भोजन चारों ओर किसने फैलाया है? तब सेठानी उत्तर देती हैं - मुनिराज आहार को पधारे थे। सेठ जी बोले क्या यह भोजन उन्हीं मुनिराज ने फैलाया है। सेठानी बोली - प्राणनाथ! तुम्हें मालूम नहीं कि मुनिराज खड़े होकर आहार लेते हैं। सेठ जी बोले कि मुनिराज को भोजन करना था सो किया लेकिन यह बतलाओ, यह चारो तरफ भोजन क्यों फैला है? मैं उनकी अच्छी खबर लूँगा, तेरी एक भी बात नहीं मानूँगा।

प्रिये! जल्दी बताओ कि मुनिराज अभी कहाँ पर गये हैं? जब सेठानी ने सेठ जी की ऐसी मूर्खता पूर्ण बातें सुनी तो बोलती हैं कि आपको मुनिराज से क्या कार्य है? तब सेठ जी बोलते हैं कि मुनिराज ने यह भोजन फैलाया है। इसकी कीमत लेकर आऊँगा। तब सेठानी कहती है कि हे प्राणनाथ! आप यह क्या कह रहे हो, जिन मुनिराज के अपने मकान में चरण कमल पड़ गये हैं। वह घर पवित्र हो गया। आप जरा विचार करके शब्द निकालिये पर सेठ जी कहते हैं कि हम कुछ भी नहीं सुनना चाहते हैं। जल्दी कहो कि वे मुनि इस समय कहाँ पर हैं। तब सेठानी कहती हैं कि मुनिराज जंगल की ओर विहार कर गये हैं। सेठ जी सेठानी की बात सुनकर बिना भोजन किये जंगल की ओर चल देते हैं। धीरे-धीरे वह सेठ जी उसी स्थान पर पहुँच जाते

हैं जहाँ पर कि वह परम तपस्वी मुनिराज अपनी सामायिक में ध्यान लीन थे। तब सेठ जी विचार करते हैं कि इस ढोंगी ने मुझे देखकर आँखें मीच ली। कभी न कभी तो आँखें खोलेंगे ही और आहार को तो निकलेंगे ही। मुनिराज का ध्यान पूर्ण होता है तब वह मधुर वाणी में पूछते हैं कि भाई आप अभी कहाँ से, किसलिए आये हो? सेठ जी बोले मैं इसी नगरी का सेठ हूँ। आपके पास कुछ शंका समाधान करने हेतु आया हूँ। आपने मेरे घर में आहार किया जो अच्छा किया पर मेरे रसोई घर में चारो तरफ भोजन क्यों फैलाया, इसी भोजन की कीमत वसूल करने आया हूँ। संत पुरुष खेद करते है कि अहो! अज्ञानी जीव की यही दशा है ये गुरु पर व्यर्थ ही उपसर्ग करते हैं।

यह सुनकर - ऋषि संत बड़े आश्चर्य में पड़कर बोले! "यह पीछी है यह कमण्डलु है इसके अलावा मेरे पास कुछ नहीं है, लेना हो तो ले लो"। सेठ जी कहते हैं महाराज! बहाने बाजी से काम नहीं चलेगा, आप शीघ्र कीमत दे दो नहीं तो मैं यहाँ से कभी भी नहीं जाऊँगा। मुनिराज विचार करके कुछ समय के लिये ध्यान लगाते हैं और अवधिज्ञान से यह ज्ञान लेते हैं, कि इसके द्वारा एक जीव का एवं इसका भी कल्याण होने वाला है। यह बड़ा होनहार व्यक्ति है।

ऐसा जानकर मुनिराज कहते हैं कि सेठ जी आप अपने घर जाकर कृपा कर एक कागज और पेन्सिल ले आओ हम पत्र लिख देंगे और जिसके पास भेजेंगे वहाँ चले जाना और जो कुछ भी वह दे प्रसन्नता पूर्वक ले लेना। अत्यन्त हर्षपूर्वक सेठ जी तीव्र गति से कागज, पेन्सिल लाकर मुनिराज को दे देते हैं। मुनिराज कागज, पेन्सिल लेकर पत्र लिखकर बंद कर देते हैं और उस पर पता लिख देते हैं। पत्र लिखकर मुनिराज सेठ जी के हाथ में देते हैं और कहते हैं कि सेठ जी! आगरे में पद्मावती रानी रहती हैं। उसे यह पत्र दे देना। सेठ जी को अब बड़ी चिंता हो गई और सोचते हैं वो पद्मावती रानी कहाँ मिलेगी?

पत्र लेकर सेठ जी आगरे की ओर शीघ्र प्रस्थान करते हैं। पैसे के लोभ में सेठ जी खाना-पीना सब भूल गये। आगरे में पहुँचकर सेठ जी मनुष्यों से पूछते हैं कि भाई पद्मावती रानी का मकान कौन-सा है? सुनने वाले पागल समझकर कोई पत्थर फेंकने लगे, कोई धूल उड़ाने लगे, तो कोई गाली वगैरह सेठ जी को देने लगे। परन्तु सेठ परिश्रम से नहीं चूकते। एक सज्जन सेठ जी को राजमहल में ले जाता है। राजा की पटरानी श्री पद्मावती रानी थी। उसी समय रानी के प्रसव काल चल रहा था। रानी के पेट में बड़े जोर से दर्द हुआ। राजा ने मन्त्रियों से कहा कि मन्त्रिवर! अपने राजनगर में जितने भी उच्च कोटि के डॉक्टर हों या वैद्य हों उन्हें जल्दी बुलाकर रानी का उचित ईलाज कराओ। रानी का ज्यों-ज्यों इलाज होता है त्यों-ज्यों रोग बढ़ता जाता है। अब तो सभी डॉक्टरों ने जवाब दे दिया, कि हमसे ये इलाज नहीं हो सकता। सभी लोग बड़े, संकट में पड़ गये।

समस्त राज्य में सन्नाटा छा जाता है पर रानी का दर्द बढ़ता जाता है। राजा को बहुत चिन्ता हो गई। शीघ्र सेठ जी महल में जाकर दासी को पत्र देते हैं। दासी पत्र लेकर रानी को देती है। रानी पत्र को पढ़ती

है। पत्र में लिखा था - श्री पद्मावती रानी तुम्हारा कल्याण हो एवं धर्म की वृद्धि हो और णमोकार मन्त्र लिखा था।

णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

रानी ने णमोकार महामंत्र पढ़ा कि बच्चा बिना किसी वेदना के उत्पन्न हो जाता है। रानी को शांति मिलती है। अब तो राजमहल में जय-जयकार के शब्द गुंजायमान होने लगते हैं। रानी के आदेशानुसार दासी जाकर राजा को शीघ्र नमस्कार कर कहती है। राजन्! रानी साहब के पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई है। रानी ने कहा कि जो अपरिचित मानव बाहर से आया है उसी की कृपा से बिना किसी वेदना के बच्चा उत्पन्न हुआ है। अत: इस उपलक्ष में उसे आधे राज्य का अभिषेक कर दिया जावे। अब तो राजा के हर्ष का पार नहीं। पुत्र जन्मोत्सव की तैयारी करने में लग जाते हैं। पुत्र महोत्सव के बाद याचकों को मुँह माँगा दान देते हैं। कैदियों को जेल से मुक्त कर देते हैं तथा अपार धनराशि का दान करते हैं। पुन: उस व्यक्ति को आदर के साथ बुलाकर राजन् कहते हैं कि तुम्हें रानी ने आधा राज्य दिया है। आप उसके स्वामी बनने की हमें आज्ञा दीजिए। सेठ मन में सोचते हैं कि अरे मुनिराज के लिखने मात्र से मुझे आधा राज्य मिल रहा है तो फिर सम्पूर्ण राज्य क्यों न ले लूँ?

ऐसा विचार कर सेठ जी राजा से पत्र ले लेते हैं और कहते हैं राजन्! जरा इन्तजार करना मैं अभी मुनिराज के पास होकर आता हूँ जब राज्य ले लूंगा। इस प्रकार वह सेठ जी मुनिराज की ओर राजा की आज्ञा लेकर प्रस्थान करते हैं। सेठ मुनिराज को नमस्कार करके कहते हैं अरे! मुनिराज आपने पत्र में आधा राज्य ही क्यों लिखा यदि आप चाहते तो पूरा राज्य भी लिख सकते थे। अभी कुछ नहीं बिगड़ा आप कृपा कर इस पत्र में लिख दें कि राजन् इस सेठ जी को सम्पूर्ण राज्य का अधिकारी बनाया जावे। जब मुनिराज ने ऐसी बात सुनी तो बोले सेठ जी वही आधा राज्य जाकर ले लो। सेठ जी कहते हैं कि आधे राज्य में हमेशा लड़ाई होगी। हम कुछ कहेंगे वे कुछ कहेंगे। अत: हम तो सम्पूर्ण राज्य ही चाहते हैं। मुनिराज कहते हैं कि सेठ जी यदि आधा राज्य चाहते हो तो जाकर अच्छी तरह से आधा राज्य का सुख भोगों और यदि सम्पूर्ण राज्य चाहिये तो जो भी हम कहेंगे वह आपको करना होगा। सेठ जी कहते हैं कि मुनिराज जैसा आप कहेंगे वैसा ही काम हम करने को तैयार हैं। आधे राज्य में सुख नहीं मिलेगा। अत: आप तो पूर्ण राज्य दीजिये। लोभ बड़ा बुरा होता है। लोभ में फँसकर मनुष्य क्या-क्या अनर्थ नहीं करता?

मुनिराज उसी समय उसे पूरा राज्य देने लग जाते हैं। कपड़े उतार कर सेठ जी का केश लोंच करते हैं और पीछी कमण्डलु दे देते हैं और कहते हैं कि सेठ जी अब इससे पूरा राज्य प्राप्त करोगे। सेठ जी कहते हैं कि मुनिराज यह आपने क्या किया इससे अच्छा तो वही आधा राज्य हमें दे रहा था। मुनिराज कहते हैं कि सेठ जी, मोक्ष पद को इस मुनि पद के द्वारा प्राप्त करो। हम भी मोक्ष पद प्राप्त करने का अभ्यास कर रहे हैं।

आप भी करो। इस मोक्ष लक्ष्मी को ना आज तक कोई बाँट पाया है और ना कभी बाँट पायेगा। अर्थात् एक दूसरे का पुण्य-पाप कोई बाँट नहीं सकता।

इस प्रकार मुनिराज ने सेठ जी को बहुत समझाया, मुनि धर्म पालने की समस्त क्रियायें एवं विधि बतलाई, अब तो सेठ जी मुनिराज हो गये उन्हें सम्यक्त्व सहित आत्मा से सच्चा भेद विज्ञान हो गया और कठोर तपस्या करने लगे। तपस्या करते-करते शरीर क्षीण हो गया। अन्त में चार घातिया कर्मों को नाशकर केवल ज्ञानी हो गये। पुनः शेष कर्मों को नाशकर मुक्त हो गये। इस प्रकार सेठ जी ने गुरु के उपदेश से संवेग भावना को प्राप्त किया और निष्कर्मी बनकर कृतकृत्य हो गये।

यह संसार स्वार्थमयी है इसी पर एक कथा है - किसी एक नगर में एक सेठ जी रहते थे। उसके चार लड़के थे। उस सेठ जी ने सारा धन चारों लड़कों को बाँट दिया। अपने लिये सेठ जी ने कोई भी धन नहीं रक्खा। सेठ जी का मित्र बोला-आपने बुरा किया, सारा धन लड़कों को बाँट दिया। सेठजी ने कहा- हमको धन की क्या जरूरत है? हमारे तो चार लड़के हैं। एक-एक महीना उनके पास भोजन करेंगे तो सारी जिन्दगी निकल जायेगी। मित्र ने कहा ठीक है लेकिन बुढ़ापे के लिए कुछ धन अपने पास रखना जरूरी था क्योंकि किसी का विश्वास नहीं करना चाहिये। चारों लड़कों ने सेठजी को थोड़े दिनों तक भोजन कराया फिर किसी ने नहीं पूछा। तीन दिन के फाँके पड़ गये सेठ जी कमरे के अन्दर पड़े रहे। वह मित्र आया और सेठ जी से पूछा सब ठीक से चल रहा है। सेठजी ने कहा सब ठीक हैं लेकिन तीन दिन से किसी भी लड़के ने भोजन के लिए नहीं कहा। मित्र ने कहा कि हमने पहले ही आपसे कहा था सो आपने नहीं माना। अब मेरी बात मानो एक लोटे में कुछ पैसे डाल लो और टन-टन करके बजाओ। कमरे के अन्दर सेठ जी ने वैसा ही किया। पैसों की आवाज सुनते ही सारे पोता बेटा एक साथ आ गये बोले - बाबा किवाड़ खोलों। चारों लड़कों ने कहा- पिताजी किवाड़ खोलो। पिताजी ने कहा अभी हम किवाड़ नहीं खोलेंगे हम तो अपनी रकम संभाल रहे हैं। तभी बड़ा लड़का बोला पिताजी किवाड़ खोलो और चलो भोजन कर लो। धन के लोभ में सेठ जी की सभी लड़के सेवा करने लगे। एक दिन मित्र फिर आया बोला, कहो सेठजी अब क्या हाल-चाल है। सेठ जी ने कहा अब तो सभी लड़के सेवा करने लगे। मित्र ने कहा- ईंट लाओ और उसको कपड़े में बाँधकर अलमारी में रख दो। सेठजी ने वैसा ही किया। अब तो सभी लड़के सेवा करने लगे। अब तो सभी लड़के पूछने लगे पिताजी इस अलमारी में क्या रक्खा है। इसका ताला क्यों बन्द है? पिताजी ने कहा अलमारी में सोने की ईंट रखी है। लड़कों ने कहा पिताजी सोने की ईंट हमको दे दो। पिताजी ने कहा अभी ईंट तुम को नहीं मिलेगी। हमारे मरने के बाद मिलेगी। कुछ दिनों बाद पिताजी की मृत्यु हो गई सेठ जी का मित्र आ गया। सेठजी के लड़के अलमारी का ताला खोलने लगे। मित्र ने चाबी अपने हाथ में ले ली और कहा कि जब दाह क्रिया एवं तेहरी हो जायेगी तब चाबी मिलेगी। लड़कों ने सभी काम किये जो मित्र ने बताया था। इसके बाद ताला खोला उसमें मिट्टी की ईंट निकली लड़कों ने कहा- पिताजी ने हम लोगों

को बहुत धोखा दिया। मित्र ने कहा तुम लोगों ने पिताजी को कितना बड़ा धोखा दिया। जबकि सारा धन तुम लोगों को पिताजी ने बाँट दिया था। तुम लोग कितने स्वार्थी हो? कहा भी है - जब शरीर भी अपना नहीं तब पुत्र आदि अपने कैसे हो सकते हैं? क्योंकि ''बाप बड़ा ना भैया, सबसे बड़ा रुपया।'' अर्थात् सब धन के सगे हैं।

धन के साथी सभी हैं, निर्धन में ना कोय।
जो निर्धन में साथी हो, सच्चा साथी होय।।

आचार्य भगवन् कहते हैं धन के साथी सभी है। जब तक व्यक्ति के पास धन होता है तभी तक सब उसके साथी है। गरीब को कोई साथ नहीं देता है किसी भी जगह देख लो गरीब की कोई कीमत नहीं है जो गरीब का साथी बनकर रहे वही सच्चा मित्र है जैसा कि सुदामा और कृष्ण। कृष्ण ने सुदामा से मित्रता की उसमें गरीबी नहीं देखी। सच्चा मित्र वही है जो सद्गुण देखता है। मित्रता छोटे-बड़े को नहीं देखती बल्कि मित्र का विश्वास देखती है। एक बार विश्वास जीत लिया तब कितनी भी गलती हमारा मित्र करता हो तब भी वह हमें सही लगता है। किन्तु विश्वास टूटने पर वह कितना भी सही हो गलत लगता है और हर समय गलत ठहराने का प्रयास करता है। जिस प्रकार जीवन में एक गुरु होना जरूरी है तो एक मित्र होना भी जरूरी है। मित्रता हो तो कृष्ण सुदामा जैसी हो। जब खाने को कुछ नहीं था बच्चे भूख से व्याकुल हो रहे थे तब पत्नि ने कहा- आपके मित्र द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण है आप उनके पास जाओ वह हमारी व्यथा जरूर दूर करेंगे। लेकिन सुदामा कृष्ण के पास जाने को तैयार नहीं हो रहे थे। बार-बार पत्नि समझा रही थी। पत्नि की बात मानकर सुदामा जाने को तैयार हुए। वह पोटली में कुछ खाने को चने बाँध देती है ये कृष्ण को दे देना। सुदामा कृष्ण के महल में पहुँच जाते हैं। द्वारपाल सुदामा को अन्दर जाने से रोकता है। ये महाराज कृष्ण का महल है आप वहाँ नहीं जा सकते। जब बार-बार कहा तो सुदामा बोला- कृष्ण से कहना तुम्हारा मित्र सुदामा आया है। जैसे ही कृष्ण ने सुना उठकर पहुँचे बाहर और सुदामा को गले लगा लिया और बोले मित्र तुमने बताया क्यों नहीं, किस अवस्था में थे तुम, कृष्ण सुदामा के पैर धुला रहे और नेत्रों से अश्रुपात हो रहा है। तभी पूछ लिया सुदामा भाभी ने हमें कुछ खाने को भेजा होगा। सुदामा फटे-पुराने कपड़े पहने थे और फटे गमछे में चने की पोटली बंधी थी किन्तु सुदामा छिपाने की कोशिश कर रहे हैं कि नहीं-नहीं कृष्ण भाभी काम में व्यस्त थी इसलिए कुछ नहीं भेज पाई। कृष्ण ने देख लिया कि पोटली में कुछ बंधा है और कृष्ण ने देखकर खोल लिया। सुदामा को हँसी का डर लग रहा था कि सभी सभासद क्या कहेंगे कि कृष्ण का मित्र कितना गरीब है कुछ भेंट नहीं ला सका। इधर कृष्ण चने खा रहे थे उधर सुदामा का घर, परिवार, परिवेश सब कुछ बदल गया। जब सुदामा द्वारिका से लौटकर आये तो लोगों से पूछा कि गरीब सुदामा का घर दिखाई नहीं दे रहा है। उनका घर कहाँ है? लोगों ने बताया तो स्वयं सुदामा को विश्वास नहीं हो रहा था कि एक पल में सब बदल जाएगा।

संसार की विचित्र दशा - यह संसार नाटक के समान विचित्र मुसाफिर खाना है। इसमें कोई सार नहीं है। कहा भी है -

वितर वारिद वारिद वातुरे, चिर पिपासित चातक पोतके।

अप्रचलिते मरुति क्षणमन्यथा क्व भवान क्व पयः क्व च चातक।

अर्थ - हे बादल बहुत देर से प्यासे इस चातक पक्षी के लिए कुछ जलबिन्दु तो बरसा दे। अन्यथा प्रबल पवन के आते ही पता नहीं तू कहाँ जा पहुँचेगा। कहाँ तेरी बूँदें गिरेंगी और कहाँ पर बेचारा चातक पहुँचेगा। कवि ने धनिक व्यक्ति को लक्ष्य करके कहा है आज तेरे पास धन है तो तू कुछ उपकार तो कर लें। यदि कहीं भाग्य का उल्टा चक्कर चल गया तो फिर पछतायेगा। हाय हाय करेगा, रोयेगा, चिल्लायेगा।

राजा भोज के पास कोई भी विद्वान एक श्लोक बनाकर लाता था तो वह उसकी विद्वता से प्रभावित होकर एक-एक लाख रुपया पारितोषिक में देता था। एकदिन उसने एक श्लोक बनाया -

चेतोहरा युवतयः सुहृदयोऽनुकूला,

सद् बान्धवाः प्रणयगर्भ गिरश्च भृत्याः।

गर्जन्ति दन्ति निवहाश्चतुराश्तुरंगाः।।

इसका अर्थ है मेरे पास सुन्दर स्त्रियाँ हैं। मित्र अनुकूल हैं, अच्छे बान्धव हैं, मेरे सेवक मुझ से स्नेह करते हैं। हाथियों का समूह गर्जना करता है तथा चंचल घोड़े मेरे पास हैं। इस प्रकार तीन चरण ही बना पाया था, चौथा चरण नहीं बन रहा था। इतने में एक चोर चोरी करने आया, जो राजा भोज के स्फटिक मणि के पाये के नीचे छिपा हुआ था। वह सोच रहा था कि कब राजा उठे और कब मैं इस पाये को चुराकर ले जाऊँ। पर इस संस्कृत पाठी विद्वान चोर ने चौथे पद की पूर्ति कर दी। उसने कहा - हे राजन्! जरा सोचिये विचार करिये।

''सम्मीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति।''

अर्थात् आँख बन्द होने पर यह सुख नहीं रहेगा। जब तक आप संसार में हों, तब तक आपको यह सुख दिख रहा है, संसार से जाने के बाद आप यों ही हाथ मलते रह जाओगे। पाप पुण्य ही एक मात्र साथ में जाने वाला है। आत्मा तो अजर अमर है। राजा खुश होकर चोर को राज देने लगे। पर चोर ने जाकर दीक्षा ले ली। राजा ने भी वैरागी होकर दीक्षा ले ली। इस प्रकार ''संवेग भावना'' से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। ऐसा चिंतन करते हुए विचार करें कि संसार असार है। अतः चक्रवर्ती का वाक्य हमेशा याद रखें "यह वसुधा काहू की न भयी। इसीलिए पूजा में कहा है" जो संवेगभाव विस्तारे स्वर्ग मोक्ष पद आप सम्हारे" अर्थात् संवेगभाव धारण करने से स्वर्ग मोक्ष का विशद लाभ प्राप्त होता है।

अलकपुर के राजा अतिबल थे वे अपने पुत्र महाबल को राज्य देकर घोर तप करके मुक्ति को प्राप्त हुये। पुनः महाबल भी घोर तप करके स्वर्ग गये वहाँ से आकर राजा वज्रबाहु और रानी वसुन्धरा के वज्रजंघ नामक पुत्र हुए और राजा वज्रदन्त एवं रानी लक्ष्मी के श्रीमती नाम की पुत्री हुई। पूर्व संस्कारवश वज्रजंघ के साथ श्रीमती की शादी हो गई। इस प्रकार वह सुखपूर्वक कालयापन करने लगे। समयानुसार श्रीमती को वीरबाहु आदि इक्यावन युगल पुत्र (१०२) प्राप्त हुए। उनके विवाह आदि को करके वज्रबाहु सुख-पूर्वक स्थित थे। एक दिन उन्हें देखते-देखते नष्ट हुए मेघ को देखकर भोगों से वैराग्य हो गया। तब उसने वज्रजंघ के लिए राज्य देकर समस्त नातियों और पाँच सौ क्षत्रियों के साथ दमधर मुनि के पास दीक्षा ग्रहण कर ली और कर्मों को नष्ट करके मुक्ति को प्राप्त हुये।

इधर एक दिन वज्रदन्त चक्रवर्ती सभाभवन में स्थित थे तब वनपाल ने आकर उन्हें कुछ विकसित एक कमल की कली को दिया। उसमें मरे हुए भ्रमर को देखकर वज्रदन्त चक्रवर्ती को वैराग्य हो गया। तब उसने पुत्रों को राज्य देना चाहा। किन्तु उनके अमित तेज आदि हजार पुत्रों में से किसी ने भी राज्य को लेना स्वीकार नहीं किया। तब उसने अमित तेज के पुत्र पुण्डरीक (अपने नाती) को जो कि वज्रजंघ का भानजा था, राज्य देकर एक हजार पुत्रों, बीस हजार मुकुटबद्धों और साठ हजार स्त्रियों के साथ यशोधर भट्टारक के चरण सानिध्य में दीक्षा ग्रहण कर ली। अन्त में वह मोक्ष को प्राप्त हुये। अन्य जन भी अपने-अपने पुण्य के योग से शुभ गति को प्राप्त हुए। इस प्रकार सब अपनी-अपनी करनी का फल स्वयं भोगते हैं।

जो धर्म और धर्म के फल में हर्ष भाव धारण करते हैं।
जो संसार शरीर और भोगों से भी विशद डरते हैं॥
ऐसे संयम धारी संत ही परम मोक्ष मार्ग के राही हैं।
जो नित्य निरंतर अपने हृदय में संवेग भाव धरते हैं॥

*****

6

त्याग भावना

जघन्य-मध्यमोत्कृष्ट-पात्रेभ्यो दीयते भृशम्।
शक्त्या चतुर्विधं दानं सा ख्याता दान-संस्थितिः॥६॥

जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रों को जहाँ शक्ति के अनुसार चार प्रकार का दान दिया जाता है वह दानसंस्थिति लाती है।

काल अनादी से यह प्राणी, तन का दास रहा।
साथ निभायेगा यह मेरा, ये विश्वास रहा॥
प्यास बढ़ाता है पीने से, जैसे जल खारा।
मृगतृष्णा बढ़ती रहती है, मिले न जल धारा॥
पल-पल करके नर जीवन का, समय निकल जाता।
इन्द्रिय रोध किये बिन भाई, हो ना सुख साता॥
इच्छाओं का दमन करे फिर, महामंत्र जपना।
यथा शक्ति तप करना भाई, शक्तिसः तपना॥

आचार्य भगवन् कहते हैं कि स्वपर के अनुग्रह के लिये अपने धन आदि वस्तु को देना त्याग है। संत साधु गुणों के भंडार हैं ऐसे व्यक्तियों को 'यथाशक्ति' शुद्ध आहार, औषध आदि देना दान हैं। उत्तम पात्रों में दिया गया दान बड़ के बीज के समान अनंत गुणा फलता है। अतः दातार को श्रद्धा भक्ति आदि सप्त गुण एवं नवधा भक्ति से दान देना चाहिये। जो न स्वयं खाते हैं न दूसरों को खिलाते हैं। उनकी तीसरी गति अर्थात् यों ही धन व्यर्थ जाता है, क्योंकि यदि हमने धन का सदुपयोग नहीं किया तो कुछ नहीं। कहा भी है-

मक्खी बैठी शहद पर, रही पंख फैलाय।
हाथ मले अरु शिर धुने, लालच बुरी बलाय॥

इसी प्रकार विधि द्रव्य दाता और पात्र की विशेषता से दान में भी विशेषता आती है। दान के प्रभाव से भोगभूमि एवं स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

जो गज मुनि सम रागादिक मल तज के गुण रत्नों से चमका।
नृप श्रीषेण आदिक समदान को दे सुभोग भूमी पहुँचा॥
क्रम से स्वर्गिक चक्री आदिक सुख को लह शिवपुर जाता है।
इस 'त्याग भावना' को यथार्थ कर यश गुण को फैलाता है।।

साधु की 5 प्रकार की भिक्षा कही है – गोचरी वृत्ति, अक्षमृक्षण वृत्ति, उदराग्नि प्रशमवृत्ति, भ्रमराहार वृत्ति, गर्तपूरण वृत्ति।

ज्यों गाय सूखी घास खाकर दूध देती है वैसे ही साधु भी रूखा सूखा आहार करके बदले में ज्ञान दान देते हैं। यही गोचरी वृत्ति है। गाड़ी में तेल डालने से गाड़ी चलेगी वैसे ही साधु इस शरीर रूपी गाड़ी को चलाने हेतु आहार करते हैं। इसी का नाम अक्षमृक्षण है। साधु उदर की अग्नि शाँत हेतु आहार करते है। यह उदराग्नि प्रशमवृत्ति है। भौंरा बिना कुछ हानि किये ज्यों फलों की सुगंधि लेता है वैसे ही साधु श्रावक के घर आहार करते हैं ये भ्रमराहार वृत्ति है। इसी तरह जैसे गड्ढे को चारित्र की रक्षा हेतु रूखे सूखे भोजन से भरते हैं इसी का नाम गर्तपूरण वृत्ति है। इसी तरह साधु की ८ प्रकार की शुद्धि कही है। मन, वचन, काय, विनय, ईर्यापथ, भिक्षा, प्रतिष्ठापन, शय्यासन।

गृहस्थ का दान – **अगर धन रक्षा है मंजूर, तो धन वालो बनो दानी।**
कुएँ से जल न निकलेगा, तो सड़ जायेगा सब पानी।।

दानी कभी दरिद्र नहीं होता। उसका भंडार सदा भरपूर रहता है। अत: यथाशक्ति कुछ न कुछ दान अवश्य देना चाहिए। अपने दीन, दु:खी, अनाथ, विधवा, साधर्मी भाई-बहन की सहायता करना गृहस्थ के लिए सबसे बड़ा धर्म है। दूसरों की सहायता बिना गृहस्थ जीवन व्यर्थ है।

(१) परोपकार निमित्त दीन दुखी को दुख दूर करने हेतु दान करना करुणा दान है। इससे महान पुण्य कर्म का बंध होता है।

(२) समाज उन्नति के लिए जो धन खर्च करे वह समदान है।

(३) अपने पुत्र को अपनी समस्त सम्पत्ति देकर मुनि दीक्षा लेना अन्वय दान है।

(४) भक्तिपूर्वक चतुर्विध संघ को उनके अनुकूल दान देना पात्र दान है। दान की बड़ी महिमा है। दान के बिना मनुष्य जीवन व्यर्थ है। पेट तो पशु भी भर लेते हैं। पशु और मनुष्य में इतना ही अन्तर है।

इन चारों प्रकार के दान में पात्र दान सबसे उत्तम है। महाव्रत-धारी मुनि उत्तम पात्र है, अणुव्रती श्रावक मध्यम पात्र है। व्रत रहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं। इनको देने वाला दान ४ प्रकार है –

(१) आहार दान, (२) शास्त्र दान, (३) औषध दान, (४) अभय दान। क्या मुनि भी दान करते हैं? जब उनके पास फूटी कौड़ी तक नहीं है। तब वे किसी को क्या देंगे? इसका उत्तर यह है कि मुनियों का

दान गृहस्थ से भी अधिक महत्वपूर्ण होता है, मुनिवर एक तो सबको पक्षपात से रहित ज्ञान एवं अभय दान देते हैं क्योंकि वे परम अहिंसा महाव्रती होते हैं। अब प्रश्न है कि दान का क्या फल है? आहार दान का फल भोग भूमि है। औषधि दान से नीरोग शरीर मिलता है। अभय दान से अभय पद की प्राप्ति होती है। ज्ञानदान से यह जीव श्रुत केवली होता है। अतः दान अवश्य करना चाहिए। पर दान अपने हक का, ईमानदारी का ही होना चाहिये। इस पर एक छोटी सी कथा है –

एक राजा के यहाँ एक संत महात्मा आये। प्रसंगवश बात चल पड़ी, हक की रोटी की। राजा ने पूछा – महाराज, हक की रोटी कैसी होती है? महात्मा ने बताया कि आपके नगर में अमुक जगह अमुक बुढ़िया रहती है, उसके पास जाकर पूछना चाहिये और उसके हक की रोटी माँगनी चाहिए। राजा पता लगाकर उस बुढ़िया के पास पहुँचे और बोले – माता! मुझे हक की रोटी चाहिए। बुढ़िया ने कहा राजन! मेरे पास एक रोटी है पर उसमें आधी हक की है और आधी बेहक की। राजा ने पूछा बेहक की कैसे है? बुढ़िया ने बताया – एक दिन मैं चरखा कात रही थी, शाम का वक्त था, अंधेरा हो चला था, इतने में उधर से एक जुलूस निकला। उसमें मशालें जल रही थीं। मैं अपना अलग चिराग न जलाकर उन मशालों की रोशनी में कातती रही और मैंने आधी पूनी कात ली। आधी रोटी पर तो मेरा हक है और आधी पर उस जुलूस वाले का हक है। राजा ने सुनकर बुढ़िया को सिर नवा दिया। इसी प्रकार दान में ज्ञानी अज्ञानी की पहिचान बता रहे हैं – क्योंकि ज्ञानी और अज्ञानी की भावना में बहुत अंतर है।

कोई देकर के मरता है कोई मरकर के देता है।
जरा से फर्क से बनते हैं ज्ञानी और अज्ञानी।।

इसी तरह परिग्रह अधोलोक में ले जाने वाला है जैसा कि कहा भी है – **'ब्रह्वारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः'** इस परिग्रह के अभिशाप को दो देखों जिसके लिए भरत का उदाहरण है। जिस रत्न को पाकर भाई–भाई परस्पर मरने को तैयार हो गये। गुरु का उपदेश है कि इस गृहस्थी जंजाल को छोड़ दो तो कहते हैं, मैं क्या करूँ ये सब हमें छोड़ते ही नहीं है। आचार्य कहते हैं – आते वक्त खाली मुट्ठी बाँधे आये थे और जाते वक्त खाली हाथ जाओगे, मात्र धर्म साथ ही जायेगा, जैसा कि कहा है – इस जीव के साथ कुछ भी नहीं जायेगा। मात्र एक धर्म ही साथ जायेगा।

'चाह लंगोटी की दुख भाले' पागल मनोवृत्ति, हाय मेरी मोटर चली गई मूर्ख परिग्रह में हर्ष विषाद मानता है। 'मूर्छा परिग्रहः ममत्व रूप परिणाम हैं वही परिग्रह है इसी से कर्मों का बंध होता है।

यथोक्तं – चाह गई चिंता मिटी, मनवा वे परवाह।
जाको कुछ न चाहिये, वह शाहन्पति शाहं।।

गुरुदेव एक व्यक्ति से कहते हैं कि दारु पीना छोड़ दे परन्तु वह कहता है, मेरा क्या दोष, दारू मुझे छोड़ती नहीं है? इस प्रकार आज इस कलयुग में मानव के अन्दर सदाचार प्रवृत्ति तथा त्याग एवं संयमी जीवन छू तक नहीं गया। अन्त में हमें यही कहना है कि प्रत्येक मानव की उन्नति एवं विशेषता त्याग संयम पर ही निर्भर है क्योंकि प्रभावशाली उपदेशक, वक्ता विद्वान पुरुष तो जगह-जगह पर मिलेंगे परन्तु चरित्र त्याग एवं व्रत में दृढ़ रहने वाले बिरले ही होंगे यथा -

ज्ञानी ध्यानी महात्मा वक्ता शूर अनेक।
मिले बहुत ये जगत में दानवीर कोई एक।।

इसी पर एक प्रसिद्ध प्राचीन कथा है जो बड़ी रोचक एवं सुन्दर है। अक्षय तृतीया - पर्व सारे भारत वर्ष में जैन-अजैन सभी सम्प्रदायों में मान्य है, लेकिन यह पर्व क्यों मनाया जाता है इसके बारे में विभिन्न धारणायें हो सकती हैं। जैन धर्म के अनुसार इसका कथन करते हैं। एक समय राजा वज्रजंघ रानी श्रीमती के साथ वन में चारण युगल मुनि को आहार दे रहे थे। उस समय उनके मंत्री, पुरोहित, सेनापति और सेठ ये चारों एवं पास में ही शार्दूल, नकुल, वानर तथा सूकर ये चारों प्राणी भी आहार देखते हुए हर्षित होकर अनुमोदना कर रहे थे। कुछ दिन बाद राजा वज्रजंघ व रानी श्रीमती अगुरु के धुयें की गैस से अकस्मात मृत्यु को प्राप्त हो गये। उस आहार दान के प्रभाव से मरकर युगल दंपत्ति उत्तम भोगभूमि में युगलिया हो गये। उपर्युक्त चारों मनुष्य एवं तिर्यंच भी आहारदान की अनुमोदना मात्र से आयु पूरी करके उसी उत्तम भोगभूमि में आर्य हो गये। इस आहारदान से आठवें भव में राजा वज्रजंघ भगवान वृषभदेव हुये। रानी श्रीमती का जीव राजा श्रेयांस हुआ। वे मंत्री आदि चारों जन तथा व्याघ्र आदि चारों पशु के जीव क्रम से भगवान वृषभदेव के पुत्र भरत, बाहुबलि, वृषभसेन, अनंतविजय, अनंतवीर्य, अच्युत, वीर और वरवीर नाम के धारक हुये हैं। यह है आहारदान का फल। भगवान आदिनाथ, ऋषभदेव ने जब सर्व परिग्रह का त्याग कर दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण की, तब उन्होंने छः माह का योग धारण कर लिया था। उस समय भगवान की देखा-देखी ४ हजार राजाओं ने दीक्षा ले ली। भूख, प्यास सहन न होने के कारण सब मुनि पद से भ्रष्ट हो गये। ६ माह के पश्चात् जब भगवान आदिनाथ मुनि अवस्था में आहारचर्या के लिए निकले उस समय गृहस्थों को आहार की विधि न मालूम होने से मुनिराज आदिनाथ का लगातार अगले ६ महीने तक आहार नहीं हो सका। एक दिन की बात है हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस को रात्रि के पिछले प्रहर में ७ स्वप्न दिखे, उसमें एक स्वप्न में उन्होंने देखा कि सुमेरु के समान उन्नत एवं गंभीर ऐसे कोई महापुरुष का नगर में पदार्पण होगा। सौभाग्य से उसी दिन भगवान आदिनाथ आहार की चर्या के लिए मंगल पदार्पण हस्तिनापुर में होता है। उसी समय राजा श्रेयांस को आठवें भव पूर्व में जिस प्रकार से आहार दिया जाता था, वह सब जाति स्मरण के द्वारा ज्ञात हो जाता है। राजा श्रेयांस और उनके भाई सोमप्रभ भगवान का पड़गाहन करते हैं और नवधा भक्तिपूर्वक आहार में सर्वप्रथम इक्षुरस का आहार देते हैं। उसी समय पंचाश्चर्य की वृष्टि हुई और उसी दिन उनके महल में

हजारों लाखों लोगों ने भोजन किया। लेकिन उनका भोजन अक्षय हो गया, अब तो सर्वत्र राजा श्रेयांस की प्रशंसा होने लगी और जो भगवान के पाँचों कल्याणक में आते हैं ऐसे इन्द्र भी आहार विधि में कुछ नहीं कर सके। यहाँ तक भरत चक्रवर्ती ने भी नत होकर राजा श्रेयांस को प्रथम दानतीर्थ की पदवी से सुशोभित किया। इसलिए उसी दिन से बैशाख शुक्ला तीज को अक्षय तृतीया नाम से पर्व के रूप में मनाने की परम्परा प्रारम्भ हो गई। इस प्रकार आहार दान का बड़ा भारी फल है। बड़ के बीज के समान कल्पवृक्ष के रूप में फलता है।

यह बात आज से करोड़ों वर्ष की हो गई। फिर भी परम्परा से चतुर्थकाल से लेकर इस पंचमकाल तक यह पर्व सारे देश में धार्मिक मान्यता के रूप में मनाया जा रहा है तथा इस तिथि को ज्योतिषी लोग भी सर्वोत्तम तिथि मानते हैं और जैन धर्म के प्रति सबकी श्रद्धा बढ़ने लगी। आहार दान देने से स्व-पर का कल्याण होता है अतः आहार की सामग्री निर्दोष हो उसके लिए निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए।

आठ प्रकार की पिंड शुद्धि

उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण दोष। इस प्रकार इन ८ दोषों से रहित पिंड शुद्धि मूल ८ प्रकार की है। पिंड शुद्धि का अर्थ है नवधा भक्तिपूर्वक निर्दोष आहार करना।

आहार सम्बन्धी ४६ दोष

सोलह उद्गम दोषों का स्वरूप - (दातार के निमित्त से)

१. **औद्देशिक दोष** - साधु के निमित्त भोजन बनाना।

२. **अध्यादि दोष** - मुनिराज को देखकर अधिक भोजन बनाना।

३. **पूर्ति दोष** - गृहस्थों के साथ मुनियों को आहार देना।

४. **मिश्र दोष** - अप्रासुक वस्तु में प्रासुक वस्तु मिलाना।

५. **स्थापित दोष** - पके हुए भोजन को दूसरे बर्तन में निकालकर अपने घर या अन्य घर में रखना। पुनः इसी भोजन को आहार में देना।

६. **बलि दोष** - कुदेवादिक के निमित्त बना हुआ भोजन आहार में देना। इससे दातार को महान दोष लगता है।

७. **प्रावृर्तित दोष (प्राभृत)** - आहार के समय काल की वृद्धि या हानि करना। अर्थात् समय पर आहार नहीं कराना।

८. **प्राविष्कृत दोष** - हे भगवान! यह मेरा घर है इस प्रकार गृहस्थ के द्वारा घर बतलाकर आहार दिया जाना।

९. **प्रामृष्य दोष** - मुनि को कर्जा या उधार लेकर आहार देना।

१०. **क्रीत दोष** - मुनि को कही से खरीदकर या लाकर आहार देना।

११. **परिवर्तक दोष** - अपने घर के घी चावल आदि देकर बदले में कोई दूसरी वस्तु लेकर आहार में देना। इससे दातार को पुण्य न मिलकर उल्टे पाप कर्म का बंध होता है।

१२. **अभिघ्रट दोष** - अन्य देश से लाया हुआ भोजन देना।

अभिघट के दो भेद - देशाभिघट, सर्वाभिघट

देशाभिघट के दो भेद - आचिन्न, अनाचिन्न।

आचिन्न - पंक्तिबद्ध सीधे ३ या ७ घर से आई हुई वस्तु देना।

अनाचिन्न - इसके विपरीत घरों से आई हुई वस्तु देना।

सर्वाभिघट के चार भेद - स्वग्राम, परग्राम, स्वदेश, परदेश।

स्वग्रामाभिघट दोष - एक मोहल्ले से दूसरे मोहल्ले में जाकर भोजन देना, इसी तरह ३ भेद भी जानना।

१३. **उद्घाटित दोष** - बंधी या सील लगी वस्तु को खोलकर आहार में देना। ऐसा अशुद्ध आहार कराना महान पाप है।

१४. **मालिकारोहण दोष** - ऊपर की मंजिल में रखी हुई वस्तु सीढ़ी से चढ़कर लाकर देना। इससे साधु के संयम चारित्र में दोष लगता है।

१५. **आच्छेद्य दोष** - साधु को राजा आदि से डरकर आहार देना।

१६. **अनिसृष्ट दोष** - दाता असमर्थ होने पर भी दान देना।

सोलह उत्पादन दोषों का स्वरूप (पात्र के निमित्त से)

१. **धात्री दोष** - बालकों के लालन-पालन का उपदेश देकर आहार लेना।

२. **दूत दोष** - दाता को समाचार कहकर आहार लेना।

३. **निमित्त दोष** - अष्टांग निमित्त ज्ञान के फल को कहकर आहार लेना। इससे साधु को महान दोष लगता है।

४. **आजीव दोष** - दाता को अपना प्रभाव बताकर आहार लेना।

५. **वनीपक दोष** - दातार के अनुकूल बातें कहके आहार लेना।

६. **चिकित्सा दोष** - दातार को औषधि आदि बताकर आहार लेना।

७. **चार कषाय दोष** - क्रोध 7, मान 8, माया 9, लोभ 10, पूर्वक आहार लेना। इससे साधु के संयम की रक्षा नहीं होती।

११. **पूर्व स्तुति दोष** - भोजन के पूर्व दाता की प्रशंसा करना।

१२. **पश्चात स्तुति दोष** - आहार किये पीछे दाता की प्रशंसा करना।

१३. **विद्या दोष** - आकाशगामिनी आदि विद्या बताकर आहार लेना। इससे साधु को बड़े भारी प्रायश्चित का दोष लगता है।

१४. **मन्त्र दोष** - सर्प, बिच्छू आदि मंत्र बताकर आहार लेना।

१५. **चूर्ण दोष** - अंजन, चूर्णादि बताकर आहार लेना।

१६. **मूल कर्म दोष** - दाता को वशीकरण करके आहार लेना।

दस एषणा समिति दोष

१. **शंकित दोष** - यह भोजन शुद्ध है या अशुद्ध, ऐसी शंका सहित आहार लेना। इससे भोजन शरीर में पचता नहीं है।

२. **म्रक्षित दोष** - चिकने हाथ, बर्तनादि द्वारा आहार लेना।

३. **निक्षिप्त दोष** - सचित्त आदि पदार्थ पर रखे आहार लेना।

४. **पिहित दोष** - सचित्त पत्रादि से ढका हुआ आहार लेना।

५. **उज्झित दोष** - दाता के द्वारा दिये गये आहार के बहुभाग को नीचे गिराकर स्वल्प ग्रहण करना।

६. **व्यवहरण दोष** - बिना देखा शोधा अशुद्ध आहार लेना।

७. **दायक दोष** - अनेक दोषों से युक्त दातार से आहार लेना।

८. **मिश्र दोष** - सचित्तादि से अथवा षट्काय के जीवों से मिश्रित आहार लेना।

९. **अपक्व दोष** - अपक्व या जला हुआ भोजन लेना।

२०. **लिप्त दोष** - अशुद्ध द्रव्यों से लिप्त बर्तन या हाथ से आहार लेना। ऐसे आहार से साधु के विचार शुद्ध नहीं होते।

चार अन्य दोष

१. **संयोजना दोष** - एक दूसरे में मिश्रित भोजन पान लेना।

२. **अप्रमाण दोष** - प्रमाण से अधिक आहार लेना। इससे संयम में बाधा आती है और रोग उत्पन्न होकर वेदना होती है।

३. **अंगार दोष** - गृद्धता युक्त अति लंपटता से आहार लेना।

४. **धूम दोष** - प्रकृति विरूद्ध ग्लानि युक्त आहार करना।

बत्तीस अन्तराय दोष

१. चलते व खड़े रहते समय मुनि के ऊपर जो कौआ आदि बीट करे तो यह **काक** नामक अन्तराय है।

२. अशुचि वस्तु में पैर पड़ जाना **अमेध्य** नामक अन्तराय है।

३. आहार लेते समय वमन हो जाना **छर्दी** नामक अन्तराय है।

४. यदि कोई आहार का विरोध करे तो **रोधन** नामक अन्तराय हैं

५. अपने व दूसरे के रक्त निकलता देख **रुधिर** नामक अन्तराय है।

६. आँसू निकलता देख **अश्रुपात** नामक अन्तराय है।

७. घुटने के नीचे हाथ से स्पर्श करना **जान्वधः स्पर्श** नामक अन्तराय है। जो साधु अंतराय नहीं पालते वे महान दोषी कहे गये हैं।

८. यदि घुटनों के ऊपर भाग का स्पर्श हो जाये तो **जानूपरिव्यतिक्रम** अन्तराय है। अंतराय नहीं करने से साधु प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

९. नाभि से नीचा मस्तक कर निकला **नाभ्यधःनिर्गमन** नामक अन्तराय है। ये अंतराय साधु की अज्ञानता से होता है।

१०. त्याग की हुई वस्तु को भूल से ले लेना तो **प्रत्याख्यान सेवन** नामक अन्तराय है और इसमें गुरु से प्राश्यश्चित्त भी लेना पड़ता है।

११. सामने जीव वध होना **जीव वध** नामक अन्तराय है।

१२. यदि कौआ आदि ग्रास ले जाये तो **काकादि पिण्डहरण** नामक अन्तराय है। इसमें भी महान दोष है।

१३. पाणिपात्र से (कर से) ग्रास का गिर जाना, **ग्रास पतन** नामक अन्तराय है। इस अंतराय को भी अवश्य पालना चाहिये।

१४. पाणिपात्र में किसी जीव का मर जाना **पाणि जन्तु वध** नामक अन्तराय है।

१५. मांसादि का दीखना **मांसादिदर्शन** अन्तराय है।

१६. देवादिकृत उपद्रव होना **देवादि उपसर्ग** अन्तराय है।

१७. पैरों के बीच में से कोई पंचेन्द्रिय जीव आदि निकल जाना **पंचेन्द्रिय जीवगमन** नामक अन्तराय है। इसमें भी दोष है।

१८. दाता के हाथ से बर्तन गिर जाना **भाजन संपात** नामक अन्तराय है।

१९. अपने उदर से मलादि निकल जाना **उच्चार** नामक अन्तराय है।

२०. मूत्रादि निकल जाना **प्रस्रवण** नामक अन्तराय है।

२१. चांडालादि अभोज्य के घर में प्रवेश हो जाना **अभोज्य गृह प्रवेश** नामक अन्तराय है। क्योंकि चांडाल आदि के देखने से अंतराय है।

२२. मूर्छादि से आप गिर आना **पतन** नामक अन्तराय है।

२३. भोजन करते समय बैठ जाना **उपवेशन** नामक अन्तराय है।

२४. कुत्ते आदि का काट जाना **संदश** नामक अन्तराय है।

२५. हाथ से भूमि को छूना **भूमिस्पर्श** नामक अन्तराय है।

२६. कफादि मल का फेकना **निष्ठीवन** नामक अन्तराय है।

२७. पेट से कृमि (कीड़ों) का निकलना **कृमि निर्गमन** नामक अन्तराय है। इसमें भी अंतराय प्रायश्चित्त दोनों करते हैं।

२८. यदि बिना दी हुई कुछ वस्तु ग्रहण कर लेवें तो **अदत्त ग्रहण** नामक अन्तराय है। बिना दिये साधु कुछ नहीं लेते।

२९. अपने या अन्य पर तलवार आदि से प्रहार हो तो **शस्त्र** नामक अन्तराय है। आहार के समय कोई प्रहार नहीं कर सकता।

३०. यदि ग्राम जले तो **ग्रामदाह** नामक अन्तराय है।

३१. यदि पैर से कुछ वस्तु ग्रहण कर लेवें तो **पादेनकिंचित्ग्रहण** नामक अन्तराय है। पैर से भी उठाकर कोई साधु ग्रहण नहीं करते।

३२. हाथ द्वारा भूमि से मुनि कुछ उठा लेवें तो **करेण किंचित् ग्रहण** नामक अन्तराय है। इन ३२ अन्तराय को साधु संत अवश्य पालते हैं।

ये काकादि ३२ अन्तराय हैं तथा दूसरे भी चांडालादि स्पर्श, कलह, इष्ट मरण आदि बहुत से भोजन त्याग के कारण हैं तथा असाध्यरोग, उपसर्ग आदि आने पर साधु ४ प्रकार से आहार त्याग करके समाधिमरण करते हैं।

चौदह मल दोष

नख, रोम, जंतु, हड्डी, कण, कुण्ड, पीव, चर्म, रुधिर, माँस, बीज, फल, कंद, मूल इस प्रकार ४६ दोष, ३२ अन्तराय, १४ मल आदि दोषों से रहित नौ कोटि पूर्वक विशुद्ध आहार साधु करते हैं एवं मूलगुणों का पालन करते हैं। आगम में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य ये चार भेद रूप आहार कहे हैं। साधु इन ६ कारणों से आहार ग्रहण करते हैं। क्षुधा की शांति के लिये, व्रत, संयम, चारित्र को पालने के लिये, ६ आवश्यक क्रिया व सर्व मूलगुणों को पालने के लिए ज्ञान दान देने के लिए, ध्यान की सिद्धि के लिये एवं प्राणों की रक्षा के लिए साधु लोलुपप्ता से आहार नहीं करते।

चार प्रकार से पात्रों को भली प्रकार देखकर, भावपूर्वक चार प्रकार का दान दीजिये। शक्ति के अनुसार अतिथि का आदर-सत्कार कीजिये। जो नर अनेक कारणों से सुपात्र को दान देते हैं। वे भोगभूमि के महान् सुख को प्राप्त करते हैं।

दान देय मन हरष विशेखै, इह भव जस पर भव सुख पेखै।

यथाशक्ति त्याग को शक्तितस्त्याग कहते हैं। शक्ति अनुल्लंघन यथाशक्ति अर्थात् शक्ति की सीमा को पार करना और साथ ही शक्ति को छिपाना भी नहीं इसी को त्यागशक्ति कहते हैं और इस शक्ति के अनुरूप त्याग करना ही शक्तितस्त्याग कहा जाता है।

पात्र चतुर्विध देख सु अनुपम, दान चतुर्विध भाव सु दीजे।
शक्ति समान अभ्यागत को अति, आदर से प्रणिपत्य करीजे।।
देवत जे नर दान सुपात्रहिं, तास अनेकहिं कारण सीजे।
बोलत 'ज्ञान' देहि शुभ दान जु, भोग सुभूमि महासुख लीजै।।

एक विद्वान ने लिखा है कि- दान ऐसा देना चाहिए कि जो दूसरे को पता भी न लगे कि यह त्याग है।

यदि त्याग किये पदार्थ में लिप्सा लगी रही और उस पदार्थ के भोगने की लालसा हमारे हृदय में बनी रही तो वह त्याग नहीं हो सकता। त्याग किसका-कूड़े कचरे का त्याग, मल का त्याग किन्तु इस बाहरी मल से बड़ा एक मल है राग द्वेष का मल जो हमारी आत्मा के साथ अनादि काल से लगा हुआ है। उसका त्याग

आत्मा के अनर्थकारी पदार्थों का त्याग है। वास्तविक त्याग ऐसे पदार्थों का होना चाहिये? जिनसे विषय कषाय पुष्ट होते हैं। अन्तरंग और बाह्य परिग्रह छोड़ कर ही त्याग धर्म होता है। कषायों का त्याग, इन्द्रिय विषयों को रोकने हेतु रसों का त्याग धर्म होता है। वीतरागी मुनि कहते हैं - त्याग कर, त्याग कर। भोगी प्राणी कहता है कि - ग्रहण कर, ग्रहण कर। जो यह कहता है कि धन सम्पदा सुख हैं और वह एक जीवन है दु:ख है, इसलिए भाई! सुख तो त्याग में ही, ग्रहण में नहीं।

जो धन की चाहते रक्षा, तो धनवानो बनो दानी।
कुए से जल न निकलेगा, तो सड़ जायेगा पानी।।

यह त्याग नाम की भावना प्रशंसा योग्य मनुष्य जन्म का मण्डन है। अपने हृदय में यह त्याग भाव लाने के लिए अनेक उत्सवरूप वादित्रों को बजाकर इसका महान अर्घ उतारण करो।

परिग्रहत्याग - बाह्य और अंतरंग प्रकार के परिग्रहो से ममता छोड़ने से त्याग धर्म होता है। जाने बिना ग्रहण और त्याग वृथा है। मिथ्यात्व स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद रूप परिणाम, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप परिणाम चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह हैं।

शरीर आदि पर द्रव्यों में आत्मबुद्धि करना मिथ्यात्व परिग्रह है। जो भी वस्तु है वह अपने द्रव्य, अपने गुण, अपनी पर्याय रूप है। वह वस्तु का अपना स्वरूप है। जैसे - स्वर्ण नाम का द्रव्य है, पीलापन आदि इसके गुण हैं। कुंडल आदि उसकी पर्याय हैं। वह सब स्वर्ण ही है इसलिए स्वर्ण अन्य वस्तु का नहीं, स्वर्ण है वह स्वर्ण का है। वैसे आत्मा है वह आत्मा का ही है, आत्मा का अन्य कोई द्रव्य नहीं है। मैं गोरा हूँ, मैं सांवला, मैं राजा, मैं रंक, मैं स्वामी, मैं सेवक, मैं तिर्यञ्च इत्यादि कर्मकृत विनश्वर परद्रव्य जनित पर्याय में आत्मबुद्धि करना मिथ्यात्व परिग्रह है। मिथ्यादर्शन से ही मेरा घर, मेरा पुत्र, मेरा राज्य, मैं नीच, मैं उच्च इत्यादि मानकर सभी पर पदार्थों में आत्मबुद्धि करते हैं। पुद्गल के नाश को अपना नाश मानता है, इसके बढ़ने से अपना बढ़ना, इसके घटने से अपना घटना मानकर पर्याय में आत्मबुद्धि करके अनादिकाल से अपना स्वरूप भूल रहा है। समस्त परिग्रह में आत्मबुद्धि करके अनादिकाल से अपना स्वरूप भूल रहा है। समस्त परिग्रह में आत्मबुद्धि का मूल मिथ्यात्व नाम का ही परिग्रह है। जिसके मिथ्याज्ञान नहीं है वह परद्रव्यों में 'हमारा' इस प्रकार कहता हुआ भी पर द्रव्यों में कभी अपनापन नहीं मानता है। वेद के उदय से स्त्री-पुरुषों में जो कामसेवन के भाव होते हैं उसमें तन्मय होकर काम के भाव को आत्मभाव मानना वह वेद परिग्रह है। काम तो वीर्य आदि का प्रेरित किया हुआ देह का विकार है उसे अपने स्वरूप जानना वह वेद परिग्रह है।

धन, ऐश्वर्य, पुत्र, स्त्री, आभरणादि परद्रव्यों में आसक्ति का भाव होना राग परिग्रह है। अन्य का वैभव, परिवार, ऐश्वर्य, पाण्डित्य आदि देखकर बैरभाव करना द्वेष परिग्रह है। हास्य में आसक्ति का भाव

होना हास्य परिग्रह है। अपना मरण होने के भय से, मित्रों का तथा परिग्रह आदि का वियोग होने से निरन्तर भयवान रहना भय परिग्रह है। पाँच इन्द्रियों द्वारा वांछित भोग उपभोग सामग्री को भोगने में लीन होना रति परिग्रह है। अनिष्ट वस्तु के संयोग से परिणामों में संक्लेश भाव होना अरति परिग्रह है। इष्ट स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, जीविका आदि का वियोग होने से उनके संयोग की वांछा करके संक्लेश भाव होना शोक परिग्रह है। घृणायुक्त पुद्गलों को देखने से, भ्रमण करने से चिंतन करने से, स्पर्श करने से परिणामों में ग्लानि उत्पन्न हो जाना जुगुप्सा परिग्रह है अथवा अन्य का पुण्य उदय देखकर अपने भाव क्लेश रूप हो जाना वह जुगुप्सा परिग्रह है। परिणामों में रोष करके तप्तायमान हो जाना क्रोध परिग्रह है। उच्चासन, धन-ऐश्वर्य, रूप, बल, तप, ज्ञान, बुद्धि इनसे अपने को बड़ा जानकर मद करना तथा दूसरे को छोटा जानकर निरादर करना, कठोर परिणाम रखना मान परिग्रह है। अनेक छल-कपट आदि द्वारा वक्र परिणाम रखना माया परिग्रह है। परद्रव्यों के ग्रहण करने में संग्रह करने में तृष्णा होना लोभ परिग्रह है।

इस प्रकार संसार में परिभ्रमण के कारण, आत्मा के ज्ञानादि गुणों के घातक चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह हैं इन्हीं में मूर्च्छा के कारण धन, धान्य, क्षेत्र, स्वर्ण, स्त्री, पुत्रादि, चेतन, अचेतन बाह्य परिग्रह है। अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करने से त्याग धर्म होता है। यद्यपि बाह्य परिग्रह रहित तो दरिद्री मनुष्य स्वभाव से ही होता है। परन्तु अन्तरंग परिग्रह का त्याग करना बहुत कठिन है। दोनों प्रकार के परिग्रह का एकदेश त्याग व्रती श्रावक के होता है तथा पूर्ण त्याग महाव्रतधारी मुनिराजों के होता है।

कषायों के त्यागने से त्याग धर्म होता है। इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकने से त्याग धर्म होता है। रसों का त्याग करने से त्याग धर्म होता है। रसना इन्द्रिय की लोलुपता पर विजय प्राप्त करने से सभी पापों का त्याग सहज ही हो जाता है।

जिनेन्द्र के परमागम का अध्ययन करना, दूसरों को अध्ययन कराना, शास्त्रों को लिखना, छपवाना, शुद्ध करना, कराना, वह भी परम उपकार करने वाला त्याग धर्म है। मन के दुष्ट विकल्पों का अभाव करना, दुष्ट विकल्पों को छोड़कर चारों अनुयोगों की चर्चा में चित्त को लगाना, वह भी त्याग धर्म है। मोह का नाश करने वाले धर्म का उपदेश श्रावकों को देना वह भी महापुण्य का उत्पन्न कराने वाला होने से त्याग धर्म है। वीतराग धर्म के उपदेश से प्राणी पाप से भयभीत हो जाते हैं तथा वे धर्म के स्वरूप को समझकर उसे ग्रहण कर लेते हैं।

उत्तम, मध्यम, जघन्य ऐसे तीन प्रकार के पात्रों को भक्ति सहित होकर आहारदान, प्रासुक औषधि दान, ज्ञान के उपकरण, सिद्धान्तों के पढ़ने योग्य पुस्तकों का दान, मुनि के योग्य व श्रावक के योग्य वसतिका दान देना चाहिये। गुणों के धारकों को तप की वृद्धि का कारण आहार आदि चारों प्रकार का दान परम भक्ति से, प्रफुल्लित चित्त से अपने ज्ञान को कृतार्थ मानते हुए, गृहाचार को सफल मानते हुए, बड़े आदर से पात्र को करना चाहिए।

पात्रदान महाभाग्य से, जिनका भला होना है, उन्हीं के द्वारा होता है। पात्र का लाभ होना ही दुर्लभ है। भक्ति सहित पात्र दान हो जाय तो उसकी महिमा कहने को कौन समर्थ है?

क्षुधा, तृषा से जो दु:खी हो, रोगी हो, दरिद्र हो, वृद्ध हो, दीन हो, उनको दयापूर्वक दान देना त्याग धर्म है। त्याग से ही मनुष्य जन्म सफल है। त्याग से ही धन-धान्यादि का पाना सफल है। त्याग बिना गृहस्थ का घर श्मशान के समान है, गृह का स्वामी पुरुष मृतक के समान है। स्त्री-पुत्रादि गृद्ध पक्षी के समान हैं जो इसके धनरूप माँस को नोंच-नोंच कर खाते हैं।

भारत में जितनें भी देवों के उपासक हैं, चाहे वे कृष्ण के उपासक हों, बुद्ध के उपासक हों या महावीर के हों, सभी त्याग को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। किन्तु जो उपासक त्याग में शर्म रखते हैं वे सच्चे उपासक नहीं है। जिस त्याग में शर्म है वह सच्चा त्याग है ही नहीं। आपका त्याग शर्त का त्याग है। दान देते समय आपका ध्यान आदान में लगा है। जैसे दो व्यक्ति हैं, दोनों सौ-सौ रूपये त्याग देते हैं। एक सौ के सवा सौ प्राप्त करने हेतु देता है। वह त्याग नहीं, दान नहीं, आदान है। जबकि त्याग किये हुए पदार्थ की ओर ध्यान नहीं होना चाहिए। भावनापूर्वक त्याग के कतिपय उदाहरण हमारे सामने आते हैं।

1. एक नगर में एक गरीब महिला रहती थी। उसके पास द्रव्य एवं बर्तन नहीं थे। एक दिन उस नगर में एक महान तपस्वी मुनिराज विहार करते हुए आ गये। उस महिला के मन में मुनि महाराज को आहार करवाने की बात आई। लेकिन घर में कुछ था ही नहीं। मन में विचार किया कि बाजरा रखा है। मिट्टी की हांडी और लोहे का तसला है। हांडी में बाजरे की खिचड़ी बना लेती हूँ और तसले में पैर धो लूंगी। ऐसा विचार करके वह करवा और सरई लेकर पड़गाहन के लिए खड़ी हो गयी। भाग्य की बात है कि मुनि महाराज की आखड़ी भी करवा, सरई की थी। अत: पड़गाहन हो गया। नगर में बड़े-बड़े साहुकार सोने के कलशे से युक्त छत्तीस प्रकार के भोजन के लिए पड़गाहने हेतु खड़े थे। लेकिन मुनिराज गरीब महिला के द्वारा पड़गाहे गये। वह मुनिराज को झौंपड़ी में ले गई। लोहे के तसले में पैर धोये। वह तसला सोने का हो गया। फिर बाजरे की खिचड़ी का महाराज को आहार करवाया। मुनिराज ऋद्धिधारी थे, उस महिला के यहाँ रत्न बरसे। बिना इच्छा के त्याग में बड़ा बल है। एक पड़ोसन को ईर्ष्या हुई, उसने सोचा जब बाजरे की खिचड़ी से आहार कराया तो इसके यहाँ रत्न बरसे हैं। मैं कल छत्तीस प्रकार के व्यंजन बनाऊँगी मेरे तो न जाने कितने रत्न बरसेंगे। अगले दिन उसने ऐसा ही किया। महाराज आये लेकिन उसे इच्छा थी रत्नों की, वहाँ दान नहीं था। महाराज पड़गाहे गये। पहली बार पानी दिया, वह पानी उबलता हुआ था। महाराज के हाथ पर डाल रही थी और ऊपर को देख रही थी। गर्म-गर्म पानी हाथ पर पड़ा अंजुली छूट गई, अन्तराय हो गया और आँगन में अँगारे बरसने लगे।

अग्नि लगी आकाश में, झर-झर झरें अंगार।
संत न होते जगत् में, जल जाता संसार।।

तब उसने महाराज जी से पूछा- ऐसा क्यों हुआ? मुनि महाराज ने कहा - तुम्हारा दान सच्चा दान नहीं है तुम्हें मान था, इच्छा थी इसलिए ऐसा हुआ। त्याग पैसे से नहीं होता, त्याग भावना से होता है।

2. एक बार धर्मराज युधिष्ठर हजामत बनवा रहे थे। नाई जब हजामत बना चुका तो धर्मराज ने उसे सोने का प्याला, जिसमें हजामत का पानी भरा हुआ था, दान में दे दिया किन्तु दिया बायें हाथ से। दान तो दायें हाथ से दिया जाता है। युधिष्ठिर महाराज बोले - मांगलिक कार्य में देर नहीं करना, हो सकता है भावना में परिवर्तन आ जाये, मन में विचार बदल जाये।

3. एक साधु बड़ा संतोषी था। घर-घर आता एक-एक रोटी ही माँगता और आठ-दस घरों से अपना पेट भर लेता। कभी थोड़ा पानी चुल्लू में लेकर पी लेता और दिन भर भजन करता, प्रभु की भक्ति करता, गुणगान करता, बड़ी शान्ति में उसकी जिन्दगी बीत रही थी। एक भक्त कहने लगा कि महाराज, अगर खाते-खाते प्यास लग जाये तो आप क्या करेंगे? इसलिए एक सस्ता कटोरा ला देता हूँ। साधू ने विचारा कि चलो एक कटोरे से क्या बिगड़ेगा? ला देने दो। इसका भी चित्त प्रसन्न हो जायेगा। कटोरा आ गया। एक दिन शिवालय से निकलकर संध्या ध्यान के लिए जंगल की ओर जाते समय कटोरा रह गया। यदि कोई ले गया तो? साधु की झुंझलाहट सी उठी। अच्छा लिया कटोरा, सब कुछ खो बैठे। इसके पीछे चले, पहले कटोरे का इलाजकर आऊँ, फिर करूँगा ध्यान। आया द्वार पर कटोरा पड़ा था। पत्थर लेकर तोड़ा मरोड़ा और फैंक दिया। इधर से भक्त भी आ निकला। क्या बिगाड़ा है इस बेचारे ने, पूछने लगा। जो इस प्रकार इसके पीछे पड़े हो। बिगाड़ ही नहीं सर्वस्व लूट लिया है। साधु बोले, तू क्या जाने बेटा, क्या किया इसने? साधु सन्तोष की साँस लेकर चला गया। पुनः जंगल की ओर। त्याग से ग्रहण में आकर पता चला कि साधु को कितना दुःख है ग्रहण में। इस प्रकार ग्रहण से त्याग में आकर ही पता चलता है। त्याग में कितना सुख है इसलिए संतोष धारण करना चाहिए।

4. एक सेठ ने सड़क पर गाते हुए साधु को दया करके एक पैसा दे दिया। साधु सोचने लगा कि क्या करूँ इसका। किसी जरूरत वाले के हाथ में जाता तो काम आता। मेरे किस काम का? कोई भिखारी मिलेगा तो दे दूँगा। इतने में सिकन्दर का लश्कर दिखाई दिया। साधु ने वह पैसा उसकी ओर फैंक दिया। वह पैसा सिकन्दर के मस्तक से जा लगा। वह चौंका, किसने फेंका यह तुच्छ पैसा। पकड़ लाओ उस साधु को। वह गरजा, साधु आया, क्योंजी तुमने फेंका हैं यह पैसा? साधु ने कहा हाँ। क्या समझकर, अब साधु बोला, यह विचार कर कोई भीखरी है। बेचारा भूखा अपना देश छोड़कर यहाँ आया है अपनी भूख मिटाने। यह पैसा इसे दे दूँ काम आवेगा। मुझे क्या करना है इसका? सिकन्दर की आँखे खुल गयी लेकिन हमारी आँख आज तक नहीं खुली। तेरी तृष्णा की खाई आज तक नहीं भरी, कौन सी वस्तु रह गई है जो तुझे नहीं

मिली। यह शक्तितस्त्याग भावना त्याग करने से ही सफल होगी ग्रहण करने से नहीं।

छहढालाकार कहते हैं कि -

यह राग आग दहै सदा, ताते समामृत सेइये।
चिरभजै विषय कषाय अब तो, त्याग निजपद बेइये।।
कहा रच्यो पर-पद में न तेरो, पद यहै क्यों दुख सहै।
अब दौल होउ सुखी स्वपद रचि, दाव मत चूको यहै।।

राग, तपन पैदा करता है। विषय कषाय जलाने वाले हैं। यह हमारा पद नहीं है, पर पद है। अपने पद में आओ आज तक हम भोग में सुख मानते रहे। त्याग का लक्ष्य रहा नहीं। इसलिए भैया आप तो सभी ज्ञानी हैं। इन बातों को समझकर शक्तितस्त्याग भावना भानी चाहिये।

5. किसी नगर में एक धनी सेठ रहता था। ऊपर से तो वह मीठी और चिकनी चुपड़ी बातें करता लेकिन उसके मन में कपट था। छल-कपट से उसने लाखों का धन इकट्ठा किया था पर जब कोई दीन भिखारी उसके द्वार पर आकर रोटी कपड़े की याचना करता तो सेठ उसे कुत्ते की तरह दुतकारकर भगा देता। वह धन को ही अपना सर्वस्व समझने लगा ''चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाये''। यह कहावत सेठ पर पूरी घटित होती थी। लोग उसे कन्जूस के नाम से पुकारने लगे। नगरवासी कभी-कभी उससे कह दिया करते थे कि सेठ जी, क्या करोगे इतना धन जोड़कर? किसी शुभ कार्य में भी कुछ लगा दिया करो। दान दोगे तो उभय लोक में सुख पाओगे।

कन्जूस सेठ उनकी बातों को हंसी में टाल देता और कहता, अरे तुम मूर्ख हो। पैसे की इज्जत तुम सब क्या जानों, मैं तो पैसे को अपना सब कुछ समझता हूँ। धन से मृत्यु को जीता जा सकता है। देखते नहीं सारा नगर मेरे सामने झुकता है। बड़े-2 आदमी मुझसे ही मिलते हैं। लोग टकटकी लगा कर देखते हैं, द्वार पर भीड़ बनी रहती है। यदि मैं इस धन को दान में दे दूँ तो मेरी खुशामद कौन करें? मेरी कोठी है, कार है, बगीचे हैं। मुझे चिन्ता किस बात की है। झूठ बोलो, बेईमानी करो तथा प्रपंच कर पैसा बनाओ। यह पैसा सब कुछ है। एक दिन कन्जूस बेईमान का परिवार सात दिन के लिए बाहर चला गया। तभी सेठ ने यह अच्छा अवसर देखकर तहखाने में प्रवेश किया और अन्दर जाकर ताला लगा दिया।

सेठ देख रहा है कि एक ओर सोने चाँदी की सिल्ली की तह पर तह लगी है और एक तरफ हीरे जवाहरात और मोतियों के ढेर लगे हुए हैं। नोटो की गड्डियाँ सन्दूक में भरी पड़ी हैं। कई घण्टे दौलत को निहार कर जब बाहर को चला तो द्वार बन्द था चाबी अन्दर आते समय बाहर रह गयी थी। ताला चाबी के बिना बन्द हो जाता था परन्तु खुलता नहीं था। सेठ घबरा गया, अन्दर से शोर मचाया। चिल्लाया पर वहाँ कौन बैठा था, जो पुकार सुनता। तीन चार दिन में सेठ ने तड़प-तड़प कर प्राण दे दिये।

सात दिन बीतने पर कुटुम्ब के लोग वापिस आये। सेठ का पता लगने पर तहखाने के किवाड़ तुड़वाये तो देखा सेठ औंधे मुँह पड़ा है। बड़ी दुर्गन्ध आ रही है। पास ही एक कागज पड़ा था जिस पर सेठ ने मरते समय लिखा था - झूठ, कपट, छल, बेईमानी से इकट्ठा किया धन किसी काम नहीं आता। धन को सर्वस्व समझना मनुष्य की सबसे बड़ी भूल है। जो व्यक्ति धन का सदुपयोग नहीं करता, दान पुण्य में नहीं लगाता तथा निजी स्वार्थ हेतु उसका अपव्यय करता है। उसकी मौत मुझ जैसे पापी और कंजूस व्यक्ति की तरह होती है। अतः समस्त धनराशि मैं परोपकार के लिए समर्पित करता हूँ।

क्षितिगतमिव वटबीजं, पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छाया विभवं, बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्।। र.6।।

जिस प्रकार अच्छी उपजाऊँ जमीन में बोया हुआ छोटा सा भी वट का वृक्ष, अपने फलदान के समय बड़ीभारी छाया को और अपने फलों को फैलाता है उसी प्रकार योग्य पात्र को दिया हुआ थोड़ा सा दान, दाता के लिए फलदान के समय पर विशाल ऐश्वर्य, सम्पत्ति और इच्छानुसार अनेक भोगोपभोग फलों को देता है।

वास्तव में बाहर कोई और काम कर रहा है, भीतर कोई और, मात्र हमारे सामने एक नकली चेहरा ही काम कर रहा है। आज जो भी त्याग हमें दिखाई दे रहा है। उसके पीछे पद का नाम, धन, यश, प्रतिष्ठा की चाह छिपी हुई है। वह चाहता है कि उसका नाम विशिष्ट रूप से लिया जाये। उसे त्यागियों की विशिष्ट श्रेणी में रखा जाय। सभी लोग उसका सम्मान करें। परन्तु महावीर स्वामी ने इस अहंकार पूर्ण त्याग का मोक्षमार्ग में निषेध किया है।

वास्तविक त्याग तो वही है जिसने अपनी समस्त घटनाओं का त्याग कर दिया है। त्याग में याचना का पूर्ण अभाव होता है। क्योंकि त्याग ही अन्तरंग में उतरने में सहायता प्रदान करने वाली प्रथम सीढ़ी है। फिर शर्त कैसी ? अतः हम सब इसकी महत्ता के यथार्थ स्वरूप को पहचानें। शर्तों के घेरे से बाहर निकल कर यथार्थता में आओ और अपना जीवन सार्थक बनाओ।

ऐसा ही अपने जीवन को अच्छा और सुन्दर बनाने के लिए सहज-भाव से विकारों का त्याग करना चाहिये। अहंकार और संक्लेश से रहित होकर अपना कर्त्तव्य मानकर त्याग करना चाहिए।

वैराग्य-भावना में आता है कि **'छोड़े चौदह रतन, नवों निधि, अरु छोड़े संग-साथी। कोटि अठारह घोड़े छोड़े, चौरासी लख हाथी। इत्यादिक सम्पत्ति बहुतेरी, जीरण तृण-सम त्यागी।'** संसार, शरीर और भोगों की वास्तविकता जानकर अत्यन्त वैराग्य से भरकर चक्रवर्ती ने अपार सम्पदा का त्याग कर दिया। सारी सम्पदा जीर्ण तृण के समान छोड़ दी। सूखी घास का तिनका उपयोगी जान पड़ता है सो उसके प्रति भी कदाचित् राग-भाव रह सकता है। ममत्व रह सकता है। परन्तु जीर्ण-शीर्ण तिनके के प्रति ममत्व भाव सहज ही छूट जाता है। इसलिए त्यागी हुई वस्तु को जीर्ण तृण के समान जानो, ऐसी महत्त्वपूर्ण

बात कही। हम जिस चीज का त्याग करें वह हमें जीर्ण तृण के समान अनुपयोगी जान पड़े ताकि त्याग करते समय और त्याग करने के बाद भी उसके प्रति ममत्व भाव जागृत न हो। या ऐसा कहें कि ममत्व भाव जितना-जितना घटना जावेगा, बाह्य भोग सामग्री के प्रति विरक्ति उतनी ही बढ़ती जाएगी और त्याग करना सहज हो जाएगा।

हमने क्या-क्या छोड़ा और कितना छोड़ा - यह महत्त्वपूर्ण नहीं है इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात है कि कैसे छोड़ा? जीर्ण तृण के समान अनुपयोगी या निरर्थक जानकर अत्यन्त निस्पृह-भाव से छोड़ा है तो वह त्याग श्रेष्ठ है। एक बात और मजे की है कि ममत्व तब घटता है जब चीज अनुपयोगी जान पड़ती है या अनिष्टकारी जान पड़ती है या फिर दूसरी कोई श्रेष्ठ चीज प्राप्त हो सकती है ऐसा भान हो जाता है। हमारे जीवन में भी त्याग-भाव जागृत हो सकता है। हमारा भी ममत्व-भाव जागृत हो सकता है। यदि हमें बाह्य पदार्थ अनुपयोगी या अपने आत्म-कल्याण में बाधक जान पड़ें और साथ ही हमें अपनी निजी आत्म-सम्पदा का भान हो जाए।

एक बार पड़ौसी राज्यों में परस्पर युद्ध हुआ। जो राजा जीत गया उसने दूसरे के राज्य पर अपना अधिकार कर लिया और घोषणा करा दी कि आज से यह राज्य हमारा है। इस राज्य में पहले से रहने वाले लोग इसे खाली कर दें और अपनी जितनी सम्पत्ति सिर पर रखकर ले जायी जा सके उतनी ले जाएँ। उस राज्य के लोग बड़े दु:खी हुए। सब एक-एक करके राज्य छोड़कर जाने लगे। रास्ते में सैंकड़ों लोग सिर पर अपना-अपना सामान उठाए पैदल जा रहे थे। सभी के चेहरे उदास थे। जो सम्पदा छोड़कर जाना पड़ा उसके लिए सभी दु:खी थे और मजा ये था कि जो सम्पदा अपने सिर पर रखे थे उसका बोझ भी कम पीड़ादायक नहीं था, पर जो छूट गया उसकी पीड़ा ज्यादा थी।

हम सभी के साथ भी ऐसा ही है। हमें जो प्राप्त है उसका बोझ इतना है कि झेला नहीं जाता परन्तु जो प्राप्त नहीं है उसकी पीड़ा बहुत है। चीजों का अभाव ही दु:ख पहुँचाता हो ऐसा नहीं है। चीजों के सद्भाव में भी व्यक्ति दु:ख का अनुभव करता है। अचानक लोगों ने देखा कि भीड़ में एक व्यक्ति ऐसा भी है जो सबकी तरह दु:खी नहीं है बल्कि आनंदित है। लोगों ने सोचा कि शायद कोई बेशकीमती सामान साथ में लाया होगा इसलिए खुश है। पर मालूम पड़ा कि वह तो खाली हाथ है। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और दया भी आई कि बेचारे के पास कुछ भी नहीं है। किसी के पास कुछ भी न हो और वह आनन्दित हो तो लोगो को सहसा विश्वास नहीं होता। लोगों ने पूछा कि तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है, तुम कुछ भी नहीं लाए। उसने कहा कि जो मेरा है वह सदा से मेरे साथ है। लोग जरा मुश्किल में पड़ गए। लोगों ने सोचा कि सम्पदा छूट जाने से शायद इसका दिमाग गड़बड़ा गया है। सचमुच, अगर कोई सब छोड़ दे और आनंदित होकर जीवन जिए तो अपने को लगता है कि इसका दिमाग ठिकाने नहीं है। त्याग वगैरह की बातें पागलपन-सी लगती है और मजा ये कि अनावश्यक चीजों का संचय करना और उसके संरक्षण की चिन्ता रखना बुद्धिमानी जान पड़ती है।

उस व्यक्ति ने कहा कि मेरी निजी-सम्पदा है आत्मशान्ति और संतोष। जो सदा मेरे साथ है। जिसके छिन जाने, लुट जाने या खो जाने का भय मुझे जरा भी नहीं है। जो खो जाए, छूट जाए या जिसे छोड़ना पड़े वह निजी सम्पदा नहीं है। जिसे अपनी निजी सम्पदा का बोध हो जाता है उसका बाह्य-सम्पदा के प्रति ममत्व अपने आप घट जाता है। उसे तब बाह्य सम्पदा का त्याग सहज हो जाता है।

हम अपने जीवन में झाँककर देखें कि हमारे पास ऐसा क्या है जो हमें आन्तरिक प्रसन्नता देता है? ऐसा क्या है जो कभी छिन नहीं सकता? ऐसा क्या है जिसका कभी अभाव नहीं होता? हम उसे पहचानें। वही हमारी निजी सम्पदा है। उसका अहसास होते ही हमारे जीवन में त्याग का आनन्द आने लगेगा। तब न त्याग का अहंकार होगा और न ही त्याग करते समय संक्लेश परिणाम।

आचार्य भगवन्तों ने त्याग के साथ यथाशक्ति शब्द जोड़ा है। यथाशक्ति शब्द का अर्थ यदि हम छहढाला के उस प्रकरण से निकालें जिसमें एक सद्गृहस्थ के लिए परिग्रह-परिमाण व्रत का स्वरूप बताते हुए दौलतरामजी ने लिखा है कि 'अपनी शक्ति विचार परिग्रह थोरो राखे'। 'अपनी शक्ति विचार' का आशय है कि अपनी आवश्यकता का विचार करके, उतना ही अल्प परिग्रह रखें जितने में ठीक से जीवन-यापन हो सके और शेष परिग्रह के प्रति ममत्व भाव छोड़ दें। यही परिग्रह परिमाण व्रत है। शक्तितस्त्याग या यथाशक्ति त्याग का भी अर्थ यही है कि अपनी आवश्यकता से अधिक सामग्री का त्याग कर दें।

विनोबा-भावे सत्याग्रह आन्दोलन के दौरान तेरह महीने जेल में रहे। वहाँ उनकी दैनिक-जरूरतों की पूर्ति के लिए कुछ चीजें उन्हें दी गईं। जेल की अवधि पूरी होने पर जब वे अपने आश्रम में वापिस लौटे तो अपने उपयोग में आने वाली जरूरी सामग्री रखकर शेष सब हटा दी। आश्रम के लोगों ने कहा कि बाबा! यह तो आपका आश्रम है, यहाँ तो आप जो चाहें सब अपने पास रख सकते हैं। तब विनोबा ने कहा कि जेल में रहकर मुझे मालूम पड़ा कि जीवन-यापन के लिए अल्प-सामग्री भी पर्याप्त है। अपनी जरूरत से ज्यादा सामग्री रखना ठीक नहीं है और अपनी जरूरतें निरन्तर बढ़ाते जाना भी ठीक नहीं है। यह तो लोलुपता कहलाएगी।

सभी के घर में चार स्थान होते हैं। एक स्थान वह है जहाँ सभी लोग, घर के भी और बाहर के भी बैठते हैं। इसे बैठक कहते हैं। इसमें जीवन की श्रेष्ठतम उपलब्धियों को प्रदर्शित करने वाले सर्टिफिकेट, ट्रॉफी, मेडिल वगैरह सजाकर रखते है। दूसरा शयन-कक्ष है। इसमें परिवार-जन ही पहुँचते हैं। इसे उर्दू-भाषा में ख्वाबगाह कहते हैं। सचमुच इसमें सभी लोग भौतिक सुखों को ज्यादा से ज्यादा पाने के सपने देखते हैं। तीसरा स्थान रसोईघर का है। यहाँ बैठकर शरीर को ठीक से चलाने के योग्य आहार-पानी ग्रहण किया जाता है। यह बड़ी महत्वपूर्ण जगह है। विनोबा ने लिखा कि हम व्यक्तित्व का पता व्यक्ति के भोजन

और भोजन के स्थान से लगा सकते हैं। एक चौथा स्थान और है जो घर में अपने आप बन जाता है। जहाँ घर-घर की अनुपयोगी टूटी-फूटी बेकार चीजें इकट्ठी करके रख दी जाती है। इस स्थान पर जाना कोई पसन्द नहीं करता। न ही किसी को यह स्थान दिखाया जाता है।

ऐसा ही हम सबके जीवन में है। जीवन में एक कोना ऐसा है जो हमारी उपलब्धियों से भरा है। जो सबसे श्रेष्ठ है जिसे हम सबको दिखाना पसन्द करते हैं। हमारे जीवन में एक कोना वह भी है जो आगामी जीवन के सुखद सपनों से भरा है। सुखद जीवन की कल्पना का ताना-बाना हम निरन्तर बुनते रहते हैं। यह दोनों स्थान अतीत की उपलब्धियों और आगामी आकांक्षाओं के प्रतीक है। वर्तमान में जीवन जीने के लिए पेटभर भोजन करना जरूरी है। पेटभर भोजन के लिए ही सारी दौड़धूप है। वह वर्तमान जीवन को सुचारू रूप से चलाने का प्रतीक है। जीवन का एक कोना ऐसा भी है जहाँ काम, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, अभिमान, छल-कपट का कूड़ा-कचरा इकट्ठा होता रहता है। इसे कोई किसी को दिखाना पसन्द नहीं करता पर सभी को दिख जाता है। यह हमारे विकारों की अभिव्यक्ति का कोना है।

मैं कहना यह चाहता हूँ कि घर में रखे अनुपयोगी व अनावश्यक संचय को हटाना और जीवन में भरे विकारों व दुर्भावनाओं को छोड़ना, वास्तव में यही त्याग है। बाह्य में दस प्रकार का परिग्रह छोड़ना और अंतरंग में मिथ्यात्व और कषाय रूप विकारी भावों को छोड़ना ही त्याग है। बाह्य-परिग्रह धन, सम्पदा आदि को क्षण भर में छोड़ा जा सकता है लेकिन अपनी अंतरंग कषायों को, अपने मिथ्या-भावों को, अपने अज्ञान व आसक्ति को हटाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना जरूरी है। इस ओर भी हमारा ध्यान जाना चाहिए। क्रोध छोड़ना, मान-सम्मान पाने की लालसा छोड़ना, यश, ख्याति की आकांक्षा छोड़ना, छल-कपट छोड़ना आसान नहीं है पर प्रयत्न करने से इनमें कमी लायी जा सकती है। इन बातों को छोड़ना अपने कल्याण के साथ ही पर-कल्याण में भी सहायक है।

त्याग लोकोपकारी हो तो तीर्थंकर पद मिलता है। आचार्य अकलंक स्वामी के चरणों में बैठें तो ज्ञात होता है कि **'परप्रीतिकरणातिसर्जन त्यागः'**। दूसरे की प्रीति पाने के लिए, दूसरे का उपकार करने की भावना से जो छोड़ा जाता है, त्याग है। आहार और औषध-दान देने से मोक्षमार्ग में प्रीति उत्पन्न होती है। ज्ञान-दान से धर्म के प्रति रुचि या प्रीति जाग्रत होती है। अभयदान देने वाला सबका प्रिय पात्र होता है। दीवान अमरचंद ने अभयदान दिया, प्राणीमात्र के प्रति प्रीति का भाव जागृत कर दिया। भामाशाह ने अपनी सारी सम्पदा प्रजा के हित में त्याग दी। ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं लोकोपकारी त्याग के। इनसे हमें प्रेरणा लेनी चाहिए और अपने जीवन में भी ऐसा त्याग-भाव जागृत करना चाहिए। गणेशप्रसादजी वर्णी ने ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए खूब प्रयत्न किया। विद्वत्जनों की प्रीति उनको मिली। ज्ञान देना, उपदेश देना, पठन-पाठन की रुचि जागृत करना, पढ़ने के लिए धनराशि देना, विद्यालय खुलवाना यह सब लोकोपकारी

त्याग है। भैया! देखो किसी का उपकार होना, न होना तो उसके कर्माधीन है परन्तु उपकार करना या उपकार का भाव होना यह हमारा कर्त्तव्य, यह स्वाधीन है। हमारे ऊपर आश्रित है।

एक साधुजी रोज राजा के दरबार में जाते थे और राजा को एक सुन्दर-सा फल भेंट में देते थे। राजा उसे सामान्य फल जानकर मंत्री को दे देता था। मंत्री समझदार था, वह सारे फल रखता जाता था। एक दिन जब साधुजी राजा को फल भेंट कर रहे थे तब राजा के मन में विचार आया कि आखिर क्या बात है? साधुजी मुझे रोज एक फल भेंट में देकर जाते हैं। देखना चाहिए कि यह फल कैसा है? जैसे ही फल खाने के लिए राजा ने उसे तोड़ा उसमें से एक चमकदार मोती निकलकर गिरा। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा ने मंत्री की ओर देखा। मंत्री ने कहा कि राजन् सारे फल मैंने रख लिए थे, फेंके नहीं है। आप निश्चित रहें, अभी लाता हूँ। सारे फल लाए गए। सभी में एक-एक चमकीला मोती निकला। राजा कुछ समझ नहीं पाए। उन्होंने साधुजी से इसका कारण पूछा तो साधुजी ने कहा कि राजन् आप राजकाज में इतने व्यस्त रहते हैं कि अलग से उपदेश सुनने का समय नहीं निकाल पाते। मैंने सोचा फल किसी न किसी दिन आपको उपदेश देगा। यह फल तो मनुष्य की देह के समान है और इसमें रखा मोती, इस मनुष्य में बैठी आत्मा को पाना शेष है। यही उपदेश मुझे इस फल के माध्यम से आपको देना था। राजा अपनी गद्दी से उठकर साधु के चरणों में गिर पड़ा और संसार से विरक्त होकर आत्म-कल्याण में लग गया। यह है लोकोपकारी त्याग। वास्तव में, त्याग के समय स्व-पर कल्याण की भावना मन में होनी चाहिए। तभी त्याग सार्थक होता है।

त्याग करने के उपरान्त त्यागी हुई चीज के प्रति ममत्व-भाव जागृत न हो यह भी जरूरी है। बाह्य वस्तुओं का त्याग करने का उद्देश्य यही है कि उस वस्तु के प्रति मेरा ममत्व-भाव कम हो और आकुलता घटे। त्याग करने से यह लाभ भी होता है कि हमारे मन में त्यागी हुई वस्तु को लेकर कोई विकल्प या आकुलता नहीं होती।

हम लोग अस्वस्थ हो जाने पर डॉक्टर के कहने से बहुत-सी वस्तुओं का त्याग कर देते हैं। अंतरंग में स्वास्थ्य लाभ की कामना रहती है। इसलिए बाह्य में रोग को बढ़ाने वाली वस्तुओं का सहज-भाव से त्याग कर देते हैं। ऐसे ही अंतरंग में वीतरागता प्राप्त करने की भावना से बाह्य वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष भाव का त्याग करना चाहिए। वास्तव में तो अंतरंग में उठने वाले राग-द्वेष रूपी विकारों से निवृत्ति होना ही त्याग है। परन्तु बाह्य वस्तुएँ भी अंतरंग के राग-द्वेष को बढ़ाने में निमित्त बनती हैं। इसलिए सर्वप्रथम बाह्य वस्तुओं का त्याग करने की सलाह दी जाती है।

अंत में एक बात और समझने की है। अपने को त्याग करते समय प्रत्युपकार की कामना नहीं करनी चाहिए। ऐसा भाव नहीं आना चाहिए कि मैं इतना त्याग कर रहा हूँ मुझे कुछ मिलेगा या नहीं। सोचो, त्याग

करने से जो निराकुलता मन में आयी, जो आत्म-संतोष और आनन्द मिला वही तो उसकी उपलब्धि है। त्याग करने से मुझे यश-ख्याति मिले, मेरा नाम हो, मेरी बढ़ाई हो, मुझे मान-सम्मान मिले, ऐसी आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए। त्याग का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।

कहा है - **वृष्टि विना कुतो मेघः, क्व सस्यं बीज वर्जितं।**
जीवानां च विना त्यागात्, सुखं-मुत्पद्यते कुतः॥

बिना मेघ वृष्टि नहीं बिना बीज के धान्य नहीं होगा, इसी प्रकार त्याग के बिना जीवों को सुख प्राप्त कैसे हो सकता है।

पश्चिम बंगाल में ईश्वरचन्द हुए है। सुनते हैं बड़े परोपकारी थे। एक बार रास्ते में एक व्यक्ति को दुःखी देखकर वे ठहर गए। मालूम पड़ा कि व्यापार में घाटा हो जाने से उसकी सारी सम्पत्ति डूब गई। एक मात्र छोटा-सा मकान बचा है जिसमें अपने परिवार-सहित वह अपने दुःख के दिन व्यतीत कर रहा है। परन्तु आज वह मकान भी नीलाम हो जाएगा। इस कारण वह बहुत दुःखी है। अब परिवार को लेकर कहाँ जाए, किससे मदद माँगें। यदि कहीं से 300 रुपये की मदद मिल जाए तो मकान बच जाएगा। नीलामी नहीं होगी। आज की तारीख में 300 रुपये कचहरी (कोर्ट) में जमा करना जरूरी है। ईश्वरचन्द ने सारी बात सुनी और कहा कि चिंता मत करो। दुःखी मत हो, भगवान पर श्रद्धा रखो, सब ठीक हो जाएगा। उस व्यक्ति ने सोचा कि औरों की तरह यह भी आश्वासन देकर चले गए। वह दुःखी मन से घर पहुँचा और इन्तजार करने लगा कि नीलाम करने वाले आते ही होंगे। सारा दिन बीत गया। कोई नहीं आया। उसे मालूम पड़ा कि अब घर नीलाम नहीं होगा। 300 रुपये जमा करा दिए गए हैं। वह समझ गया कि यह उपकार तो ईश्वरचन्द का है। भागा-भागा उनके घर गया और चरणों में गिर गया। आँखों में आँसू बहने लगे। ईश्वरचन्द ने उसे उठाकर हृदय से लगाया और कहा - "भाई! यह तो मैंने अपना कर्त्तव्य किया है, इसमें उपकार की तो बात ही नहीं है। तुम मेरे ऊपर इतना उपकार अवश्य करना कि यह बात किसी से कहना मत।"

वास्तव में, त्याग तो ऐसा होना चाहिए। ऐसा त्याग ही हमारे जीवन को निर्मल बनाने में सहायक होगा।

कहा भी है - **त्याग की बात तो हर कोई किया करता है।**
सत्य का नारा भी हर कोई दिया करता है॥
उतारे कथनी को करने बनाके 'विशद' जीवन में।
ऐसा महावीर तो कोई-कोई हुआ करता है॥

******

7
यथाशक्ति-तप

तपो द्वादश-भेदं हि क्रियते मोक्ष-लिप्सया।
शक्तितो भक्तितो यत्र भवेत्सा तपसः स्थितिः ॥७॥

जहाँ मोक्ष की इच्छा से शक्ति और भक्ति के अनुसार बारह प्रकार का तपश्चरण किया जाता है वह तप संस्थिति अथवा सम्यक् तप कहलाता है।

राग आग में जलकर अब तक, यूँ ही काल गया।
परिणत हुए भोग विषयों को, माना नया-नया॥
निज निधि को खोकर के अब तक, पर पदार्थ पाये।
प्रकट दिखाई देते हैं पर, हमने अपनाये॥
पर परिणत से बचकर हमको, निज निधि को पाना।
छोड़ विकल्पों को अब सारे, निज को ही ध्याना॥
यथाशक्ति जो त्याग करे वह, मोक्ष मार्ग जानो।
जैनागम में त्याग शक्तिसः, इसी तरह मानो॥

हमने यह बात बहुत अच्छे से समझ ली है कि यदि हम प्राणीमात्र के कल्याण की भावना से दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं का निरन्तर अभ्यास करते हैं तो हमारे भीतर अच्छाई उद्घाटित हो सकती है। अच्छाई हमारे भीतर स्वभाविक रूप से विद्यमान है, यदि हम बुराईयों को हटाते जाएँ तो अच्छाई स्वयमेव प्रकट हो जाएगी। जैसे स्वर्ण को अग्नि में तपाने से उसकी मलिनता हटते ही वह उज्जवल होकर चमकने लगता है। ऐसे ही हमारी मलिनताएँ यदि हम तपस्या के माध्यम से हटा दें तो हमारी स्वभाविक उज्जवलता प्रकट होने में देर नहीं लगेगी।

आज हम अपनी आन्तरिक उज्जवलता को प्रकट करने वाली शक्तितस्तप या यथाशक्ति-तप भावना पर विचार करते हैं। 'इच्छा निरोधः तपः' इच्छाओं का निरोध करना ही तप है। इच्छाओं को जीत लेना या इच्छाओं से ऊपर उठ जाना (बियोन्ड डिजायर)। हम सभी यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि इच्छाएँ अनन्त

हैं उनकी पूर्ति करना संभव नहीं है। इच्छाओं की तासीर (नेचर) ही ऐसी है कि वे कभी पूरी नहीं होती। इच्छाओं की संतति सदा बनी रहती है। जीवन पूरा हो जाता है पर व्यक्ति अपनी इच्छाओं को पूरा नहीं कर पाता।

सामान्यत: इच्छाओं को संसार का कारण माना गया है या कहें कि इच्छा का नाम ही संसार है। विनोबाजी ने एक सूत्र बनाया कि मनुष्य-(माइनस) इच्छाएँ = ईश्वर। मनुष्य में से इच्छाएँ निकल जाएँ तो वह ईश्वर है। यहाँ इच्छा का अर्थ सांसारिक या भौतिक आकांक्षा है। सबका जीवन भौतिक इच्छाओं की पूर्ति में ही व्यतीत हो जाता है। सारी आंतरिक क्षमता व्यर्थ चली जाती है। जिस आन्तरिक-क्षमता को विकसित करके या जागृत करके हम अपनी स्वाभाविक उज्ज्वलता को प्रकट कर सकते थे, उसका अपव्यय भौतिक इच्छाओं की पूर्ति में होता रहता है। इसलिए सांसारिक इच्छाएँ त्याज्य हैं, उनसे ऊपर उठना ही तपस्या है।

इच्छाओं को जीतने का आसान-सा तरीका यह है कि हम इच्छाओं को परिष्कृत करें। इच्छाओं को सही दिशा दें। हम अपने भीतर उठने वाली इच्छाओं का अवलोकन करें और उनमें जो असंभव इच्छाएँ हैं जिनकी पूर्ति करना मुश्किल है, उन इच्छाओं से स्वयं को मुक्त कर लें। उनकी पूर्ति में अपना समय, शक्ति और सम्पदा का व्यय न करें। जो अनावश्यक इच्छाएँ हैं यानी जिनकी पूर्ति हो जाने पर भी जीवन में कोई लाभ नहीं है उन इच्छाओं को भी छोड़ दें। इतना ही नहीं हम उन इच्छाओं की पूर्ति भी न करें जो हमारे जीवन को पतन की ओर ले जाती हैं, जिनकी पूर्ति करने में हमारा और दूसरे का भी अहित होता है। हमें यह सब स्वयं अपने जीवन के अनुभव से सीखना होगा। अपनी आवश्यक, अनावश्यक या असंभव इच्छाओं को स्वयं समझना होगा। अपने हित-अहित की समझ स्वयं विकसित करनी होगी। यदि हम केवल इन इच्छाओं की पूर्ति करें जिनसे अपना और सारे जगत का कल्याण हो यही तो सच्ची साधना है, तपस्या है।

इच्छाओं को जीतने की या इच्छाओं को नियंत्रित करने की दृष्टि अपने अनुभव से प्राप्त होती है। जैसे हमारा हाथ कभी आग से जल गया हो या किसी का हाथ हमने आग में जलते देखा हो तो यह अनुभव हमें सहज ही आग से बचने या आग से सावधान रहने की शिक्षा देता है। ऐसे ही अपने भीतर उठने वाली अहितकारी इच्छाओं से सावधान रहने का प्रयास हम अपने अनुभव के आधार पर कर सकते हैं। अपने आस-पास के वातावरण से भी हम चाहें तो इच्छाओं को नियंत्रित करने की दृष्टि पा सकते हैं। कितने सारे ऐसे लोग हैं जो अनावश्यक व अहितकारी इच्छाओं की पूर्ति में अपना जीवन नष्ट कर देते हैं, उनसे भी हम शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इच्छाओं की पूर्ति करते समय हमारा विवेक जागृत रहे और स्व-पर कल्याण की भावना बनी रहे तो हम आसानी से इच्छाओं को जीत सकते हैं। इसलिए आचार्यों ने तपस्या को स्व-पर के कल्याण में निमित्त माना है।

तपस्या के पीछे छिपी भावना को महत्त्व दिया है। '**अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोध कायक्लेशस्तपः**'। अपनी शक्ति को नहीं छिपाते हुए वीतराग-मार्ग के अनुरूप कायक्लेश आदि करना तप कहलाता है। अपनी शक्ति नहीं छिपाना यानी शक्ति को उद्घाटित करके तप करने के लिए सदा तत्पर रहना, वीतराग-मार्ग के प्रति, गुरूजनों के प्रति समर्पित भाव रखते हुए तप करना, कर्म-निर्जरा की भावना से और स्व-पर कल्याण की भावना से तप करना। ऐसा तप ही श्रेष्ठ माना गया है।

अपनी शक्ति को नहीं छिपाना, इसका अर्थ है कि तपस्या से जी नहीं चुराना। कई बार हम लोग शक्ति होते हुए तपस्या नहीं करते। अपनी सामर्थ्य को व्यर्थ गँवा देते हैं। इसलिए कहा गया कि यथाशक्ति तप अवश्य करना ताकि मन, वाणी और शरीर की सामर्थ्य का सदुपयोग हो सके। साथ ही अपनी शक्ति का उल्लंघन न हो यह भी ध्यान रखना चाहिए। क्षमता से अधिक तप करने से संक्लेश होने की संभावना है इसलिए तप करते समय बड़ी सावधानी और ईमानदारी की आवश्यकता है। संतुलन रखना जरूरी है। तपस्या उत्साहपूर्वक हो, प्रसन्नतापूर्वक हो और तपस्या के दौरान विशुद्धि बनी रहे इन सब बातों का ध्यान रखकर तपस्या करने से निर्मलता आती है।

तीसरी बात ध्यान में रखने की है कि तपस्या कर्मो का क्षय करने के लिए हो। '**कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः**'। कर्म का क्षय हो, मन की चंचलता मिटे, मन के विकारी भाव दूर हों और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो- ऐसी तपस्या ही श्रेष्ठ है। रावण ने तपस्या करके अनेक विद्याएँ सिद्ध कीं परन्तु उद्देश्य खोटा था इसलिए सारी तपस्या व्यर्थ चली गई। संसार में सैकड़ों लोग हैं जो सुख-सुविधा की सामग्री पाने के लिए धन-पैसा और सन्तान पाने के लिए तपस्या करते हैं। "**अपत्यवित्तोत्तर लोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते**"। ऐसा आचार्यो ने कहा भी है। तीन तरह की ऐषणा या आकांक्षा होती है पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा।

पुत्रेषणा - पुत्र प्राप्ति की आकांक्षा एवं उसे योग्य बनाने की इच्छा।

वित्तैषणा - धन एकत्र करने की लालसा होना।

लोकैषणा - लोक में ख्याति पूजा लाभ की भावना होना।

इन तीनों की आकांक्षा रखने वाले की तपस्या कल्याणकारी नहीं है।

गंगा के किनारे एक साधुजी तपस्या करते थे। किसी ने उनसे पूछा कि बाबा! आप कितने वर्ष से यहाँ तपस्या कर रहे हैं। बाबाजी बोले-चालीस वर्ष से तपस्या कर रहा हूँ। लोग बड़े खुश हुए कि इतने महान् तपस्वी के दर्शन करने को मिले। अचानक वहीं खड़े एक व्यक्ति ने पूछ लिया कि बाबा! इतनी तपस्या के फलस्वरूप आपने क्या प्राप्त किया? साधुजी ने बड़े गर्व से कहा कि इस गंगा नदी को देख रहे हैं। कितनी बड़ी है। यदि मैं चाहूँ तो इसके पानी पर उसी प्रकार चलकर उस पार जा सकता हूँ जैसे कोई जमीन पर

चलकर रास्ता पार करता है। उस व्यक्ति ने फिर कहा कि आपने इसके अलावा और क्या पाया? साधु बाबाजी थोड़े असमंजस में पड़ गए। बोले- यह क्या कम उपलब्धि नहीं है। व्यक्ति ने कहा - नदी पार करने के लिए तो चार आने पैसे लगते हैं। आपने तपस्या करके जो पाया है वह केवल चार आने पैसे खर्च करके कोई भी प्राप्त कर सकता है। आशय यह है कि तपस्या का उद्देश्य कोई सांसारिक सिद्धि पा लेना नहीं होना चाहिए। तपस्या तो वही श्रेष्ठ है जिससे मन निर्मल हो, चेतना का विकास हो और हम सांसारिक आकांक्षाओं से ऊपर उठ सकें।

आचार्य भगवन्तों ने तपस्या के विविध रूप बताए हैं। हम उन सब रूपों पर विचार कर लेते हैं। अनशन या उपवास करना तप है। सामान्य रूप से उपवास का अर्थ है सभी प्रकार के आहार का त्याग कर देना। उपवास का आध्यात्मिक अर्थ यह भी है कि सभी प्रकार के कषाय-भावों का त्याग करके अपने आत्म-स्वरूप के निकट रहना यानी वीतरागता का अनुभव करना। यह जो हमने अनशन शब्द कहा है उसका अर्थ भूख- हड़ताल (हंगर स्ट्राइक) या लंघन करना नहीं हैं। अनशन का वास्तविक अर्थ है भोजन की इच्छा का त्याग करना। एक भिखारी को दिनभर कभी-कभी भोजन नहीं मिलता। वह दु:खी मन से दिनभर भूखा रह जाता है पर भोजन की इच्छा तो दिनभर बनी रहती है। इसलिए मात्र भूखे रहना अनशन-तप नहीं है। भोजन की आकांक्षा नहीं होना और प्रसन्नतापूर्वक धर्म-ध्यान में लीन रहना यह अनशन-तप है।

भूख से कम भोजन करना और अपनी भोजन की इच्छा को नियंत्रित करना भी तपस्या है। इसे अवमौदर्य या ऊनोदर-तप कहते हैं। इसे उपवास से भी कठिन माना गया है। भोजन सामने रखा है, भोजन करने की इच्छा भी है परन्तु इच्छा को नियंत्रित करके अल्प-आहार ग्रहण करना और भूख की वेदना को समता-भाव से सहन करना, जरा कठिन काम है। इसमें भी उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन प्रकार से ऊनोदर किया जा सकता है। मात्र एक ग्रास आहार ग्रहण करना उत्कृष्ट ऊनोदर-तप है। पूरे भोजन में से एक ग्रास कम कर देना, यह जघन्य ऊनोदर है। एक ग्रास और खाने पर तृप्ति होने वाली थी पर उस एक ग्रास को छोड़ दिया यह भी तप है। मध्यम ऊनोदर के अनेक भेद बन जाएँगे।

आहार के लिए एक, दो घर तक ही जाऊँगा या एक -दो प्रकार की भोजन-सामग्री ही ग्रहण करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करके भोजन की वृत्ति को सीमित कर लेना वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप है। इसमें भोजन, भाजन (यानी बर्तन), दाता और गृह की अपेक्षा वृत्ति चार प्रकार की कही गई है। एक निश्चित प्रकार की भोजन-सामग्री ही ग्रहण करूँगा या एक-दो प्रकार की भोजन-सामग्री लूँगा। यह भोजन सम्बन्धी वृत्ति परिसंख्यान है। सोने, चाँदी आदि किसी धातु विशेष के बर्तन में ही रखी भोजन-सामग्री ग्रहण करूँगा- यह भाजन सम्बन्धी वृत्ति- परिसंख्यान है। दो या तीन दाताओं से आहार लूँगा या किसी दाता-विशेष से आहार लूँगा या हाथ में कलश आदि लिए हुए पड़गाहन करने वाले दाता से ही आहार लूँगा-यह दाता सम्बन्धी वृत्ति-परिसंख्यान कहलाता है। दो-तीन या पाँच-सात घरों तक ही आहार लेने जाऊँगा या किसी गली,

चौराहा, मुहल्ला या घर विशेष तक आहार लेने जाऊँगा- ऐसी प्रतिज्ञा करना गृह सम्बन्धी वृत्ति-परिसंख्यान है।

घी, दूध, दही, नमक, शक्कर और तेल ये भोजन में छह रस माने गए हैं। इनमें से एक, दो या छहों रस का त्याग करके भोजन करना, यह रसपरित्याग नाम का तप कहलाता है। इन रसों के माध्यम से ही भोजन सरस और स्वादिष्ट लगता है। स्वाद को जीतना और नीरस आहार लेना भी तपस्या है क्योंकि इसमें भी इच्छाओं को जीतने का प्रयत्न है। विनोबा के आश्रम में सभी को अस्वाद-व्रत की साधना करने का निर्देश दिया जाता था। नीरस भोजन रूचिकर नहीं लगता, पर नीरस भोजन भी रूचि से ग्रहण कर लेना और समता भाव बनाए रखना-यही तो साधना है। स्वाद के वशीभूत होकर हम हित-अहित भूल जाते हैं, प्रमादी हो जाते हैं। मछली के बारे में कहा जाता है कि वह स्वाद की लोलुपता के कारण ही काँटे में फँस जाती है और अपने प्राण खो देती है। इसलिए स्वाद को जीतने का अभ्यास करना चाहिए।

एक साधु बाबाजी थे। वे भिक्षावृत्ति से अपना पेट भरते थे। जिसने जो दे दिया उसे प्रेम से खा लेते थे। सरस है या नीरस ऐसा विकल्प नहीं करते थे। एक बार उनके मन में दाल-बाटी खाने की इच्छा हो गई। उन्होंने किसी गृहस्थ से आटा और दाल माँगकर नदी के किनारे अपने हाथ से दाल-बाटी बनाई। जब खाने बैठने लगे तो देखा पानी का बर्तन खाली है। मन में विचार आया कि पहले नदी से पानी भर लेते हैं फिर भोजन करेंगे। लेकिन दाल-बाटी खाने की इच्छा तीव्र थी, सोचा पहले दाल-बाटी खा लेते हैं फिर पानी भर लाएँगे। बड़ी असमंजस में पड़ गए बाबाजी। अंत में जब पानी भरकर लाए और खाने बैठे तो मन में बड़ी ग्लानि हुई। मन में स्वयं को धिक्कारा कि साधु हो गए पर लोलुपता बनी हुई है। बाबाजी ने दाल-बाटी नहीं खायी। आस-पास खेल रहे बच्चों को खिला दी और खुद पानी पीकर आगे बढ़ गए। एक व्यक्ति यह सब देख रहा था, उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने बाबाजी से पूछ लिया कि आपने इतने चाव से भोजन बनाया और बिना खाए चल दिए। बाबाजी हँसने लगे और बोले - भाई! यह मन ऐसे ही मानेगा। मैं जीवनभर इसी मन की मानता रहूँ तो साधना कब करूँगा? यह तो सदा मनमानी करेगा। यह घटना हमें मन में उठने वाली अहितकारी इच्छाओं को नियंत्रित करने की प्रेरणा देती है। स्वाद की लोलुपता से बचने की सलाह देती है।

इसके बाद आता है विविक्त-शय्यासन। का अर्थ है एकान्त निर्जन स्थान में दृढ़-आसान लगाकर बैठना, शयन आदि करना। उपसर्ग (विपत्ति) आने पर भी विचलित नहीं होना। वास्तव में यह निस्पृहता, निर्भयता और एकाकीपन की साधना है। इसका अभ्यास करने से लाभ - हानि, सुख-दु:ख, जन्म-मरण आदि सभी अवस्थाओं में हम अकेले हैं, यह सब अवस्थाएँ कर्माधीन हैं। इनमें मुझे समता-भाव रखना चाहिए ऐसी अनुभूति करने का अवसर मिलता है। स्वाधीनता और स्वावलम्बन का अभ्यास बढ़ता है। मन में निराकुलता आती है।

बाह्य-तप के अंतर्गत एक और है कायक्लेश-तप। कायक्लेश का अर्थ मात्र शरीर को कष्ट देना नहीं है। शरीर को कष्ट-सहिष्णु बनाना और शरीर पर आने वाले कष्टों को समता भाव से सहन करना कायक्लेश कहलाता है। शरीर के माध्यम से ही सभी जीवों को सुख-दु:ख की अनुभूति होती है और शरीर के प्रति जिसकी जितनी ज्यादा आसक्ति होती है उसे उतनी ही ज्यादा सुख-दु:ख की अनुभूति भी होती है, ऐसा अपने जीवन में हम स्वयं महसूस करते हैं। इसलिए शरीर को कष्ट-सहिष्णु बनाना और शरीर के प्रति निस्पृह-भाव रखना, यह भी साधना है। इससे शरीर की प्रतिरोधक क्षमता (रजिस्टेंस पावर या टॉलेरेंस) बढ़ती है।

जैसे दूध को गरम करते समय बर्तन स्वयमेव गरम होता है ऐसे ही आत्मा को निर्मल बनाने के लिए शरीर से भी तप करना होता है। या कहें कि शरीर स्वयमेव तपस्या में लीन हो जाता है। छहढाला में हम लोग पढ़ते हैं कि **"आतम-अनात्म के ज्ञानहीन, जे-जे करनी तन करन छीन॥"** आत्मज्ञान के बिना मात्र शरीर को क्षीण करने वाली क्रियाएँ लाभप्रद नहीं हैं। वास्तव में, तपस्या का लक्ष्य शरीर को क्षीण करना नहीं है, तपस्या के द्वारा शरीर कृश हो जावे तो कोई बात नहीं। तपस्या का लक्ष्य तो मन की विकृतियों को क्षीण करना है, मन के विकारों को हटाना है, मन की चंचलता को मिटाना है और आत्मा की सहज स्वाभाविक निर्मलता की अनुभूति करना है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने भगवान कुंथुनाथ की स्तुति करते हुए लिखा है कि भगवान्! आपने अंतरंग-तप की वृद्धि के लिए कठिन से कठिन बाह्य-तप किया। **"बाह्यं तपः परम दुश्चरमा चरंस्त्व, माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्॥"** इससे यह बात समझ में आ गई कि हमें बाह्य-तप इस प्रकार से करना है जिससे अंतरंग में निर्मलता आए।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्ती, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह प्रकार से अंतरंग-तप कहे गए हैं। अपने को अलग-अलग से सबको समझने और समझकर जीवन में अंगीकार करने की भावना रखनी चाहिए। प्रमादवश होने वाले दोषों का परिहार करना प्रायश्चित कहलाता है। इसमें प्राय: शब्द का अर्थ है अपराध और चित्त शब्द का अर्थ है शुद्धि। इसलिए प्रायश्चित का अर्थ अपराधों की शुद्धि करना है। प्रायश्चित किसी को दण्डित करने की प्रक्रिया नहीं है। प्रायश्चित तो चित्त को निर्मल बनाने की प्रक्रिया है। स्वयं को अपराधजनित मलिनता से मुक्त करने की प्रक्रिया है। प्रायश्चित के अंतर्गत आलोचना, प्रतिक्रमण आदि सभी बातें शामिल हैं। गुरु महाराज के समक्ष जाकर बालक के समान सरल-भाव से अपने दोषों का निवेदन करना, पश्चाताप करना, अपराध-बोध होना, अपराध से मुक्त होने की भावना होना आदि सभी बातें प्रायश्चित करते समय होनी चाहिए तभी भावों में निर्मलता आती है। यह सब बातें हालाँकि आसान नहीं हैं पर साधना करने वाला साधक स्वयं को निर्दोष बनाने के लिए, कर्मों की निर्जरा करने के लिए यह सारी प्रक्रिया सहज-भाव से करता है। यही तो तपस्या है।

पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय नाम का तप है। विनय का भाव सहज होना चाहिए। आचार्य महाराज कहते हैं कि विनय अंतरंग में हो तो मुख पर, वाणी में, आँखों में और समूचे व्यवहार में प्रकट होने लगती है। लोक व्यवहार में जो स्वार्थवश विनय प्रकट की जाती है या इन्द्रिय-विषयों की पूर्ति के लिए विनय दिखाई देती है या भय और दबाववश जो विनय की जाती है उसे विनय-तप नहीं कहा जाता। विनय-तप तो वह है जो मोक्षमार्ग के प्रति और मोक्षमार्गी के प्रति उसके जैसे गुणों की प्राप्ति के लिए किया जाता है। मोक्षमार्ग में कर्म-निर्जरा की दृष्टि से जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की विनय की जाती है वही श्रेष्ठ है। वास्तव में, नम्रता का भाव, झुकने की प्रवृत्ति एक तरह से तपस्या ही है। अहँकार को नष्ट करना आसान काम नहीं है। नीति वाक्य है कि **"मानेन तृप्तिःन तु भोजनेन"** व्यक्ति को मात्र भोजन से तृप्ति नहीं मिलती, उसे मान-सम्मान मिले तो ही तृप्ति होती है। इसलिए मान कषाय को जीतकर अँतरंग में विनय-भाव प्रकट करना ही सच्चा विनय-तप है।

पूज्य पुरूषों की सेवा करना वैयावृत्त्य नाम का तप है। सेवा करते समय पूज्य पुरूषों के प्रति श्रद्धाभाव हो और अनके गुणों में अनुराग हो तो ही सही सेवा कहलाएगी। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन सबकी सेवा इनके अनुरूप ही करनी चाहिए और इन सभी की सेवा करते समय इनके जैसे बनने की भावना रखनी चाहिए। वैयावृत्ति करने वाले के अँतरंग में दया, करुणा और अनुकम्पा सहज ही उत्पन्न होती है। आचार्यों ने लिखा है कि जो वैयावृत्ति करता है वह ग्लानि को जीत लेता है, उसे समाधि की प्राप्ति होती है, उसके अन्दर वात्सल्य गुण बढ़ता है और आगामी जीवन में उसे उत्तम संहनन, निरोग शरीर आदि की प्राप्ति होती है।

स्वाध्याय को भी अँतरंग-तप कहा गया है। आलस छोड़कर सम्यग्ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय-नाम का तप है। निर्दोष रूप से अपने आत्म-कल्याण की दृष्टि से जिनवाणी का पाठन करना, शंका-समाधान करना, तत्त्व चिन्तन करना, गाथाओं का सूत्र-वाक्यों का शुद्धिपूर्वक बार-बार पाठ करना और प्राणीमात्र के लिए कल्याणकारी जिनवाणी का उपदेश देना- ये सभी स्वाध्याय करने के उपाय हैं। स्वाध्याय करने से ज्ञान और वैराग्य दोनों बढ़ते हैं, आचरण में निर्मलता आती है और अपनी कमी मालूम पड़ जाती है जिससे उसके शोधन करने में आसानी होती है। अकेले ग्रंथ पढ़ने मात्र से स्वाध्याय-तप नहीं होता। भैया ! ग्रंथ में कही गई आत्म-हितकारी बातों को अपने जीवन में धारण करना ही सच्चा स्वाध्याय है ?

अहंकार और ममकार का त्याग करना व्युत्यर्ग नाम का तप है। देखो, सारा संसार 'मैं' और 'मेरे' की उलझन में उलझा है। सारा झगड़ा 'आई एण्ड माइन' का ही है। इसे छोड़ना भी बड़ी तपस्या का काम है। बाह्य में धन, धान्य आदि वस्तुएँ छोड़ना आसान है पर अंतरंग मैं बैठे ''मैं'' व ''मेरेपन'' के भाव को छोड़ना आसान नहीं है। इसलिए साधना करने वाला साधक सावधानीपूर्वक अहंकार और ममत्व-भाव छोड़ने का अभ्यास करता है। जिससे चेतना में उज्जवलता आती है देहासक्ति घटती है और आत्मा के वास्तविक स्वरूप के प्रति अनुराग बढ़ता है।

अंतरंग-तप में अंतिम है ध्यान। चित्त की एकाग्रता का नाम ध्यान है। या कहें कि समस्त चित्तवृत्ति को रोककर आत्म-स्वरूप में लीन हो जाना ही ध्यान है। अकेले आल्थी-पाल्थी मारकर, आँख मींचकर बैठ जाना ही ध्यान नहीं है। बहुत लोग आत्मज्ञान से रहित होकर अनेक प्रकार से ध्यान की प्रक्रिया करते हैं पर उसे ध्यान-तप नहीं कहा गया। ध्यान-तप तो वह है जिसमें हम आत्मज्ञानपूर्वक अपने कर्मों की निर्जरा करने के लिए चित्त की चंचलता को रोकने का अभ्यास करते हैं। जो इष्ट-वियोग या अनिष्ट-संयोग की पीड़ा से मुक्त है, शारीरिक पीड़ा में समता रखता है, जिसे आगामी सुख-सुविधा की प्राप्ति की चिंता नहीं है और जिसका मन हिंसा, झूठ, चोरी व परिग्रह के प्रति विरक्त है, वास्तव में वही ध्यान-तप कर पाता है। सरल शब्दों में कहें तो यही कहा जाएगा कि जो जितना समतावान है, जिसका मन जितना धर्म में लगा हुआ है वही सच्चा ध्यान-तप कर रहा है। अपने को ऐसा ही ध्यान लगाना है जिससे आत्मा का कल्याण हो और प्राणीमात्र सुखी हो।

तप के द्वारा स्वयं का कल्याण तो होता ही है साथ में परोपकार भी होता है। आज जो भी लोग सच्ची तपस्या करते हैं उनकी तपस्या देखकर हमें भी अपना कल्याण करने की प्रेरणा मिलती है। हमारे आचार्य महाराज अपने आत्म-कल्याण के लिए निरन्तर तपस्या करते रहते हैं और साथ में अपनी शरण में आने वाले हम जैसे पतित जीवों को भी पावन बनाने का मार्ग दिखाते हैं, सच्चे-मार्ग पर चलने का साहस जागृत करते हैं, सच्चे-मार्ग पर चलने वाले साधक को सहारा देते हैं, उसके जीवन को सँभालते और सँवारते हैं। यही तो उनकी तपस्या से होने वाले दूसरे का उपकार है। जो आत्म-कल्याण की भावना से तपस्या करेगा उसके द्वारा दूसरे का उपकार सहज ही होने लगेगा और जो दूसरे के उपकार की भावना रखेगा उसका भी आत्म-कल्याण स्वयमेव होगा।

भाई! तपस्या तो एकमात्र मनुष्य जीवन में ही संभव है और तपस्या के बिना कल्याण होता नहीं है ऐसा विचार करके अपनी शक्ति के अनुरूप जितना बने उतना तप करना चाहिए।

तप करना ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है। जैसे मिट्टी को बड़ी साधना करनी पड़ती है। कुम्हार उसे पैरो से कुचलता जाता है, चाक पर चढ़ाकर घुमाया जाता है और अंत में अग्नि में तपकर जब मिट्टी का घड़ा तैयार हो जाता है तो मंगल-घट कहलाता है, सभी को शीतल जल देता है। मिट्टी का जीवन सार्थक हो जाता है। ऐसा ही हम चाहें तो अपना जीवन सार्थक कर सकते हैं।

आपने आम का वृक्ष देखा होगा। जब वृक्ष में आम लगते हैं तो उनमें खट्टापन रहता है, कड़ापन रहता है और रंग भी हरा-भरा रहता है लेकिन आम जब गर्मी पाकर पक जाते हैं तो उनमें मीठापन, सरसता, कोमलता और उज्जवलता आ जाती है। अपना जीवन भी ऐसा ही है। तपस्या करने से हमारे जीवन में भी परिपक्वता आती है। मीठापन, समरसता, कोमलता और उज्जवलता आती है। तपस्या भले ही कठिन और कठोर मालूम पड़ती है लेकिन तपस्या से जीवन आसान बनता है। सरल और मृदु बनता है। तपस्या करने

वाले के मन, वाणी और शरीर सभी निर्मल हो जाते हैं। तपस्या से मन सहनशील और संवेदनशील बनता है, वाणी में मृदुता आती है और शरीर कष्टसहिष्णु और मजबूत बनता है।

अपने को कर्मों की निर्जरा करने के लिए, स्व-पर कल्याण की भावना रखते हुए देश काल के अनुरूप यथाशक्ति तप करने में सदा तत्पर रहना चाहिए।

मनुष्य संसार के कीचड़ में पैदा हुआ है। कीचड़ में कमल विकसित होने से इस का नाम पंकज अर्थात् कमल सार्थक होता है। पुन: कीचड़ में लौटने के लिए, उसमें लथपथ होने के लिए, सुनने के लिए कदापि उसका जन्म नहीं होता। उसे इससे ऊपर उठना है। उसी तरह मनुष्य को संसार रूपी कीचड़ से निकलने के लिए पुरुषार्थ करना, चहु ओर अपनी भीनी-2 सुगन्ध विकिर्ण करना है।

उत्तम तप से ही उसका सुंदर रंग खिलता है आगे चमक और आत्मिक तेज प्रकाशित होते हैं। कीचड़ में रहकर भी उसका मुख उससे ऊपर उठा रहता है। सूर्य की ओर उन्मुख रहता है। सूर्य के प्रखर ताप से तप कर वह उज्जवल कीर्ति प्रगट करता है। कीचड़ से ऊपर उठे बिना, ताप से तपे बिना, वह खिलता नहीं। कितना सुन्दर और सटीक, यह प्रकृति का रहस्य है।

मुक्ति पाने के लिए आत्मा को तपना पड़ता है ऐसा करने को ही तपस्वी कहा जाता है। स्वेच्छा से वह तपता है। कष्टों को प्रसन्नतापूर्वक सहता है किसी प्रकार की कोई शिकायत नहीं करता। मानव का जीवन एक शुद्ध स्वच्छ दर्पण की तरह है जिसकी सफाई नितान्त आवश्यक है। जो व्यक्ति दर्पण में धूलि के कणों को जमने देते हैं फिर उनका दर्पण, दर्पण नहीं रह जाता? परमात्मा का बिम्ब उस पर बिम्बित नहीं होता। अत: दर्पण की स्वच्छता के लिए धूल हटाना आवश्यक है। यह तपस्या से ही सम्भव है। दर्पण यदि स्वच्छ है तो परमात्मा का प्रतिबिम्ब अवश्य दिखाई देगा।

कर्म कठोर गिरावन को निज, शक्ति समान उपोषण कीजे।
बारह भेद तपे सुन्दर नर, पाप जलांजलि काहे न दीजे।।
भाव धरो तप घोर करो नर, जन्म सदा फल काहे न लीजे।
'ज्ञान' कहे तप जे नर पावत, ताके अनेकहि पातक छीजे।।

कठोर कर्मों को गिराना अर्थात् क्षय करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार व्रत, तप उपवास आदि करना चाहिए। बारह प्रकार के तपों को भली प्रकार पालन कर पाप को जलाँजलि क्यों न दे दी जाय। भाव सहित घोर तप करके नर पर्याय का वास्तविक फल अर्थात् मोक्ष पद क्यों नहीं प्राप्त किया जाय? ज्ञानी जन कहते हैं कि जो मनुष्य भाव सहित तपों को तपता है उसके पापों का हरण हो जाता है। इस प्रकार नर पर्याय को सफल बनाना ही उसकी सार्थकता है।

जो तप तपै खपै अभिलाषा, चूरै कर्म शिखर गुरू भाषा।

गुरु कहते हैं कि जो प्राणी तप तपता है, उसकी सभी इच्छायें नष्ट हो जाती हैं और उसके सभी कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं।

भारत भूमि का एक-एक कण तपस्वियों और महर्षियों के पद रज से पुनीत बन चुका है। तप की प्रशंसा केवल महर्षियों अथवा योगियों द्वारा ही नहीं की गई है, अन्य पुरुषों ने भी तप की यश गाथा गायी है?

भोगासक्त देवों ने भी इस साधना की प्रक्रिया की प्रशंसा की है। देव ऊपर से नीचे आते हैं तो पूजा कराने के लिए नहीं आते। उनका पूजन कीर्तन करने के लिए आते हैं जो नर से नारायण बनने की साधना में संलग्न हैं। वे मन में सोचते हैं कि बड़ी गलती हुई जो ऊपर जाकर अटक गये। साधना ही छूट गयी।

तप दोषों की निवृत्ति के लिए परम आवश्यक है। मिट्टी भी अग्नि की तपन को पार कर पात्र का रूप धारण करती है, तभी आदर प्राप्त कर पाती है। पहले कष्ट फिर लाभ ही होता है। नर पर्याय एक जंक्शन हैं। प्रत्येक दिशा में यहाँ से लाईन जाती है। यहाँ से नरक, स्वर्ग, तिर्यञ्च योनि को प्राप्त किया जा सकता है और इसी पर्याय से परमात्मा पद भी प्राप्त किया जा सकता है।

यह शरीर निगोदिया जीवों का पिण्ड है, अशुचि है, घिनौना है, असार है। यह शरीर दु:ख का कारण है, अनेक दु:ख उत्पन्न करता है, अनित्य है, अशुचि है एवं कृतघ्न के समान है। करोड़ों उपकार करने पर भी जैसे कृतघ्न अपना नहीं होता है उसी प्रकार शरीर की भी अनेक प्रकार से सेवा उपकार करने पर भी वह अपना नहीं होता है। अत: चाहे जैसे उपायों से इसे पुष्ट करना उचित नहीं है।

शरीर के बिना रत्नत्रय धर्म नहीं होता है। रत्नत्रय धर्म बिना कर्मों का नाश नहीं होता इसलिए अपने प्रयोजन के लिए विषयों में आसक्ति रहित होकर, सेवक के समान उसको योग्यभोजन देकर, यथाशक्ति जिनेन्द्र के मार्ग से विरोध रहित काय क्लेशादि करना योग्य है। तप किये बिना इन्द्रियों के विषयों से लोलुपता नहीं घटती हैं। तप किये बिना तीन लोक को जीतने वाले काम को नष्ट करने की सामर्थ्य नहीं होती है। तप बिना आत्मा को अचेत करने वाली निद्रा नहीं जीती जा सकती है। तप बिना शरीर का सुखिया स्वभाव नहीं मिटता है। तप के प्रभाव के द्वारा जो शरीर को वश में रखा होगा उसे क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि परिषहों के आने पर कायरता उत्पन्न नहीं होगी। संयम धर्म से चलायमान नहीं होगा। तप कर्मों की निर्जरा का कारण है। अत: तप करना श्रेष्ठ है।

अपनी शक्ति को छिपाये बिना जिस प्रकार जिनेन्द्र के मार्ग में विरोध रहित हो उस प्रकार तप करो। तप नामक सुभट की सहायता के बिना श्रद्धान, ज्ञान, आचारणरूप धन को क्रोध, प्रमाद आदि लुटेरे एक क्षण में लूट लेगें तब रत्नत्रय सम्पत्ति से रहित होकर चतुर्गतिरूप संसार में दीर्घकाल तक भ्रमण करोगे। सभी

तपों में प्रधान तप दिगम्बरपना है। कैसा है दिगम्बरपना? घर के ममतारूप फंदे को तोड़कर, देह की समस्त सुखियापन को छोड़कर, अपने शरीर में शीत, उष्ण, गर्मी, वर्षा, वायु, डांस, मच्छर, मक्खी आदि की बाधा को जीतने के सन्मुख होकर, कोपीनादी समस्त वस्त्रों का त्याग कर, दश दिशारूप ही जिसके वस्त्र हैं ऐसा दिगम्बरपना धारण करना अतिशयरूप है। जिसके स्वरूप को देखने सुनने पर बड़े-बड़े शूरवीर कांपने लगते हैं, शक्ति को प्रकट करने वालों यदि संसार के बंधन से छूटना चाहते हो तो जिनेश्वर देव संबंधी दीक्षा धारण करो। उस तप से शरीर का सुखियापन नष्ट हो जाता है। उपसर्ग, परिषह सहने में कायरता का अभाव हो जाता है। जिससे स्वर्गलोक की रंभा, तिलोत्तमा भी अपने हावभाव, विलास, विग्रह आदि द्वारा मन को काम विकार सहित नहीं कर सकती है, ऐसे काम को नष्ट करना तप है। इन्द्रियों कें विषयों में प्रवर्तने का अभाव हो जाना तप है। दोनों प्रकार के परिग्रह में इच्छा का अभाव हो जाना तप है। निर्जन वन में, पर्वतों की भयंकर गुफा में, जहाँ भूत राक्षस आदि की छायाएं विचरण करती हों, सिंह, व्याघ्र आदि के भयंकर शब्द हो रहे हों, करोड़ों वृक्षों से अंधकार हो रहा हो, सर्प, अजगर, रीछ, चीता इत्यादि भयंकर दुष्ट तिर्यंचों का आना जाना हो, ऐसे महाविषम स्थानों में भय रहित होकर ध्यान-स्वाध्याय में निराकुल होकर रहना तप है। आहार के लाभ अलाभ में समभाव रखना, मीठा, खट्टा, कडुआ, कषयला, ठंडा, गरम, सरस, नीरस भोजन, जलादी में लालसा रहित सन्तोष रूप, अमृत का पान करते हुए आनंद में रहना, तप है। दुष्ट देव, दुष्ट मनुष्य, दुष्ट तिर्यञ्चों द्वारा किये गये घोर उपसर्गों के आने पर कायरता छोड़कर कम्पायमान नहीं होना, तप है। जिससे चिरकाल का संचित किया हुआ कर्म निर्जरित हो जाये, वह तप है। कुवचन बोलने वालों में, निंद्य दोष लगाने वालों में, ताड़न-मारन आदि में, द्वेष बुद्धि में, कलुषित परिणाम नहीं करना तथा स्तुति, पूजनादि करने वालों में राग भाव का उत्पन्न नहीं होना, तप है।

पाँच महाव्रतों को धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, पाँच इन्द्रियों का निरोध करना, छह आवश्यकों को यथा समय करना, अपने सिर तथा दाढ़ी, मूंछ के बालों को अपने हाथ से, उपवास के दिन, लोंचना तप है। दो माह पूरे हो जाने पर उत्कृष्ट केशलोंच होता है। तीन माह पूरे हो जाने पर मध्यम, चार माह पूरे हो जाने पर जघन्य केशलोंच होता है। वह भी तप है। शीतकाल, ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल में नग्न रहना, यावज्जीवन, स्नानादि नहीं करना, जमीन पर शयन करना, अल्पनिद्रा लेना, दाँतों का अंगुली से भी मँजन नहीं करना, एक बार खड़े-खड़े ही रस-नीरस स्वाद छोड़कर थोड़ा भोजन करना आदि इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणों को अखण्ड पालन करना भी बड़ा तप है। इन मूलगुणों के प्रभाव से घातिया कर्मों का नाशकर जीव केवलज्ञान प्राप्तकर मुक्त हो जाते है।

यह तप धर्म का अंग है। तप की निर्विघ्न प्राप्ति के लिए इसका स्तवन पूजन करके महान् अर्घ उतारण करो। तप के द्वारा मोक्ष महल तक आसानी से पहुँचा जा सकता है।

जैसे कढ़ाई में पूड़ी छटपटाती है उसी प्रकार यह मानव सांसारिक दु:खों से छटपटाता है परन्तु तप द्वारा ही इसका निवारण होता है। जिस प्रकार जब लोहा वक्र हो जाता है तो उसको सीधा करने के लिए तपना पड़ता है उसी प्रकार इन्द्रिय विषय भोगों और कषायों की निवृत्ति के लिए आत्मा को तपाना ही एक मात्र साधन है। आचार्य कहते हैं कि इच्छाओं का निरोध करना तप है। इच्छाओं का निरोध वानर नहीं, नर कर सकता है, वानर तो तिर्यञ्च है। नारकी और देव भी इच्छाओं का निरोध नहीं कर सकते हैं। एक मनुष्य पर्याय ही ऐसी है जहाँ पर नारायण बनने का खेल खेला जा सकता है।

तपस्या गृहस्थ अवस्था में भी होती है। जैसे वारिषेण और सेठ सुदर्शन घर में भी तप करते थे। बहुत से प्राणियों ने घर में रहकर तप किया। तपस्वी यह विचार नहीं करते कि शरीर क्षीण हो रहा है अथवा जल रहा है। जैसे कारखाना लगवाते हैं, मशीन फिट करते हैं बाद में मशीन चलाने पर वह घिस जायेगी, क्या ऐसा अभिप्राय रखकर माल बनाना बन्द कर देते हैं? घिसे तो घिसे, टूटे तो टूटे, माल तो बनाना ही है। मशीन है किसलिए, टूट जायेगी मरम्मत करवा लेंगे, यह अभिप्राय रहता है। आप लोग शरीर को इसे मशीन न समझकर इसे अन्य समझते हैं। इसलिए इसके घटने, बढ़ने, टूटने अर्थात् रोग, मृत्यु से डरते हैं। पर योगी इसे मशीन समझते हैं। जिसे उन्होंने शांति रूपी माल तैयार करने के लिए लगाया है। वे उसके घिसने या टूटने अर्थात शान्ति के काम से कुछ सहायता के योग्य है तब तक उसकी मरम्मत करके इसे भोजन आदि आवश्यक पदार्थ देकर इससे अधिक काम लेते हैं। जिस दिन शरीर मरम्मत योग्य न रहेगाा अर्थात् बुढ़ापे से अत्यन्त जर्जरित हो जायेगा उस दिन इसे छोड़ देना अर्थात् समाधिमरण ले लेना। नया शरीर फिर मिल जायेगा। उससे पुन: शान्ति का माल तैयार करने का धन्धा करना। यह है योगी के तप का प्रयोजन और शरीर होने का यथार्थ फल। आप तप से क्यों घबराते हैं अगर पुरुषार्थ करना सीखो तो तुम भी धीरे-धीरे योगी बन सकते हो। इसको निम्न उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है- पहले दिन एक व्यापारी का पुत्र माल लाने के लिए दिशावर जाता है, उस दिन उसके हृदय में कुछ घबराहट होती है एवं कुछ झिझक सी होती है। कुछ भय सा होता है वह सोचता है सौदा कैसे करूँगा? कहाँ भोजन करूँगाा, प्रबन्ध बने कि न बने। अगर भाव में लुट गया तो क्या होगा, खैर जाना तो पड़ेगा ही, व्यापार तो प्रारम्भ करना ही है। पहले सौदे में नुकसान भी रहा तो भी कोई बात नहीं इससे कुछ सीख जाऊँगा। धन हानि भले ही हो जाये परन्तु अभ्यास लाभ तो हो ही जायेगा इत्यादि विकल्पों के जाल में उलझता वह चल देता हैं। माल ले आता है। यदि दूसरों की अपेक्षा कुछ ज्यादा दाम दे भी आया तो कोई चिन्ता नहीं, पहला अवसर ही तो था। दूसरी बार जायेगा तो वह गलती नहीं करेगा। इसलिए दूसरी बार झिझक व भय नहीं होता है। अत: दूसरी बार वह धोखा नहीं खाता है। खाता भी है तो कम और इसी प्रकार उत्तरोत्तर तीसरी व चौथी बार अधिक-अधिक उत्साह के साथ जाता है और वह एक दिन कुशल व्यापारी बन जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी ऐसा क्रम है कि जीव पहले छोटे से छोटा त्याग करता है।

तप करते यौवन गयो, द्रव्य गयो मुनि दान।
प्राण गये सन्यास में, तीनों गये न जान।।

तपस्या करते यौवन अवस्था व्यतीत हो गयी, धन मुनि-तपस्वियों, त्यागियों पर दान में खर्च हो गया और समाधि के साथ प्राण चले गये तो उस यौवन, धन तथा प्राणों का चला जाना लाभदायक है। अर्थात् उसे हानिकारक नहीं समझना चाहिए।

तप की महिमा जिनागम में कही गई, पद-पद पर गाई गई है। भगवती आराधना में लिखा है कि जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो निर्दोष तप से पुरुष प्राप्त ना कर सके। जैसे सोने में लगा हुआ मैल आग में सोने को तपाने से दूर हो जाता है उसी प्रकार अनादिकाल से आत्मा के ऊपर जो मलिनता चढ़ी हुई है वह तपस्या की आग से नष्ट हो जाती है। उत्तम तप ही सब प्रकार के सुख देने वाला है। कहा भी है- **"जो तप तपै खपै अभिलाषा, ते जन इहभव परभव सुख चाखा।"**

अर्थात् जो अभिलाषायें छोड़कर तपस्या करता है, उसको इस लोक एवँ परलोक में सुख की प्राप्ति होती है। आत्मकल्याण के इच्छुक जनों को अपनी शक्ति के अनुसार तप अवश्य करना चाहिये।

"जं सक्कई तं कीरइ, जं च ण सक्कई तहेव सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो, पावई अजरामर ठाणं।।"

अपनी शक्ति को न छिपा कर सभी को तपस्या करनी चाहिए। यदि शक्ति न हो, तो पूर्णरूप से श्रद्धान करना चाहिए। जो मनुष्य तप का श्रद्धान भी करते हैं, वे जीव अजर-अमर पद को प्राप्त करते हैं। संयम की साधना तपस्या से होती है। स्वेच्छापूर्वक कष्ट को सहन करना तपस्या है। कष्टों और कठिनाईयों को सहन किये बिना संयम की साधना संभव नहीं है। भगवान महावीर जन्म से ही अवधिज्ञानी थे। दीक्षा ग्रहण करते ही उन्हें मन: पर्यय-ज्ञान भी प्राप्त हो गया था। वे जानते थे और दुनियाँ को पता लग गया था कि वे तीर्थंकर हैं, उन्हें मोक्ष अवश्य प्राप्त होगा। फिर भी उन्होंने दीक्षा लेकर बारह वर्ष तक घोर तप किया। अत: आत्मकल्याण के लिये तप करना अनिवार्य है।

सभी तपों में प्रधान तप तो दिगम्बरपना है। यदि संसार के बंधन से छूटना चाहते हो तो दिगम्बर दीक्षा धारण करो। उस तप से शरीर का सुखियापना नष्ट हो जाता है, उपसर्ग-परीषह सहने में कायरता का अभाव हो जाता है। मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुणों का निर्दोष पालन करना बहुत बड़ा तप है। रत्नत्रय के साथ बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार के तपों का आलंबन लेकर साधना करने वाला ही मुक्ति को प्राप्त करता है। यही एक मुक्ति का मार्ग है। अत: सभी को प्रमाद को छोड़कर अपनी शक्ति-प्रमाण इन बारह तपों को करने का अभ्यास शुरु कर देना चाहिये, जिससे एक दिन पूर्ण तपस्वी बनकर मुक्ति को प्राप्त करें। जिन्होंने भी तप के मार्ग को अपनाया, वे नर से नारायण बने। बिना तप के आज तक किसी को भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हुई।

तपश्चरण का एक प्रयोजन यह भी रहता है कि कदाचित् कर्मों का उदय ऐसा आये कि अनेक दिनों तक भोजन न मिल सके अथवा अनेक व्याधियाँ, विपत्तियाँ आ जायें, तो उन विपत्तियों के समय में यह साधक ज्ञान से विचलित न हो जाये, क्योंकि इसने आराम में रहकर ज्ञान का अर्जन किया है, सो कदाचित् कभी कष्ट आ जाये तो यह बहुत कुछ सम्भव है कि यह अपने ध्येय से चलित हो जाये। तो मैं कभी उपसर्ग, उपद्रवों के आने पर अपने ध्येय से विचलित न हो जाऊँ, इसके अर्थ तपश्चरण का उद्यम करना अनिवार्य है।

तप करने का साक्षात् लाभ तो यह है कि जिस समय शक्ति अनुसार तपश्चरण किया जाता है, उस समय इसकी भावना पवित्र रहती है। कायक्लेश की ओर उपयोग नहीं रहता, किन्तु स्वतः ही सहज ऐसी वृत्ति जगती है कि जिससे यह अपने स्वभाव की ओर ही प्रवृत्त होता है। सो गंदे विचार, खोटे ध्यान, ये सब समाप्त हो जाते हैं तपश्चरण में। जिन ज्ञानियों का उद्देश्य निर्मल है, मोक्षमार्ग के अनुकूल उद्देश्य जिसने बना लिया है, उनका यह तपश्चरण समता और शांति का साधक होता है। जिसे मोक्षमार्ग के रहस्य का पता नहीं है, व्रत, तप आदिक भी कर रहा हो, किन्तु मैं क्या हूँ, इसका जिसने ठीक भान नहीं किया है, ऐसे पुरुषों को उन तपश्चरणों के करने पर या तो यश के पोषण का भाव रहेगा या पद-पद पर क्रोधादिक कषायें जगेंगी। इस कारण अपना विशुद्ध उद्देश्य बना लेना सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।

एक बार एक राजा के यहाँ दो चित्रकार आये। मान लो दो भिन्न-भिन्न देशों के दो चित्रकार थे। जैसे नाम ही रख लो कोई एक जापान का, एक जर्मन का। दोनों चित्रकारों ने राजा से कहा कि हम लोग बड़े सुन्दर चित्र बनाते हैं। आप अपने किसी महल में या हाल में बनवाकर हमारी चित्रकला देखें। तो राजा ने एक बड़े हाल में चित्रकारी के लिए दोनों को कहा और यह भी कहा कि जिसका चित्र बहुत अच्छा होगा उसको खूब पारितोषिक मिलेगा। एक भींत जापानी चित्रकार को दी और एक भींत जर्मनी चित्रकार को दी। उन दोनों के बीच में एक काठ का पर्दा लगा दिया जिससे वे चित्रकार एक दूसरे की कला को न देख सकें। अब मानों जापानी चित्रकार ने रंग-बिरंगे बहुत से बाह्य साधन जुटाये और छह महीनों तक बहुत-बहुत, सुन्दर-सुन्दर चित्रों को रंगना प्रारम्भ कर दिया और इस जर्मनी चित्रकार ने साफ करने वाले मसाले, जैसे पहिले कौड़ी का चूना होता था, उससे भींत को खूब रगड़ना शुरु किया। वह 6 माह तक भींत को रगड़ता ही रहा और भींत को साफ उजला स्वच्छ चमकदार बना दिया। जब 6 माह व्यतीत हो गये तो राजा ने कहा कि अब हम तुम दोनों के चित्रों को देखेंगे। ठीक है महाराज! चित्रों को देखिये और उनका मुकाबला करिये कि कौन-सा चित्र उत्तम है। बीच का पर्दा हटवा दिया गया। अब राजा चित्र देखने लगा तो जिस भींत पर चित्र लिखे गये थे, रंगे गये थे, उसे देखा तो ऐसे ही रूखे, काँतिहीन सब चित्र नजर आये। जब उस दूसरी भींत पर नजर डाली तो वह भींत चमकीली थी, उसमें उस पहली भींत के सारे चित्र प्रतिबिम्बित हो गये। राजा उसको देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उस चित्र बनाने वाले को बहुत-सा पुरस्कार दिया।

यों ही समझो भैया! कि इस जीवन में हम धर्म की चित्रकारी कर रहे हैं, वर्षों हो गये, करते जा रहे हैं, पर इस चित्रकारी में सर्वप्रथम यह ध्यान देना चाहिए कि हम अपनी आत्मा को शुद्धभावना से, ज्ञानभावना से, स्वरूप परिचय से, स्वतंत्रता के निर्णय से बिल्कुल स्वच्छ बना डालें, जिस उपयोग में कषायों का रंग न जमें, जिस उपयोग मे गर्व न ठहरे, विपरीत आशय न आये, परके प्रति ममता न जगे। बिल्कुल स्वच्छ उपयोग बना दिया जाये, तो फिर थोड़ा भी कष्ट आप करोगे, धर्मपालन की चेष्टा करोगे, प्रवृत्ति करोगे, तो वे सब कई गुणा फल देंगे। एक उपयोग को स्वच्छ बनाये बिना धर्मपालन का भी फल न मिलेगा और व्यर्थ में समय भी गँवा दिया जायेगा। वह मात्र थोड़ा पुण्य का कार्य रह जायेगा। लोग सोचते हैं कि हम जितनी चालाकी से चलेंगे, जितना हम दूसरों की आँख में धूल डालेंगे, उतना ही अधिक वैभव का कार्य साध लेंगे। सच पूछों तो वह पुरुष उतना ही अधिक टोटे में रहता है। कारण यह है कि जब मूल में भावना ही अशुद्ध है तो उस अशुद्ध भावना के निमित्त से पापकर्म का बंध होगा। पुराने पाप उदीरणा में आकर सामने आयेंगे। पुण्य का रस घट जायेगा। क्या तत्त्व पाया?

शुद्ध स्वच्छ उपयोग रहे तो धर्मरस की प्राप्ति होगी। अपने उपयोग को स्वच्छ, सत्य, प्रमाणिक बनायें तो उससे हित की सिद्धि है। ये सब तप हैं। उपसर्गों का विचलित न होना, अपने मोक्षमार्ग के उद्देश्य में दृढ़ रहना, उपद्रवों का सामना कर सकना और जान बूझकर भी अनेक कायक्लेश करना, ये सब हैं शक्तितस्तप।

एक बार अकबर ने बीरबल से कहा- बीरबल! तुम्हें काला कोयला सफेद कर दिखाना है। बीरबल तो जरा सकते में आ गये। कोयला और सफेद? असंभव-सी बात लगी। वह सोचते रहे कि यह काला-कलूटा कोयला सफेद कैसे होगा? बीरबल बोले-हुजूर! कुछ समय दिया जाये, फिर कोयले को सफेद करके दिखाऊँगा। बीरबल के निवेदन पर उन्हें एक सप्ताह का समय दे दिया गया। सभी सोचने लगे कि बीरबल शायद पानी व साबुन से कोयला सफेद करेंगे। सातवें दिन बीरबल दरबार में पहुँचे। बीरबल की चतुराई देखने के लिए लोगों का जमघट लग गया। बीरबल ने काले कोयले को सबके सामने रखा और उसमें आग लगा दी। कोयला धू-धू करके जलने लगा और जलकर सफेद राख बन गया। यह देखकर सभी ने बीरबल की प्रशंसा की।

जिस प्रकार कोयले को सफेद करने का उपाय संसार में अग्नि में जलाने के अलावा दूसरा नहीं है, उसी प्रकार कर्मों से मलिन आत्मा को शुद्ध व पवित्र बनाने का उपाय उत्तम तप के अलावा दूसरा कोई नहीं हैं अत: हम सभी को इन बारह प्रकार के तपों को अत्यन्त कल्याणकारी जानकर अवश्य ही करना चाहिये। जैसे सोने में लगा हुआ मैल सोने को आग में तपाने से दूर हो जाता है, उसी प्रकार अनादिकाल से आत्मा के ऊपर जो कर्मों की मलिनता लगी हुई है, वह तप के माध्यम से दूर हो जाती है।

मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता है, पर बिना क्रिया किए मिट्टी घड़ा नहीं बन सकती। दुग्ध में घृत है, लेकिन घृत प्राप्त करने के लिये प्रक्रिया पूरी करनी पड़ेगी। बिना प्रक्रिया के दुग्ध से घृत संभव नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा में परमात्मा की शक्ति मौजूद है, यानी आत्मा में परमात्मा विराजमान है, पर जैसे बिना छैनी के पाषाण से प्रतिमा नहीं निकलती है, वैसे ही बिना तप के आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती। जो तप जाता है, वह चमक जाता है। यदि स्वर्ण-पाषाण को तपाया नहीं जाए, तो स्वर्ण प्राप्ति संभव नहीं। स्वर्ण-पाषाण को तपाने से ही स्वर्ण की प्राप्ति होगी।

गुरु कहते हैं कि जो प्राणी तप करता है उसकी सभी इच्छायें नष्ट हो जाती हैं और उसके सभी कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं। किसी ने लिखा है -

नारायण-नारायण धन्य है नर साधना, इन्द्र पद ने की है जिसकी शुभाराधना।

भोगासक्त देवों ने भी इस साधना की प्रक्रिया की प्रशंसा की है। देव ऊपर से नीचे आते हैं तो पूजा कराने के लिए नहीं आते। उनका पूजन कीर्तन करने के लिए आते हैं जो नर से नारायण बनने की साधना में संलग्न हैं। वे मन में सोचते हैं कि बड़ी गलती हुई जो ऊपर जाकर अटक गये। साधना ही छूट गयी।

तप दोषों की निवृत्ति के लिए परम आवश्यक है। मिट्‌टी भी अग्नि की तपन को पार कर पात्र का रूप धारण करती है तभी आदर प्राप्त कर पाती है। पहले कष्ट फिर लाभ ही होता है। जिस भूतल पर हम रहते हैं, यह तो नर पर्याय है यह एक जंक्शन है प्रत्येक दिशा में यहाँ से लाईन जाती है। यहाँ से नरक, स्वर्ग, या तिर्यंच योनि को प्राप्त किया जा सकता है और इसी पर्याय से परमात्म-पद भी प्राप्त किया जा सकता है।

अपनी शक्ति को छिपाये बिना, जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान के मार्ग से विरोध रहित हो, उसी प्रकार तप करो। तप नामक सुभट की सहायता के बिना अपने श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप धन को, क्रोध, प्रमाद आदि लुटेरे एक क्षण में लूट लेंगे, तब रत्नत्रय रूप संपत्ति से रहित होकर चतुर्गतिरूप संसार में दीर्घकाल तक भ्रमण करना पड़ेगा। अत: सभी को अपनी शक्ति अनुसार तप अवश्य करना चाहिए। तप के द्वारा दूर रहने वाला तथा अत्यन्त परोक्ष दिखने वाला मोक्ष भी तुम्हारे निकट आ जाता है।

संत साधना करके समता का रस पान किया करते हैं।
संत मूक रहकर भी मोक्षमार्ग का उपदेश दिया करते हैं।
शक्तिस: तप करने वाले संत अपने जीवन में ''विशद''
सम्यक् व्रत, तपके द्वारा संवर और निर्जरा कर लिया करते है।

******

8

साधु-समाधि भावना

मरणोपसर्ग-रोगादिष्टवियोगादनिष्टसंयोगात्।
न भयं यत्र प्रविशति साधु-समाधिः स विज्ञेयः ॥८॥

मरण, उपसर्ग, रोग, इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग से जहाँ किसी प्रकार का भय नहीं होता है उसे साधु-समाधि जानना चाहिए।

काल अनादी से मिथ्यावश, जन्म मरण पाया।
निज शक्ती को भूल जगत् में, प्राणी भरमाया॥
आधि-व्याधि अरु पद उपाधि में, नर जीवन खोया।
मोह की मदिरा पीकर भारी, कर्म बीज बोया॥
जन्म मरण होता है तन का, चेतन है ज्ञाता।
कर्म करेगा जैसा प्राणी, वैसा फल पाता॥
चेतन का ना अंत है कोई, ना ही आदी है।
श्रेष्ठ मरण औ सत् अनुभूती, साधु समाधि है॥

हम लोग रोज-रोज निरन्तर अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए विचार कर रहे हैं। यदि हम सचमुच अपने जीवन में सद्गुणों को प्राप्त करना चाहते हैं तो जरूरी है कि हम गुणवानों की संगति में बैठें, सद्विचार करें और यथाशक्ति अपने जीवन में सद्गुण लाएँ। हम अपने जीवन में यदि कोई एक सद्गुण लाने का प्रयास करते हैं तो मानिए, वह एक सद्गुण भी हमारे भीतर अनेक सद्गुणों को लाने में कारण बन जाता है। फिर गुणवत्ता सेल्फ-मोटीवेटेड होने लगती है। जैसे जीवन में एक बुराई आकर सारे जीवन को पतन की ओर, बुराईयों की ओर ले जाने में कारण बन जाती है। ऐसा ही एक सद्गुण भी जीवन को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे सकता है। पर शुरुआत हमें करनी होगी।

किसी भी काम के लिए शुरुआत में साहस होना बहुत जरूरी है और काम को पूरा करने के लिए दृढ़ता बहुत जरूरी है। मैं अपने जीवन में सद्गुणों को ला सकता हूँ या सद्गुणों से अपने जीवन को अच्छा

बना सकता हूँ। ऐसा साहस या आत्मविश्वास हमें पहले जागृत करना होगा फिर पूरी दृढ़ता के साथ अपने लक्ष्य को पाने के लिए जुट जाना होगा। हो सकता है वातावरण प्रतिकूल मिले और लक्ष्य को पाने में देर लग जाए, शायद पूरा जीवन भी लग जाए, पर हमें अपने लक्ष्य को नहीं भूलना है। लक्ष्य की ओर दृष्टि सदा बनी रहे - यह भी कम बात नहीं है।

एक राजकुमार नाराज होकर राज्य से चला गया। बहुत दिनों तक नहीं लौटा। राजकुमार को खोजते-खोजते राजकुमार मिल गया पर उसने वापिस लौटने से इंकार कर दिया। राजा ने मंत्री को भेजा और कहलवाया कि तुम्हें लौट आना चाहिए। राजकुमार कुछ नहीं बोला। मंत्री खाली हाथ लौट गया। राजा ने फिर से मंत्री को भेजा और कहलवाया कि राजा तुम्हें बहुत-बहुत याद करते हैं। उन्होंने तुम्हें बुलाया है। राजकुमार ने कहा कि यदि राजा स्वयं आएँ तो मैं चल सकता हूँ। राजा को सारी बात मालूम पड़ी। उन्होंने मंत्री से कहलवाया कि यदि राजकुमार एक कदम मेरी ओर रखे तों मैं सारा रास्ता चलकर आने को तैयार हूँ। राजकुमार ने स्वीकृति दे दी। राजा आया और राजकुमार ने आगे बढ़कर अभिवादन किया। रास्ते में राजा से उसने पूछा कि जब आप ही सारा चलकर मुझे लेने आने को तैयार थे तो मुझे एक कदम आगे आने को क्यों कहा? राजा ने कहा कि तुम्हारा एक कदम आगे आना इस बात की सूचना है कि तुम भी मुझसे मिलने को उत्सुक हो। ऐसा ही है हमारा जीवन। अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए हमें भी पूरी उत्सुकता के साथ एक कदम अच्छाई की ओर बढ़ाना होगा, फिर तो मानो अच्छाई आपोआप हमारे पास, हमारे जीवन में आती चली जाएगी।

सद्‌गुणों का सम्मान करना, गुणवानों की सँभाल करना। उन्हें आदर देना, उनका समर्थन करना, उनका मोरल सपोर्ट करना और उनके अनुकूल वातावरण निर्मित करना, अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए इतनी शुरूआत तो हमें करनी होगी। **"मुनिगण तपः संधारणं समाधि।"** लौकिक उपकार करने वाले सैंकड़ों लोग दुनिया में है परन्तु अपना आत्म-कल्याण करते हुए प्राणी मात्र के कल्याण की भावना रखने वाले साधुजन अल्प है। ऐसे साधुजनों की तपस्या की सराहना करना और उनकी तपस्या में सहयोगी बनना, यही कहलाती है साधु-समाधि। जैसे कीमती चीजों से भरे भण्डार में आग लग जाए तो उन कीमती चीजों को बचाने के लिए आग को शान्त किया जाता है। ऐसे ही अनेक प्रकार के व्रतों से सम्पन्न तपस्या करने में लीन उपकारी मुनिजनों पर किसी कारण से विघ्न आ जाए तो उसका शमन करना, उसे दूर करना साधु-समाधि है।

साधुजनों का परोपकार ही धन है। वे बिना स्वार्थ के जगत् हितैषी हैं। ऐसे साधु बड़े पुण्य से मिलते हैं। इसलिए उनकी साधना निर्विघ्न चलती रहे। ऐसा सदा प्रयास करना। अपने से, मान लो कठिन साधना नहीं होती तो कम से कम जो साधना में लीन हैं उसका ध्यान रखना, उनके रत्नत्रय रूप गुणों की रक्षा करना, यह तो हमारा कर्त्तव्य है। ऐसा भाव रखने से हमारे भीतर भी साधना करने की सामर्थ्य आती है। एक बात और इसी के साथ जुड़ी हुई है कि अपने परिणामों की सँभाल करना।

समाधि का अर्थ सल्लेखना भी है। सल्लेखना जीवन भर की तपस्या का फल है। सल्लेखना में समता-भाव से देह का परित्याग होता है। साधु के जीवन में सल्लेखना का अवसर उपस्थित होने पर उसे अच्छे से सम्पन्न कराने में मदद करना या उसमें आने वाली बाधाओं को दूर करना यह भी साधु-समाधि भावना है। आशय यही है कि जीवन के अंत तक अपनी तपस्या को, अपने व्रत संयम को निर्बाध रूप से बनाए रखना। जीवन के अंत में या विपत्ति आदि आने पर व्रत संयम छूट न जाए, ऐसी सावधानी रखना।

एक युवक नदी में स्नान कर रहा था। अचानक पैर फिसल गया और वह नदी में डूबने लगा। एक सज्जन ने देख लिया। जल्दी से जाकर उन्होंने उसे बाहर निकाला। जब युवक थोड़ा सचेत हुआ तो उसने सज्जन पुरुष को धन्यवाद दिया। सज्जन बोले- जीवन भर यह उपकार भले ही याद न रहे पर इतना अवश्य याद रखना कि तुम्हारा जीवन बचाने लायक था इसलिए बचाया गया। ऐसा ही भाव हमारे भीतर व्रत-संयम की सँभाल करने का, उसे बचाने का होना चाहिए। जीवन में धारण किए गए व्रत-नियम ही जीवन को कीमती बनाते हैं। बचाने लायक बनाते हैं। इसलिए स्वयं भी व्रत-नियम और सम्यग्दर्शन आदि गुणों को बढ़ाना चाहिए। वनवास के समय श्रीराम और लक्ष्मण ने कुलभूषण और देशभूषण नामक मुनिजनों के ऊपर आए हुए उपसर्ग को दूर किया था, यह बात हमारे ग्रन्थों में आती है। यह साधु-समाधि की भावना का अच्छा उदाहरण है।

यह बात स्पष्ट हो गई कि जो आत्मकल्याण के साथ-साथ परोपकार में लगे रहते हैं ऐसे साधुजनों की साधना में विघ्न आने पर उसे दूर करने की भावना रखना। लेकिन यह बहुत सावधानी का काम है। विघ्न दूर करने की प्रक्रिया निर्दोष होनी चाहिए।

एक दिन मच्छरों की बहुलता देखकर पण्डितजी ने रात्रि के समय आचार्य महाराज के चारों ओर बहुत दूरी पर मच्छरदानी लगवा दी ताकि आचार्य महाराज को बाधा न हो। सुबह जब आचार्य महाराज ने मौन खोलते ही पण्डितजी को कहा कि पण्डित जी! यह क्या किया आपने। पण्डितजी ने जवाब पहले से सोच लिया था सो बोले कि 'महाराज आप तो अपने शरीर के प्रति निर्मोही हैं सो शरीर की सुरक्षा आपको जरूरी नहीं है पर क्या करें बुखार कीटाणुओं से आपका शरीर इतना विषाक्त हो गया है आपको काटने वाले मच्छरों को पीड़ा हो सकती है। उन बेचारों की सुरक्षा के लिए यह उपाय करना पड़ा।'

सारी बात सुनकर आचार्य महाराज अपनी अस्वस्थता के बावजूद भी खूब हँसे और कहा कि पण्डित जी, सारे संसारी प्राणी अपने शरीर के मोहवश ऐसे तर्क देकर उसकी सुरक्षा में लगे हैं और दु:ख का अनुभव कर रहे हैं। मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधक के लिए यह ठीक नहीं है। इससे धीरे-धीरे शिथिलता बढ़ती जाती है। सुरक्षा का उपाय तो ऐसा करो जिससे साधना में कमी न आए और साधना भी निरन्तर निर्बाध रूप से चलती रहे।

आज के समय में तो लोग सोचते हैं कि 'महाराज की साधना में जितनी सुविधा हो सके उतनी सुविधा बनाओ। भैया, असुविधा में भी सुविधा का अहसास हो, समता-भाव बना रहे, वास्तव में तो यह साधना है। परिणामों में निर्मलता आवे, धैर्य और सहनशीलता बढ़े, शरीर कष्ट सहिष्णु बनें - ऐसा उपाय करो तो ही ठीक है। शरीर को सुख-सुविधाभोगी बनाने से साधना की सुरक्षा नहीं होगी।

चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज के जीवन से सम्बन्धित एक घटना मैंने सुनी थी। चातुर्मास का समय था। किसी मुनिराज की समाधि चल रही थी। उनके कर्म का ऐसा तीव्र उदय आया कि प्यास सहन नहीं होने से वे समाधि के समय पानी माँगने लगे। यहाँ तक कि वेदना सहन नहीं होने से उन्होंने अपना मुनिपद छोड़ने की बात भी लोगों से कह दी। अब लोग घबराए कि क्या करें? थोड़ी दूर ही दूसरे गाँव में आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज विराजते थे। सभी लोग उनके चरणों में पहुँचे। सारी बात बतायी। सारी बात सुनकर आचार्य श्री शान्तिसागरजी ने कहा कि आप लोग जाकर मुनिराज से मेरी ओर से कहना कि "आचार्य शान्तिसागर ने आपकी बहुत प्रशंसा सुनी है। आप धैर्यवान हैं। अच्छे तपस्वी हैं। आपको आचार्य महाराज ने प्रतिवंदना के रूप में नमोस्तु कहलवाया है।"

जब आचार्यश्री का संदेश लोगों ने मुनिराज को सुनाया तो मुनिराज के परिणामों में निर्मलता आ गई और मन ही मन सोचने लगे कि 'इतने महान आचार्य मुझे नमोस्तु कर रहे हैं, मेरी सल्लेखना की प्रशंसा कर रहे हैं और मैं पानी माँग रहा हूँ। अब मुझे पानी नहीं चाहिए। अब तो जीवन पर्यन्त पंचपरमेष्ठी ही शरण हैं।' और सुना है कि फिर उनके परिणाम एकदम शान्त हो गए। उन्होंने समतापूर्वक अपनी देह का परित्याग किया। अंतरंग से कहा गया एक शब्द भी दूसरे को सम्भालने में कारण बन सकता है। विचलित होने से बचा जा सकता है। आए हुए विघ्न को शान्त कर सकता है। रत्नत्रय की सुरक्षा में हमारा जीवन ऐसा ही सहायक बने, यही तो साधु-समाधि भावना है।

सामान्यत: साधु का अर्थ श्रेष्ठ, अच्छा या सज्जन भी होता है। अगर थोड़ा व्यापक रूप से सोचें तो जो श्रेष्ठ और सज्जन-पुरुष हैं उनकी सज्जनता की रक्षा करने की भावना भी अपने भीतर लोक-व्यवहार में होनी चाहिए। विनोबा से पूछने पर वे कहते थे कि जो दुर्जन के भी कल्याण की भावना रखता हो वह सज्जन है। जब हम सज्जन पुरुष की रक्षा करते हैं, उसका सम्मान करते हैं और उसका किसी दुर्जन पुरुष के द्वारा अपमान न हो सके इस बात का ख्याल रखते हैं। तो समझो हम अपने भीतर सज्जनता को प्रकट करने का प्रयास कर रहे हैं। सज्जन पुरुषों का संग्रह करना, उनके धर्मध्यान में सहयोगी बनना, उन्हें राग-द्वेष आदि विकारी-भावों से बचाना, यह भावना भी कल्याणकारी है।

एक बार की बात है। वर्णीजी (श्री गणेशप्रसादजी वर्णी) मोटर में यात्रा कर रहे थे। उस समय उन्होंने वाहन में बैठने का त्याग नहीं किया था। रास्ते में एक जगह मोटर रूकी और एक व्यक्ति उसमें चढ़े। वह कोई विशिष्ट व्यक्ति रहे होंगे सो मोटर के कन्डेक्टर ने उन्हें बैठाने के लिए वर्णीजी से खड़े होने को कहा।

वर्णीजी ने कुछ नहीं कहा, चुपचाप खड़े हो गए, पर मन में विचार आया कि जिस स्थान पर बैठने में संक्लेशता हो, पराधीनता का अनुभव हो और सज्जनता का अपमान हो। उस स्थान पर बैठना ठीक नहीं। सो मोटर रूकवाई और उतर गए। नीचे उतरकर पंचपरमेष्ठी का स्मरण किया और मन ही मन संकल्प ले लिया कि 'आगे अब कभी वाहन से यात्रा नहीं करेंगे। वाहन में बैठने का त्याग'। देखो, यह है सज्जनता। अपने परिणाम बिगड़ने लगें तो उन्हें सँभालो। सज्जन पुरुष अपनी और दूसरे की, दोनों की सज्जनता की रक्षा करता है।

वर्णीजी के जीवन की एक और घटना है। शाम का समय था। ठण्ड पड़ने लगी थी। वर्णीजी कहीं से पैदल वापिस लौट रहे थे। रास्ते में एक सज्जन मिल गए। वर्णीजी उनकी ईमानदारी और कमजोर परिस्थिति से अवगत थे। थोड़ी बातचीत हुई और जैसे ही वे सज्जन जाने को हुए, वर्णीजी ने अपना खेस (मोटा चादर) उतारकर उन्हें दे दिया। उन सज्जन ने बहुत मना किया पर वर्णीजी नहीं माने। वर्णीजी का प्रेमभाव देखकर उन सज्जन की आँखों में आँसू आ गए। जो व्यक्ति वर्णीजी के साथ चल रहे थे वे बोले कि आपने ये क्या किया ? अभी बहुत चलना है, ठण्ड भी है। शहर में बिना चादर के अकेली लँगोटी पहने जाना क्या ठीक लगेगा ? वर्णीजी बोले- भैया ! इसके गरीबी है। सज्जन आदमी है। सारी ठण्ड बड़ी मुश्किल से कटेगी। चद्दर से ठण्ड के दिनों में थोड़ी इसे आसानी हो जाएगी। अपना क्या है अपने को और मिल जायेगी।

भाई ! सज्जनता का सम्मान करने से ही सज्जनता की रक्षा होगी। साधुजनों की रक्षा होगी। अपना जीवन भी अच्छा बनेगा। इसलिए सदैव साधु-समाधि की भावना भाना चाहिए।

साधु-समाधि करो नर भावक, पुण्य बड़ो उपजे अघ छीजे।
साधु की संगति धर्म की कारण, भक्ति करे परमारथ सीजै।।
साधु समाधि करे भव छूटत, कीर्ति-छटा त्रैलोक में गाजे।
'ज्ञान' कहे यह साधु बड़ो, गिरि श्रृंग गुफा बिच जाय विराजे।।

जो नर भावपूर्वक समाधिमरण करते हैं। उनके पाप का क्षय और बहुत पुण्य उत्पन्न होता है। साधु की संगति करने से धर्म होता है और साधु की भक्ति करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो साधु समाधिमरण करते हैं उनका भव भ्रमण छूट जाता है और यश का प्रकाश तीनो लोकों में फैल जाता है। ज्ञानी जन कहते हैं कि वह साधु महान् होता है जो पहाड़ की चोटी पर गुफाओं आदि में जाकर रहते हैं।

साधु-समाधि सदा मन लावै, तिहुं जग भोग भोगि शिव जावै।

समाधि का अर्थ है मरण। साधु का अर्थ है श्रेष्ठ, अच्छा। अत: श्रेष्ठ मरण को साधु समाधि कहते हैं। साधु का दूसरा अर्थ है सज्जन। ऐसा मरण यदि एक बार कर ले तो कल्याण हो जाता है। जन्म मरण से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। हम बच्चों व बड़ों सभी का जन्मदिन मनाते हैं, बच्चों के जन्म पर मिठाईयाँ बाँटते

हैं किन्तु इसके साथ मरण का भय लगा रहता है। न जाने ऐसे जन्म मरण कितने बार किये। वस्तुत: जीवन मरण कोई चीज नहीं है, यह तो पुद्गल का स्वभाव है।

जैसे भण्डार में लगी हुई आग को गृहस्थ अपनी उपकारी वस्तुओं का नाश होना जानकर बुझाता ही है क्योंकि अपनी उपकारी वस्तुओं की रक्षा करना बहुत आवश्यक है। उसी प्रकार व्रत-शील आदि अनेक गुणों सहित जो व्रती, संयमी को किसी कारण से विघ्न आ जाय तो विघ्नों को दूर करके व्रत-शील की रक्षा करना साधुसमाधि है अथवा अपने परिणामों को बिगाड़ने वाला मरण काल आ जाये, उपसर्ग आ जाये, रोग आ जाये, इष्ट वियोग हो जाये, अनिष्ट संयोग आ जाये, उस समय भयशील नहीं होना साधु समाधि है।

सम्यग्ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि हे आत्मन्! तुम अखण्ड, अविनाशी, ज्ञान, दर्शन स्वभावी हो, तुम्हारा मरण नहीं हो सकता है। जो उत्पन्न हुआ है वह नष्ट होगा। पर्याय का विनाश होता है, चैतन्य द्रव्य का विनाश नहीं होता है। पाँच इन्द्रियाँ, मनबल, वचनबल, कायबल, आयुबल, उच्छ्वास - ये दश प्राण हैं। इनके नाश को मरण कहते हैं। तुम्हारे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि भाव प्राण हैं। उनका कभी नाश नहीं होता है। अत: देह के नाश को अपना नाश मानना मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान है।

हे ज्ञानी! हजारों कृमि से भरे, हाड़-मांसमय, दुर्गंधित, प्रकट विनश्वर देह के नाश होने से तुम्हारा क्या होता है, तुम तो अविनाशी ज्ञानमय हो। यह मृत्यु तो बड़ी उपकारी मित्र है जो तुम्हें सड़े गले शरीर में से निकालकर देव आदि की उत्तम देह धारण कराती है। यदि मृत्यु नहीं आती तो इस देह में अभी कब तक और रहना पड़ता? रोग तथा दु:खों से भरे शरीर में से कौन निकालता? समाधिमरण करके आत्मा का उद्धार कैसे होता? व्रत तप-संयम का उत्तम फल मृत्यु नाम के मित्र के उपकार बिना कैसे पाता? पाप से कौन भयभीत होता? मृत्युरूप कल्पवृक्ष के बिना चार आराधनाओं की शरण ग्रहण, संसार रूपी कीचड़ में से कौन निकालता? जिनका चित्त संसार में आसक्त है तथा देह को अपनारूप जानते हैं उन्हें मरण का भय होता है। सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप को देह से भिन्न जानकर भयभीत नहीं होते हैं। इसलिए उन्हें साधु-समाधि होती है। मरण के समय में जो कभी रोग दु:ख आदि आता है वह भी सम्यग्दृष्टि को देह के ममत्व छुड़ाने के लिए आता है, त्याग संयम आदि के सन्मुख कराने के लिए आता है तथा प्रमाद को छुड़ाकर सम्यक्दर्शन आदि चार आराधनाओं में दृढ़ता कराने के लिए आता है।

ज्ञानी विचार करता है - जिसने जन्म धारण किया है वह अवश्य मरेगा, यदि कायर हो जाऊँगा तो मरण नहीं छोड़ेगा और यदि धीर बना रहूँगा तो मरण नहीं छोड़ेगा। इसलिए दुर्गति का कारण जो कायरतारूप मरण है उसे धिक्कार हो। अब ऐसे साहस से मरूँगा कि देह मर जायेगी किन्तु मेरे ज्ञान-दर्शन स्वरूप का मरण नहीं होगा। ऐसा मरण करना उचित है। अत: उत्साह सहित सम्यग्दृष्टि के मरण का भय नहीं होगा, साधु-समाधि है।

देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत, अचेतन रूप उपसर्ग होने पर जिसको भय नहीं होता तथा जो पूर्व में बांधे हुए कर्म की निर्जरा ही मानता है, उसके साधु समाधि है। ज्ञानी रोग से भय नहीं करता है। वह तो अपने शरीर को ही महारोग मानता है क्योंकि शरीर ही तो क्षुधा, तृषा आदि महारोगों को उत्पन्न कराने वाला है। यह मनुष्य शरीर वात, पित्त, कफादि त्रिदोषमय है। ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि असातावेदनीय कर्म के उदय से, त्रिदोषों के घटने-बढ़ने से ज्वर, खांसी, श्वास, अतिसार, पेटदर्द, सिरदर्द, नेत्रविकार, वातादि रोग मुझे हुए हैं। उसका अंतरंग कारण तो असातावेदनीय कर्म का उदय है। बहिरंग कारण द्रव्य, क्षेत्र कालादि हैं। कर्म के उदय का उपशम होने पर रोग का नाश हो जायेगा। असातावेदनीय का प्रबल उदय होने पर बाह्य औषधि आदि कोई भी रोग को मिटाने में समर्थ नहीं है। असाताकर्म को हरने में कोई देव, दानव मंत्र-तंत्र, औषधि आदि समर्थ नहीं है। अत: अब संक्लेश छोड़कर समता भाव ग्रहण करना। बाह्य जो औषधि आदि हैं वे असातावेदनीय कर्म का उदय मंद हो जाने पर सहकारी कारण हैं। असातावेदनीय कर्म का तीव्र उदय होने पर औषधि आदि कोई भी बाह्य कारण रोग दूर करने में समर्थ नहीं हैं। ऐसा विचार करके असातावेदनीय कर्म के नाश का कारण परम समता भाव धारण करके, संक्लेश रहित होकर सहना, कायर नहीं होना साधु-समाधि है।

इष्ट का वियोग एवं अनिष्ट का संयोग होने पर ज्ञान की दृढ़ता से, भय को प्राप्त नहीं होना, साधु-समाधि है। जो जीव जन्म-मरण के भय सहित है किन्तु सम्यग्दर्शन आदि गुणों सहित हैं। वे इस मनुष्य पर्याय के अंत में आराधनाओं की शरण सहित व भय रहित होकर देहादि सभी पर द्रव्यों में ममता रहित होकर, व्रत, संयम सहित होकर समाधिमरण की इच्छा करते हैं। इस संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरा अनंतानन्त काल बीत गया है। समस्त समागम अनेक बार पाया परन्तु समाधिमरण प्राप्त नहीं हुआ है यदि समाधिमरण एक बार भी मिल गया होता तो फिर जन्म-मरण का पात्र नहीं होता। संसार में परिभ्रमण करते हुए मैंने भव-भव में अनेक नये-नये देह धारण किये हैं। ऐसी कौन सी देह है जो मैंने धारण नहीं की ? अब इस वर्तमान देह में क्यों ममत्व करूँ? मुझे भव-भव में अनेक स्वजन-कुटुम्बीजनों का भी संबंध हुआ है। आज पहली बार ही स्वजन नहीं मिले हैं। अत: किस-किस स्वजन से मैं राग करूँ? मुझे भव-भव में अनेक बार राजऋद्धि प्राप्त हुई है। अब मैं इस तुच्छ वर्तमान सम्पदा में क्या ममता करूँ? भव-भव में मेरे पालन करने वाले अनेक माता-पिता भी हो गये हैं। अभी ये प्रथम बार ही नहीं हुए हैं। मुझे भव-भव में अनेक बार नारीपना भी प्राप्त हुआ है। काम की तीव्रलम्पटता सहित मुझे भव-भव में अनेक बार नपुसंकपना भी प्राप्त हुआ है तथा मुझे भव-भव में अनेक बार पुरुषपना भी प्राप्त हुआ है तो भी वेद के अभिमान से नष्ट होता फिरता रहा। भव-भव में अनेक जाति के दु:खों को प्राप्त हुआ हूँ, संसार में ऐसा कोई दु:ख नहीं जो मैंने पाया हो। ऐसा कोई इंद्रिय जनित सुख भी नहीं है जो मैंने अनेकोंबार नहीं पाया हो। अनेक बार नरक में

नारकी होकर असंख्यात काल तक प्रमाण रहित अनेक प्रकार के दुःख भोगे हैं। अनेक बार तिर्यञ्चों के भव प्राप्त करके अनंत बार जन्म-मरण करते हुए अनेक प्रकार के दुःख भोगते हुए बारम्बार परिभ्रमण किया है। मैं अनेक बार धर्म भावना रहित मिथ्यादृष्टि भी हुआ हूँ। अनेक बार देवलोक में भी जन्म हुआ है, अनेक भवों में जिनेन्द्र देव की पूजा की है, अनेक भवों में तप भी धारण किया है, अनेक भवों में भगवान के समवशरण में भी हो आया हूँ तथा अनेक भवों में श्रुतज्ञान के अंगों का भी पठन-पाठनादि का अभ्यास किया है तो भी अनंतकाल से भवनिवासी ही रहा। यद्यपि जिनेन्द्र की पूजा करना, गुरुओं की वंदना करना, आत्मनिन्दा करना, दुर्द्धर तपश्चरण करना, समवसरण में जाना, जिनश्रुत के अंगों का अभ्यास करना इत्यादि कार्य प्रशंसा योग्य हैं, पाप का नाश करने वाले हैं, पुण्यबंध के कारण हैं तो भी सम्यग्दर्शन बिना अकृतार्थ हैं (अकार्यकारी हैं) ये संसार परिभ्रमण को नहीं रोक सकते हैं, सम्यग्दर्शन के बिना उपर्युक्त समस्त क्रियाएं पुण्य का बन्ध करने वाली हैं। सम्यग्दर्शन सहित हो तभी वे संसार का नाश कर सकती हैं।

जगत में मणि भी पाषाण है तथा अन्य रेतीला पत्थर भी पाषाण है। जैसे कोई मनुष्य साधारण पत्थर को मन दो मन ही बाँधकर ले जाय और बेचे तो एक पैसा ही मिले तथा उससे एक दिन भी पेट नहीं भरे। मणि कोई रत्ती भर भी ले जाय और बेचे तो हजारों रुपये मिलें तथा समस्त जन्म की दरिद्रता मिट जाये। उसी प्रकार जीव समभाव, शास्त्रों का ज्ञान, चारित्र धारण, घोर तपश्चरण आदि सम्यक्त्व बिना धारण करे तो राज्य सम्पदा मिल जायेगी, मंद कषाय के प्रभाव से देवलोक में पैदा हो जायेगा परन्तु वहाँ से मरकर एक इन्द्रिय आदि पर्यायों में परिभ्रमण करना पड़ेगा। सम्यक्त्व होने पर ही जीव संसार परिभ्रमण का नाश करके मुक्त हो सकता है।

सम्यक्त्व बिना जो मिथ्यादृष्टि हैं वे जिनराज की पूजन करें, निर्ग्रन्थ गुरु की वंदना करें समवशरण में जायें जिनागम का अभ्यास करें, उत्तम तप करें तो भी अनन्तकाल तक संसार में भटकते रहेंगे। तीन लोक में सुख-दुःख की सभी सामग्री इस जीव ने अनन्त बार पाई है। रत्नत्रय धारी को जो साधुसमाधि होती है। उसकी प्राप्ति सभी को दुर्लभ है। साधुसमाधि चतुर्गति में परिभ्रमण के दुःख का अभाव करके निश्चयतः स्वाधीन, अनन्त सुख को प्राप्त कराती है। जो पुरुष साधुसमाधि भावना को निर्विघ्न रूप से प्राप्त करने के लिए इस भावना को भाता हुआ इसका महान अर्थ का धारण करता है वह शीघ्र ही संसार समुद्र को पार करके अष्टगुणों का धारक सिद्ध बन जाता है। एक सामान्य मरण होता है दूसरा समाधि मरण होता है।

मरण पाँच प्रकार के होते हैं -

1. **बाल-बाल मरण** - यह मरण मिथ्यादृष्टि के होता है, इससे चतुर्गति भ्रमण होता है।

2. **बाल मरण** - यह मरण अविरत सम्यग्दृष्टि के होता है। यदि मरण शान्ति से हो जाय तो कल्पवासी देव अन्यथा भवनत्रिक देवों में उत्पन्न होता है।

3. **बाल पंडित मरण** - यह मरण देशव्रती श्रावकों का होता है।

4. **पंडित मरण** - यह 28 मूलगुणों धारी मुनियों का होता है।

5. **पंडित-पंडित मरण** - यह मरण चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली के होता है। इस मरण के बाद पुनः जन्म-मरण नहीं होता।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है -

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।।१२२।।

जिस समय अनिवार्य उपसर्ग आ जावे, दुर्भिक्ष हो या कोई महान् क्लिष्ट रोग हो जावे अथवा कोई शरीर के निपात करने वाला कारण मिल जावे जैसे जंगल में आग लग जावे और निकलने का उपाय न हो, सिंह, व्याघ्र आदि का सामना हो जावे अथवा जहरीले जीव-जन्तु काट लें, जिससे ऐसा लगे कि अब बचना मुश्किल है तब धर्म के लिए शरीर को शान्तिपूर्वक त्याग देना चाहिए। इसी को समाधि या सल्लेखना कहते हैं। इसके दो भेद हैं - (1) भाव सल्लेखना (2) द्रव्य सल्लेखना

(1) भाव सल्लेखना - क्रोधादि कषाय रहित होकर रागादि विकल्पों को कृश करना भाव सल्लेखना है।

तृण चौकी शिव शैल शिखर नहीं आत्म समाधि के आसन।
संस्तर पूजा सम्मेलन नहीं समाधि के साधन।

(2) द्रव्य सल्लेखना - भाव सल्लेखना के लिए भोजन आदि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्य सल्लेखना है। इसके दो भेद हैं। (1) शीघ्र सल्लेखना (2) प्रयोग सल्लेखना

1. **शीघ्र सल्लेखना** - शरीर के निपात करने वाले उपसर्ग के होने पर अन्तरंग व बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रह का एवं चारों प्रकार के आहार का त्याग अन्त समय तक के लिए कर देना शीघ्र सल्लेखना कहलाती है।

2. **प्रयोग सल्लेखना** - चारों प्रकार के आहार को धीरे-धीरे कम करते हुए शरीर को कृश करना प्रयोग सल्लेखना कहलाती है। यह बारह साल की होती है। इसके तीन भेद हैं।

(1) भक्त प्रत्याख्यान (2) इंगिनी मरण (3) प्रायोपगमन

1. **भक्त प्रत्याख्यान** - जिस में क्रम-क्रम से या एक साथ आहार पानी का त्याग किया जाता है। शरीर की टहल अथवा सेवा स्वयं एवं दूसरे से कराई जाती है।

2. **इंगिनी मरण** - इसमें आहार पानी के त्याग के साथ शरीर की टहल स्वयं की जाती है, दूसरे से नहीं कराई जाती।

3. **प्रायोपगमन** - जिसमें इतनी निःस्पृहता बढ़ जाती है कि आहार पानी के त्याग के साथ शरीर की टहल न स्वयं की जाती है और न दूसरों से कराई जाती है। उसे प्रायोपगमन कहते हैं।

निरतिचार सल्लेखना का फल बताते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि -

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वै र्दुःखैरनालीढः।। - रत्नक., 130

धर्म रूपी अमृत का पान करने वाला सल्लेखना धारी समस्त दुःखों से रहित होता हुए अपार दुस्तर, उत्कर्षशाली सुख के सागर स्वरूप मोक्ष को पाता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में सल्लेखना के पाँच अतिचार बताये हैं।

जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।
सल्लेखनातिचारः पंच जिनेन्द्रैः समुदिष्टाः।। - रत्नक., 129

जीने की इच्छा करना और मरने की इच्छा करना, मरने से डरना, मित्रों की याद करना और आगामी भोगों की इच्छा करना ये पाँच जिनेन्द्र भगवान ने सल्लेखना के अतिचार बतायें हैं।

यह जीव अज्ञानतावश मनुष्य शरीर के जन्म को जन्म तथा शरीर के मरण को अपना मरण मानता हुआ दुःखी होता है।

पं. दौलतरामजी छहढाला में लिखते हैं कि -

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आप को नाश मान।
रागादि प्रगट जे दुःख देन, तिनहीं को सेवत गिनत चैन।।

एक जगह दो मित्र रहते थे। उसमें से एक समाधि के स्वरूप को जानता था। दूसरा कहने लगा कैसी होती है समाधि? सिखा दो। गुरु ने कहा - जाओ सामने एक मकान खाली पड़ा है। उसमें बैठकर ध्यान लगाओ, समता रखना अगर तुम्हारे अन्दर समाधि आ गई तो उपसर्ग आने पर भी तुम ध्यान नहीं छोड़ोगे तब समझ लेना तुम्हें समाधि की जानकारी हो गयी। गुरु ने परीक्षा लेने के लिए एक मेहतरानी को भेज दिया कि

उसके पास खूब धूल उड़ा दे। मेहतरानी ने वैसा ही किया। उसे तुरन्त क्रोध आ गया और उठकर गुरु जी से आकर बोला। गुरुजी अभी तो समाधि का स्वरूप जाना ही नहीं। गुरु बोले फिर ध्यान लगाओ, वह जाकर ध्यान लगाने लगा। फिर परीक्षा के लिए किसी को भेज दिया। उसने उसके पास जाकर खूब गालियाँ दी, उसे कुछ कम क्रोध आया। अब वह सच्ची समाधि लगाकर आत्मा का चिन्तन करने लगा। गुरु ने उसके पास फिर मेहतरानी को भेजा। मेहतरानी ने उसके सिर पर विष्टा डाल दी उसने तब भी समाधि नहीं छोड़ी। इसका नाम ही सच्ची समाधि है। जब इतनी समता आ आयेगी तो हमारा मरण सच्चा मरण हो जायेगा।

दूसरे रूप में साधुसमाधि से मतलब साधुओं के उपसर्ग को दूर करना अथवा धर्मात्मा को संबोधित करके समाधि नहीं बिगड़ने देना। जैसे भण्डार में लगी हुई अग्नि को बुझाते हैं क्योंकि वस्तुओं की रक्षा करना उपकारक है। इसी प्रकार अनेक गुणों सहित व्रती संयमी के किसी कारण से विघ्न आते हैं तो उनको दूर कर व्रत शील की रक्षा करना, साधु समाधि है अथवा गृहस्थ को अपने परिणाम को छोड़ने वाला मरण आ जाये, इष्ट वियोग हो जाये, अनिष्ट संयोग आ जाये, उपसर्ग आ जाये, रोग आ जाये, इष्ट वियोग हो जाये इनमें यदि भय को प्राप्त नहीं होता है तो समाधि है। सम्यग्ज्ञानी ऐसे विचारता है कि हे आत्मन! तुम्हारा अखण्ड अविनाशी ज्ञान दर्शन स्वभाव है। तुम्हारा मरण नहीं है। जो जन्मा है उसका विनाश भी होगा। सुकुमाल महामुनि को देखो, कैसे स्यालनी ने बच्चों सहित उसके शरीर को खाया लेकिन उपसर्ग सहा और धीरज नहीं छोड़ा। सुकौशल मुनि को व्याघ्री ने खाया, गजकुमार मुनि के ऊपर विप्र ने अंगीठी रख दी तो भी ध्यान नहीं छोड़ा। सनतकुमार मुनि के तन में कुष्ठ हो गया। वे विचारते रहे ये रोग पुद्गल में है मेरे में नहीं। समन्तभद्र मुनि के तन में क्षुधावेदना हुई लेकिन सम्यक्त्व को नहीं छोड़ा। दंडक राजा ने अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनियों को घानी में पिरवाया लेकिन मुनियों ने समता नहीं छोड़ी। सात सौ मुनियों के ऊपर बलि राजा ने घोर उपसर्ग किया लेकिन वे अपनी आत्मा में रहे। पाँचों पांडव मुनियों के तन में आभूषण तपा-तपा कर पहनाये। फिर भी ध्यान में ही खड़े रहे। जब ऐसे पुरुषों पर भी उपसर्ग आये और उन्होंने उपसर्ग को समता से जीत लिया। तब तुम्हारे ऊपर तो कोई उपसर्ग नहीं है। अब तो तुम सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तप की आराधना करो। तुम्हें तप का फल मिलेगा। अगर समाधि के समय कुटुम्बी रोने लगे तो अपशकुन होता है। इसलिए उस समय सब को समाधिमरण, वैराग्य भावना, बारह भावना ही सुनानी चाहिए और कहना चाहिए - मृत्यु मित्र उपकारी है। इसमें तुम घबराओ नहीं। शरीर मिट्टी है, पाषाण है। पाषाण मन दो मन बाँध करके जाओगे तो बेचने पर दो पैसा मिलेगा। जिससे एक समय का भी पेट नहीं भरेगा और मणि को ले जाओगे तो बेचने पर काफी पैसा मिल जायेगा। जिससे समस्त जीवन की दरिद्रता नष्ट हो जायेगी। उसी प्रकार समता धारण कर शास्त्र का ज्ञान और चारित्र पालन अथवा घोर तप करे लेकिन सम्यक्त्व के बिना तप पत्थर के समान है, सम्यक्त्व सहित तप संसार परिभ्रमण का नाश करके मोक्ष दिलाता

है। जो प्राणी मुनियों के उपसर्ग दूर करता है, वह भी सातिशय पुण्य का उपार्जन करता है। जैसे सेठ सुदर्शन का जीव पूर्व भव में प्राप्त करता है।

सेठ सुदर्शन का जीव पहले भव में एक ग्वाला था। जो जंगल में गाय चराया करता था। वहाँ पर एक मुनिराज ध्यान में बैठे थे। जाड़ा पड़ रहा था, ठण्डी-ठण्डी हवा शरीर को बाधा पहुँचा रही थी। ग्वाले को उन पर दया आती है और वह सोचता है - कि ये साधु जंगल मैं बैठे हैं, नग्न हैं इनका कोई प्रबन्ध करना चाहिए, जिससे इन्हें ठण्ड न लगे। ग्वाले ने चारों ओर फूस जला दिया। वैसे मुनिराज पर उपसर्ग था लेकिन ग्वाले के भाव तो उनकी रक्षा करने के थे, उसी भाव के बल पर सेठ सुदर्शन वनों में तपस्या करके मोक्ष चले गये। इसलिए मुनि के उपसर्ग का निवारण करना साधुसमाधि भावना है।

एक गुफा में बैठे हुए आत्म-लीन मुनिराज की गंध पाकर जब सिंह उनको भक्षण करने के लिए गुफा की ओर झपटा तब वहीं पर बैठे हुए एक शूकर ने उस सिंह का अभिप्राय जानकर मुनिराज के प्राण बचाने के लिए सिंह को गुफा में जाने से रोका। सिंह अपने बल मद में चूर था। अत: शूकर के रोकने पर भी गुफा में घुसने लगा। तब मुनिराज को आँच न आने पावे इस विचार से शूकर सिंह से भिड़ने लगा। इस प्रकार शूकर और सिंह का युद्ध प्रारम्भ हो गया। सिंह ने अपने पंजे से शूकर को घायल कर दिया। अन्त में दोनों परस्पर लड़ते-लड़ते मर गये। शूकर ने मुनिराज की रक्षा के लिए प्राण दिये इसलिए मर कर देव हुआ और सिंह ने मुनिराज को मारकर खाने के भाव से प्राणों को त्यागा, इसलिए नरक गया।

इसलिए रत्नत्रय के भण्डार, शान्ति पुंज, परम दयालु मुनिराज पर आये उपसर्ग को दूर करने में यदि प्राण भी चले जायें तो धार्मिक पुरुष को पीछे नहीं हटना चाहिए। साधु समाधि का एक अभिप्राय यह भी है।

जीवन्धरकुमार ने एक मरणोन्मुख कुत्ते को णमोकार मंत्र सुनाया तो तत्काल देव आयु का बन्ध कर वह पशु पर्याय को छोड़कर देव हो गया। पार्श्वकुमार ने जलते हुए नाग-नागिन का अन्त समय देखकर उनको समाधिमरण कराया तो दोनों मरकर धरणेन्द्र-पद्मावती देव हुए।

इससे स्पष्ट होता है कि समाधिमरण में सहायक होना महान उपकार है। अपने मित्र को शुभगति प्राप्त कराने के लिए उसके समाधिमरण में अवश्य सहायता देनी चाहिए। मरते समय न तो मनुष्य बोल सकता है और न कुछ स्मरण कर सकता है। अत: उसके हितैषी मित्रों का परम कर्त्तव्य है कि वे उस समय उसको वैराग्यवर्द्धक श्लोक, पद्य, गद्य, पाठ आदि सुनायें।

संत बचपन से ही साधु-समाधि की साधना किया करते हैं।

साधु-समाधि विशद मोक्षमार्ग का पावन सोपान है।

संत साधना के द्वारा अनादि कर्मों की विराधना किया करते हैं।

संत स्वयं विशद आत्मा की ही आराधना किया करते हैं।

संसार में सबसे बड़ा भय मनुष्य को मौत का होता है। यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य मौत से बच नहीं सकता फिर भी मौत से भय खाता है। किसी कार्य को करने में यदि मनुष्य को पता चल जाय कि इसके करने में प्राणों का संकट है तो वह उस कार्य को करने के लिए तैयार नहीं होगा। मौत का भय ऐसा ही होता है। मृत्यु राजा और रंक, स्त्री-पुरुष सबको एक ही घाट उतारता है। मृत्यु के भय से समस्त प्राणी आतंकित हैं। क्या उससे बचने के लिए हमारे महर्षियों ने कोई उपाय खोजा है, इस प्रश्न का उत्तर हमें ढूंढ़ना है।

जीवन का प्रत्येक क्षेत्र विज्ञान ने छू लिया है फिर भी मनुष्य सुखी नहीं हैं। प्राचीन ऋषि मुनि यह जानते थे कि मनुष्यों का सुख इन जड़ पदार्थों के आश्रित नहीं है इसलिए उन्होंने घर-बार छोड़कर वन में निवास किया। इच्छाओं का दमन करके शरीर को सुखाया। महान् परमानन्द को प्राप्त किया जिसका स्रोत चेतना है। उन्होंने चेतनतत्त्व की खोज की, जड़तत्त्व की नहीं और भारतीय दर्शन को अनमोल रत्न प्रदान किये जिसके प्रकाश में यह भौतिक प्रकाश नगण्य दिखाई पड़ता है। यह मनुष्यजाति जड़ और चेतन तत्त्वों के मिश्रण पर आधारित है। यह जो दिखाई देने वाला स्थूल शरीर है इसके अतिरिक्त भी शरीर है जिसको सूक्ष्म शरीर कह सकते हैं। स्थूल शरीर को औदारिक शरीर की संज्ञा तथा सूक्ष्म शरीर को तैजस और कार्माण शरीर की संज्ञा दी है। ऐसे तीन शरीर प्रत्येक जीव के साथ लगे हुए हैं।

अगर विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि मौत क्या है? यह स्पष्ट है कि जड़ शरीर के भीतर एक चेतन तत्त्व का अस्तित्व जुड़ा है जो कभी भी विनाश को प्राप्त नहीं होता। वह चेतन तत्त्व अर्थात् आत्मा शुभाशुभ भावों के अनुसार अन्य गतियों में चली जाती है और जड़ तत्त्व मरण को प्राप्त होता है। अब अगर हम इसका मूल्यांकन करें तो जड़ से चेतन का मूल्य ज्यादा होगा। यह बात दूसरी है कि आज के इस भौतिक युग में चेतन तत्त्व की उपेक्षा की गई है। आत्मा का जितना तिरस्कार इस युग में हुआ है उतना शायद किसी अन्य युग में नहीं हुआ। चेतन तत्त्व का मूल्य उपेक्षा करने से कम नहीं हो जायेगा। यदि मालिन के हाथ में कोई रत्न पड़ जाये और वह उसे गोमची समझकर पैर धो ले तो क्या रत्न की कीमत कम हो जायेगी? नहीं, वह जौहरी के हाथ में आते ही पुनः प्रकाश में आ जावेगी और उसका मूल्यांकन होने लगेगा।

सर्व विदित है कि शुभाशुभ कार्यों का असर जीव के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर पर भी पड़ता है। अगर हम अच्छे विचार करें तो बुरा कर्म होगा ही नहीं। इस प्रकार अच्छे, बुरे कार्यों के जिम्मेदार हम स्वयं हैं। कर्म हम करें और फल कोई दूसरा पावे, ऐसा हो नहीं सकता। एक वैज्ञानिक तथ्य है कि हम पहाड़ों में जाकर आवाज लगायें तो वैसी ही प्रतिध्वनि हमको सुनाई देगी इसलिए सुनिश्चित है कि हम अपने संस्कारों के साथ अर्थात् सूक्ष्मशरीर के साथ परलोक गमन करते हैं। जब तक सूक्ष्मशरीर का विष मौजूद है तब तक

संसार भ्रमण होता रहेगा। हमारे पूर्वज इस तथ्य को भली-भाँति जानते थे। इसलिए अपने कर्त्तव्य पर सदा आरूढ़ रहे। उन्हें मौत का भय नहीं सता पाया। उनके सामने कितनी भी बाधायें व विपत्तियाँ आयीं परन्तु अपनी दृढ़ श्रद्धा के बल पर उनका सफलता के साथ मुकाबला करते रहे। यदि कोई व्यक्ति भयभीत होकर करता है तो उसकी सफलता की गारन्टी नहीं है, निर्भीक मनुष्य के ही सफलता पाँव चूमती है।

अंग्रजों के शासन काल में भारत को स्वतन्त्र करने के लिए नवयुवकों में बड़ी व्यग्रता थी। गाँधी जी का स्वाधीनता संदेश जगह-जगह फैल चुका था। लोग देश के नाम पर मिटने को तैयार थे। ऐसे में हरदयाल ने अमेरिका जाकर नवयुवकों का एक संगठित दल बनाया और उन सबने मिलकर प्लान बनाया कि अमेरिका से हथियार खरीदकर सीमाओं के अन्दर पहुँचा दिये जाये और अँग्रेजों को परेशान किया जाय। यह काम कुछ दिनों तक चलता रहा किन्तु इतने बड़े साम्राज्य के आगे यह षड्यंत्र कब तक चलता आखिर एक जहाज जिसमें हथियार भरे थे बन्दरगाह पर साथियों समेत पकड़ लिया गया। मुकदमा चला सबको मौत का सन्देश सुनाया गया। उसमें एक लड़का जिस की उम्र 22, 23 वर्ष थी जज के समक्ष पेश किया गया। लड़के को देखकर जज के मन में करुणा का भाव उठा। वह सोचने लगा यह सुन्दर बालक अपने प्राण व्यर्थ ही गंवा देगा। अत: उससे बोले, काम तो तुमने मौत की सजा का किया है परन्तु तुम्हारे ऊपर मुझे दया आ रही है। इसलिए तुम्हें सलाह देता हूँ कि तुम एक दया का प्रार्थना पत्र लिख दो और उसे वायसराय के पास भेज देते हैं। वह तुम्हारे प्रार्थना पत्र पर ध्यान देकर तुम्हें मौत की सजा से अवश्य छुड़ा देंगे। तुम मौत से बच जाओगे और तुम्हें 20 साल की काले पानी की सजा हो जायेगी। यह मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ।

युवक बोला जज साहब आपने मुझे नेक सलाह नहीं दी। जज- मैंने तो तुम्हें मौत से बचाया है। युवक- मैं आपकी बात नहीं मानता क्योंकि यह शिक्षा मेरे फायदे की नहीं है। सोचिये यदि उस प्रार्थना पत्र ने मुझे कदाचित् बचा लिया और मुझे काले पानी की सजा हो गयी तो मुझे 20 साल कैद में बिताने पड़ेंगे। वहाँ की जलवायु शरीर के लिए हानिकारक होगी और जब मुझे वहाँ से छुट्टी मिलेगी तब मैं अधेड़ हो जाऊँगा और यदि मैं कर्त्तव्य करते हुए फाँसी पर चढ़ जाऊँगा तो मरणोपरान्त मैं नया शरीर धारण कर लूँगा और जब तक काले पानी की सजा से निकलूँगा तब 20 साल का नौजवान बन जाऊँगा। इस तरह काले पानी की सजा से कर्त्तव्य करते-करते फाँसी के तख्ते को चूमने में भलाई है। अत: आप तुरन्त अपना फरमान सुनाईये और मुझे अपने कर्त्तव्य से वंचित मत कीजिये। यह था उस नवयुवक का दृढ़ विश्वास जिसको मृत्यु भी अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं कर पाई। ऐसे साहसी पुरुष ही संसार में ऐसे कार्य कर जाते हैं तो दूसरों

को आश्चर्य में डाल देते हैं। वह जानते हैं कि यह शरीर तो एक वस्त्र बदलने के समान है। महाभारत में लिखा है कि - जिस प्रकार पुराना वस्त्र बदलकर नया वस्त्र पहनने में कोई कठिनाई नहीं होती उसी प्रकार यह जीवात्मा पुराना शरीर छोड़कर नया शरीर धारण कर लेती है।

जो मनुष्य डर कर भागता है, वह कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जो वीर पुरुष हैं वे हर्ष से सदा उसका स्वागत करने को तैयार रहते हैं। समाधि-मरण तो अन्तिम समय के महोत्सव का सूचक है। यह इतना ही सच है कि जब मनुष्य पर संकट आता है तो उसे उस समय डरने के बजाय दृढ़तापूर्वक मुकाबला करना चाहिए। जिस तरह एक योद्धा-स्थल में शत्रु का मुकाबला करने को खड़ा होता है। जैसे स्वर्ण की पहचान अग्नि में तपने से होती है इसी तरह जीवन के संकट काल में मनुष्य की वास्तविक परीक्षा होती है। उस समय ज्ञानी पुरुष अपने कर्त्तव्य को पूरा करते-करते हर्ष पूर्वक मौत को गले लगा लेते हैं और कायर पुरुष (अज्ञानी) मौत के भय से अपने कर्त्तव्य से च्युत होकर अधोगति को प्राप्त होते हैं।

बन्धुओं! ज्ञानी जन मृत्यु को महोत्सवरूप में वरण करते हैं अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य उत्सव मनाकर आनन्दित होता है उसी प्रकार ज्ञानी जन मृत्यु का महोत्सव मनाकर मृत्यु को अंगीकार कर के जन्म-मरण पर विजय प्राप्त करते हैं और शाश्वत आनन्द को प्राप्त करते हैं। यही मनुष्य जीवन की सार्थकता है। मरण से दुनियाँ का अंत नहीं है विशद मरण तो नव-जीवन का श्रृंगार है अतः मरण से डरना नहीं बल्कि मित्र बनाकर उसका स्वागत करना चाहिए।

मरण से दुनिया का अंत नहीं मरण नव जीवन का श्रृंगार होता है।
मरण यदि सुमरण हो जाए तो जन्म की संतति को खोता है।।
साधु समाधि भावना जो भी विशद भाव से भाता है प्यारे भाई।
वह जीव अल्प समय में ही संसार का अंतकर-सिद्ध होता है।।

****

9

वैयावृत्य भावना

कुष्ठोदर-व्यथा-शूलैर्वात-पित्त-शिरोर्तिभिः।
कास-श्वास-जरा-रोगैः पीडिता ये मुनीश्वराः॥
तेषां भैषज्यमाहारं शुश्रूषा पथ्यमादरात्।
यत्रैतानि प्रवर्तन्ते वैयावृत्यं तदुच्यते॥९॥

जो मुनीश्वर कोढ़, उदर की पीड़ा, शूल, वात, पित्त, सिर की पीड़ा, खाँसी, श्वांस, बुढ़ापा आदि रोगों से पीड़ित हैं उन्हें भक्ति पूर्वक दवा देना, आहार देना, सुश्रूषा करना और पथ्य देना, ये कार्य जहाँ किये जाते हैं उसे वैयावृत्य कहते हैं।

स्वारथ का संसार है भाई, सारा का सारा।
लालच की बहती है जग में, बड़ी तीव्र धारा॥
पर उपकार को भूल रहे हैं, इस जग के प्राणी।
पर में निज उपकार छुपा है, कहती जिनवाणी॥
साधक करे साधना अपनी, संयम के द्वारा।
रत्नत्रय अपने जीवन से, जिनको है प्यारा॥
विघन साधना में कोई भी, उनकी आ जावे।
वैय्यावृत्ती विघन दूर, करना ही कहलावे॥

हम सभी हमेशा की तरह आज भी अपने जीवन को अच्छा बनाने की प्रक्रिया पर विचार कर रहे हैं। सबसे अच्छा जीवन तीर्थंकरों का माना गया है। वे अपने आत्मकल्याण के साथ-साथ हम सभी संसारी जीवों के लिए कल्याण का मार्ग दिखलाते हैं। वे संसार-सागर से पार उतारने वाले कुशल नाविक हैं। **"जे भव जलधि जिहाज, आप तिरें, पर-तारहिं।"** हम चाहते हैं कि हमारा जीवन भी उनके जैसा निर्मल, उनके जैसा सच्चा और अच्छा बने। इसलिए इन दिनों हम इस बात पर विचार कर रहे हैं कि तीर्थंकर-सा जीवन कैसे बनता है? तीर्थंकर बनने वाले जीव कैसी भावना भाते होंगे अपने जीवन में, जिसके फलस्वरूप उन्हें यह अवस्था प्राप्त होती है?

हमारे भीतर संभावनाएँ हैं। यह हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर है कि हम उन संभावनाओं का कितना लाभ उठा सकते हैं। यह बड़ा व्यक्तिगत मामला है। ऐसा नहीं है कि इसके लिए हम किसी पर निर्भर हैं। हम आत्म-निर्भर रहकर अपनी अनन्त क्षमताओं को उद्घाटित करके, अपना जीवन तीर्थंकरों के समान स्व-पर कल्याणकारी बना सकते हैं। हमारी दृष्टि निर्मल हो, अंतरंग में सहज विनय-भाव हो, निर्दोष रूप से व्रत व शील का पालन करने की तत्परता हो, आत्मज्ञान पाने की ललक हो, संसार की तासीर जानकर दुःखों से बचने की छटपटाहट हो, यथाशक्ति त्याग और तप करने में रूचि हो और साधुजनों के ऊपर आने वाले उपसर्ग आदि को दूर करने की निरन्तर भावना हो तो जीवन अच्छा बनने में देर नहीं है।

इतनी इन सब बातों पर हम अच्छी तरह से विचार कर चुके हैं। यह बात भी हम सब अनुभव करते हैं कि जीवन अच्छा बनाना आसान नहीं है। जो अपना जीवन सचमुच अच्छा बनाने में लगे हैं उनके जीवन में सैकड़ों तरह की बाधाएँ या मुश्किलें आती हैं। कोई किसी चारित्रहीन व्यक्ति पर चारित्रहीनता का दोष नहीं लगाता, चारित्रहीनता का दोष अधिकांश लोग चारित्रवान पर ही लगाते हैं। यही परीक्षा के क्षण हैं। इस परीक्षा से गुजर कर सफलता हासिल करने वाले जीव बिरले ही हैं। विपत्ति से घबरा कर अच्छे बनने का मार्ग छोड़ देने वाले अनेकों हैं। ऐसी स्थिति में हमारा फर्ज है कि हम आत्मकल्याण में लीन और परोपकार का भाव रखने वाले साधुजनों के लिए तत्पर रहें। महारानी चेलना ने मुनिराज का उपसर्ग दूर किया था और उपसर्ग दूर होने पर मुनिराज के माध्यम से राजा श्रेणिक को सन्मार्ग मिला था। राजा श्रेणिक ने ही अज्ञानता और ईर्ष्यावश मुनिराज पर उपसर्ग किया था, जिसके परिणामस्वरूप स्वयं को ही विपत्ति में डाल दिया था। मुनिराज की समता, सहिष्णुता और प्राणीमात्र के प्रति सौहार्द देखकर उनका मन भीग गया था और अपने परिणाम सँभालकर उन्होंने आगामी जीवन में तीर्थंकर-पद पाने का सौभाग्य भी प्राप्त कर लिया था।

हम चाहें तो इस घटना से शिक्षा ले सकते हैं कि सदा सज्जनों की रक्षा करेंगे और उनके बताए मार्ग पर चलकर स्वयं भी सज्जन व श्रेष्ठ बनेंगे। आज हम साधुजनों की सेवा से जीवन को सँवारने का उपाय जानने का प्रयास करते हैं।

साधुजनों की सेवा करना वैयावृत्य कहलाता है। **"गुणवद् दुःख उपनिपाते निरवद्येन विधिना तद् अपहरणं वैयावृत्यं"** गुणवानों पर यानी रत्नत्रय रूप गुणों से जो युक्त हैं उन पर दुःख आ जाने पर निर्दोष विधि से उनका दुःख दूर करना वैयावृत्ति कहलाती है। संसार में भौतिक-सुखों में उलझे लोगों की सेवा बहुत लोग करते हैं उस सेवा से मात्र पुण्य का संचय होता है, कर्मों की निर्जरा नहीं होती। जो संसार के भौतिक सुखों को छोड़कर सच्चे आत्मसुख की खोज में निकले हैं ऐसे सम्यग्दर्शन आदि गुणों से युक्त जीवों का दुःख दूर करने वाले, उनकी सेवा कराने वाले बिरले जीव हैं। ऐसी सेवा से पुण्य के साथ-साथ कर्मों की निर्जरा भी होती है। मोक्षमार्ग में ऐसी सेवा ही वैयावृत्ति कहलाती है।

वर्तमान में सेवा का नजरिया बदल गया है। उसमें बहुत सारी विकृतियाँ आ गई हैं। व्यक्ति के लिए भौतिक सुख-सुविधा की चीजे देकर धर्मान्तरण के लिए प्रेरित करना, आजीविका के हिंसक तरीके अपनाकर उससे कमाए गए धन से सेवा, दान, पुण्य करना, यह सच्ची सेवा नहीं है। श्रद्धा, विवेक और सदाचरण के द्वारा अपना और सब जीवों का चरित्र-निर्माण करना सच्ची सेवा है। सभी जीव सुखी रहें, सभी का कल्याण हो और किसी जीव को दु:ख न हो ऐसी पवित्र भावना यदि हो तो ही सच्ची सेवा हो सकेगी। विनोबाजी ने लिखा है कि किसी अभावग्रस्त व्यक्ति को मात्र रोटी, कपड़ा दे देना उसकी समस्या का समाधान नहीं है न ही यह उसकी सच्ची सेवा है। उसे आत्मनिर्भर बनाना, सदाचारी बनाना ही सच्ची सेवा है। इसीलिए आचार्य भगवन्तों ने पहले ही कह दिया कि जो सच्चे मार्ग पर चल रहा है या जो सच्चे मार्ग पर चलना चाहता है उसकी सेवा करना।

'व्यापत्ति व्यपनोदः पदयो संवाहनं च गुण रागात् वैयावृत्यं' - सच्चे मार्ग पर चलने वाले के प्रति श्रद्धा भाव से, प्रेम भाव से जो उसका दु:ख दूर करने के लिए पैर आदि दबाकर सेवा की जाती है वह सच्ची सेवा है। पैर आदि दबाने का अर्थ सिर्फ शरीर की सेवा करते समय डरने के बजाय दृढ़तापूर्वक मुकाबला करना चाहिए।

कर्म के योग व्यथा उदई मुनि, पुंगव कुन्तस भेषज कीजे।
पीतक फान लसास भगन्दर, ताप को सूल महागद छीजे।
भोजन साथ बनाय के औषध, पथ्य कुपथ्य विचार के दीजे।
'ज्ञान' कहे नित ऐसी वैय्यावृत्य करे तस देव पतीजे।।

कर्म के उदय से पीड़ित मुनि की सेवा, सुश्रुषा, दवाई आदि, रोग के प्रतिकार स्वरूप दीजिए। पीव, कफ आदि भीतरी मल को साफ करने के लिए पथ्य और अपथ्य का भलीभाँति विचार कर औषधि को बनाकर भोजन के साथ दीजिए। ज्ञानी जन कहते हैं, जो इस प्रकार की वैयावृत्य करता है, वह देवगति में उत्पन्न होता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि-

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्।।

- रत्नकरण्डश्रावकाचार, 112

गुणों में प्रेम से व्रतियों के दुःख को दूर करना, मार्गजन्य थकावट आदि को दूर करने के लिए पैरों को दबाना अथवा जितना उपकार है, वह सब वैयावृत्य कहलाता है।

सर्वार्थ सिद्धि में आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि-

गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्त्यम्।6.24

गुणी पुरुषों के दुःख में आ पड़ने पर निर्दोष विधि से उसका दुःख दूर करना वैयावृत्य भावना है।

कायचेष्टा या दूसरे द्रव्य द्वारा उपासना करना वैयावृत्य तप है।

व्याधि, परीषह, मिथ्यात्व आदि का उपद्रव होने पर आचार्य आदि का प्रासुक औषधि, आहार-पान, आश्रय चौकी तख्ता और संस्तर आदि धर्मोपकरणों से प्रतीकार करना और सम्यक्त्व मार्ग में दृढ़ करना वैयावृत्य है। औषधि आदि के अभाव में अपने हाथ से नाक आदि भीतरी मल को साफ करना और उनके अनुकूल वातावरण बना देना भी वैयावृत्य है।

कुष्ठ रोगी देव

एक नगर में एक धर्मात्मा लड़का रहता था। वह हमेशा वैय्यावृत्य किया करता था। एक बार उसकी चर्चा स्वर्ग लोक में होने लगी। ईर्ष्यावश एक देव कुष्ठ रोगी का भेष बनाकर उस नगर में उसकी परीक्षा लेने आया। वह आकर उस नगर के मन्दिर के पास चबूतरे पर बैठ गया। उसके शरीर से बदबू आ रही थी। इसलिए जो भी मन्दिर आता उससे कहता कि तुम यहाँ क्यों बैठे हो तुम्हारे अन्दर से दुर्गन्ध आ रही है, यहाँ से हट जाओ। यह सुनकर वह थोड़ा पीछे हट जाता और फिर वहीं आ जाता। इस तरह बहुत देर तक चलता रहा। इतने में वह धर्मात्मा लड़का मन्दिर दर्शन करने आया। देखकर उस कोढ़ी को उसके मन में विचार आया कि कोई गरीब प्राणी है इसका उपचार होना चाहिए। यह विचार कर वह उसे कन्धे पर बैठाकर घर ले जाता है और उसकी दवा करके उसको दूसरे कपड़े पहना देता है। तभी आकाश में जय-जय कार होने लगती है। आवाज आती है कि धर्मात्मा तो तुम्हीं हो। वस्तुतः वैयावृत्ति करना भगवान की पूजा करना है। भगवती आराधना में आचार्य कहते हैं कि-

शयन का स्थान, बैठने का स्थान, उपकरण आदि का शोधन करना, निर्दोष आहार-औषध देकर उपकार करना, स्वाध्याय अर्थात् व्याख्यान करना, अशक्त मुनि का मैला उठाना, उसे करवट दिलाना, बैठाना, आदि कार्य करना थके हुए साधु के हाथ पाँव व अंग दबाना, नदी से रूके हुए अथवा रोग पीड़ित का उपद्रव विद्या आदि से दूर करना, दुर्भिक्ष पीड़ित को सुभिक्ष देश में लाना, ले जाना ये सब कार्य वैयावृत्य कहलाते हैं।

पं. बनारसीदास जी ने लिखा है-

काहे को बोलते बोल बुरे नर, नाहक क्यों जस धर्म गमावै।।
कोमल वैन चखै किन ऐन, लगै कछु है न सबै मन भावै।।
तालु छिदै रसना ना भिन्दै, न घटै कछु अंक दरिद्रन आवै।
जीव कहै जिय हानि नहिं तुझ, जी सब जीवन को सुख पावै।।

हे भाई! कठोर वचन क्यों बोलते हो? कठोर वचन बोल कर व्यर्थ ही क्यों अपना यश और धर्म नष्ट करते हो? अच्छे व कोमल वचन क्यों नहीं बोलते हो? देखो कोमल वचन सबके मन को अच्छे लगते हैं जबकि उन्हें बोलने में कोई धन नहीं लगता, बोलने पर तालु भी नहीं छिदता, जीभ भी नहीं भिदती, रूपया-पैसा कुछ घट नहीं जाता और दरिद्रता भी नहीं आती। इस प्रकार अपनी जीभ से मधुर और कोमल वचन बोलने में तुम्हें हानि कुछ भी नहीं होती, अपितु सुनने वाले सब जीवों के मन को बड़ा सुख प्राप्त होता है। अत: कोमल वचन ही बोलो, कटुक वचन मत बोलो। हित-मिष्ट मधुर वचन बोलना वैयावृत्ति करना है जो हित, मिष्ट, मधुर वचन बोलकर दूसरों के दुखित हृदय पर सांत्वना की मरहम लगाकर दु:ख का प्रतिकार करते हैं उनको वैयावृत्त्य तप होता है।

हे भाई! यदि तुम्हारे ऊपर भयानक असाता कर्म का अचानक उदय आ गया है तो तुम इससे अधीर क्यों होते हो, क्योंकि अब इसे टालने में कोई समर्थ नहीं है। स्वयं तुमने अपनी इच्छानुसार प्रवर्तन करके जो जो पाप पहले कमाये थे, वे ही अब अपना उदय काल आने पर तुम्हारे पास आये हैं। तुम्हारे कर्मो के इस फल को अब दूसरा कोई नहीं बाँट सकता, तुम्हें स्वयं अकेले ही भोगना पड़ेगा। अत: अब चिन्तित या उदास होने से कोई लाभ नहीं है। चिन्ता करने से या उदास रहने से दु:ख मिट नहीं जावेगा। अत: मेरे सयाने भाई, तुम मात्र ज्ञाता, दृष्टा बने रहो, तमाशा देखने वाले बने रहो। जो व्यक्ति इस प्रकार दूसरे पीड़ित व्यक्ति को संबोधन देकर और पीड़ा से ध्यान हटाकर उसे धर्म में स्थित करता है, उसको वैयावृत्य तप होता है।

भगवान महावीर कहते थे कि मेरी भक्ति चाहे मत करो लेकिन पड़ौस में जो तड़प रहा है, जो दुख से पीड़ित है उसकी वैयावृत्ति करो, वह ही सच्ची भक्ति है। वैयावृत्ति प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए इससे आत्मिक शान्ति और आनन्द मिलता है। प्राणी मात्र के लिए सेवा का भाव होना ही वैयावृत्य तप है। प्राणी मात्र की रक्षा का भाव होना ही सच्चा वैयावृत्य तप है।

एक जज साहब कार से सुबह के समय अदालत जा रहे थे। रास्ते में एक कुत्ता नाली में फंसा हुआ था। वह चिल्ला कर तड़प रहा था। दु:ख भरी आवाज सुनकर जज साहब को लगा कि वह मुझे ही पुकार रहा है कि मैं फंसा हुआ हूँ आकर मुझे निकाल दो। जज साहब कार रोकते हैं और कुत्ते के पास पहुँच जाते हैं। उनके दोनों हाथ झुक जाते हैं कुत्ते को निकालने के लिए। याद रखो सेवा वही कर सकता है जो झुकना जानता है। सागवान का पेड़ सीधा चला जाता है वह झुकना जानता ही नहीं। सागवान के पेड़ की तरह

सीधा रहने वाला सेवा कर नहीं सकता। जज साहब ने कुत्ते को निकाला और बाहर निकलते ही कुत्ते ने अपना शरीर हिलाया और सारे कपड़े गन्दे कर दिये कीचड़ के छीटों से, लेकिन जज साहब रूके नहीं, घर लौटे नहीं, उन्हीं वस्त्रों में पहुँच गये, अदालत में। सभी चकित किन्तु जज साहब के चेहरे पर अलौकिक आनन्द की एक अद्‌भुत आभा खेल रही थी। लोगों के पूछने पर वे बोले कि मैंने अपने हृदय की तड़पन मिटाई। वास्तव में हम दूसरों की सेवा करके अपनी वेदना मिटाते हैं।

आचार्य कहते हैं कि मुनिराज को लेने जाना, उन्हें दूसरे स्थान तक छोड़ने जाना, उनके प्रवचन सुनना, उनसे तत्त्व चर्चा करना, मुनिराज के पास जीव दया के उपकरण एवं साधन पिच्छी आदि समुचित हैं कि नहीं, कमण्डल ठीक है कि नहीं आदि व्यवस्था करना, स्वाध्याय के लिए शास्त्र उपलब्ध कराना, उनके ठहरने की समुचित व्यवस्था करना, योग आदि की परीक्षा करके औषधि आदि देना, आहार दान देना, चटाई आदि की व्यवस्था करना आदि वैयावृत्ति है।

कूलर, पंखे, ए.सी., हीटर, हैलोजन, मोबाइल फोन, फोन, गाड़ी, बग्गी आदि की व्यवस्था नहीं करना। संयमी व्रतियों को धन नहीं देना। उनसे अथवा उनके सामने राग-रंग की बातें नहीं करना, नृत्य आदि नहीं करना, हिंसक कार्य नहीं करना, शरीर में तेल लगाकर तौलिये से नहीं पौंछना। कोढ़, पेट के रोग, आमवात, संग्रहणी, कठोदर, सफोदर, नेत्र शूल, शिरशूल, दंतशूल तथा ज्वर, कास, श्वास, जरा इत्यादि रोगों से पीड़ित जो मुनि तथा श्रावक हैं उनको निर्दोष आहार, औषधि, वसतिका आदि देकर सेवा शुश्रूषा करना, विनय करना, आदर करना, दु:ख दूर करने का यत्न करना वह सब वैयावृत्ति हैं। जो तप द्वारा तपे हुए हैं। किन्तु उनके रोग सहित शरीर के दु:ख को देखकर प्रासुक औषधि तथा पथ्य आदि द्वारा उनके रोग का उपशमन करना, वैयावृत्य भावना है।

मुनियों के दशभेद होने से वैयावृत्ति के भी दश भेद हैं। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकार के मुनियों की परस्पर में वैयावृत्ति होती है। काय की चेष्टा द्वारा अन्य द्रव्यों से दु:ख वेदन आदि दूर करने का कार्य-व्यापार करना, प्रवर्तन कराना, वैयावृत्ती है।

दश प्रकार के मुनियों का स्वरूप - मोक्ष सुख के बीज रूप जो व्रत हैं उनको जो आदर सहित ग्रहण करके अपने हित के लिए पालते, आचरण करते हैं ऐसे सम्यग्ज्ञान आदि गुणों के धारक आचार्य हैं। जिनका समीप्य प्राप्त करके जो आगम का अध्ययन करते हैं, ऐसे व्रत, शील, श्रुत के आधार उपाध्याय हैं। जो महान अनशनादि तप करने वाले हैं वे तपस्वी हैं। जो निरन्तर श्रुत के शिक्षण में तत्पर तथा व्रतों की भावना में तत्पर रहते हैं वे शैक्ष्य हैं। रोगादि के द्वारा जिन का शरीर दु:खी हो वे ग्लान हैं। जो वृद्ध मुनियों की परिपाटी के हों वे गण हैं। दीक्षा लेने वाले आचार्य के जो शिष्य हैं वे कुल हैं। ऋषि, यति, मुनि, अनगार इन चार प्रकार के मुनियों का जो समूह है वह संघ है, बहुत समय से जो दीक्षित हों वे साधु हैं। जो विद्वत्ता,

वक्तृत्त्व ऊँचे कुल, प्रसिद्ध गुरु का शिष्य के रूप में धर्म का, गुरुकुल का, गौरव उत्पन्न करने वाले हों-बढ़ाने वाले हों, वे मनोज्ञ हैं अथवा असंयत सम्यग्दृष्टि भी संसार के अभाव रूप होने के कारण मनोज्ञ हैं।

उपर्युक्त दश प्रकार के मुनियों को रोग हो जाय, परिषहों से दुखी होकर तथा श्रद्धानादि बिगड़ जाने से मिथ्यात्व आदि को प्राप्त हो जायें तो प्रासुक औषधि, भोजन-पानी, उचित स्थान, आसन, तख्त, तृणादि की बिछावन करके, पुस्तक, पीछी आदि धर्मोपकरण द्वारा प्रतिकार-उपकार करना तथा पुन: सम्यक्त्व में स्थापित करना इत्यादि वैयावृत्य है। यदि बाह्य भोजन-पानी, औषधि देना सम्भव नहीं हो तो अपने शरीर द्वारा ही उनका कफ, नाक का मैल, मूत्रादि दूर कर देने से तथा उनके अनुकूल आचरण करने से वैयावृत्य होती है।

वैयावृत्य से संयम की स्थापना, ग्लानि का अभाव, प्रवचन में वात्सल्य, सनाथता इत्यादि अनेक गुण प्रकट होते हैं। वैयावृत्यी परम धर्म है। वैयावृत्य न होने से मोक्षमार्ग बिगड़ सकता है। आचार्य आदि अपने शिष्य, मुनि, रोगी इत्यादि की वैयावृत्यी करने से विशुद्धता व उच्चता को प्राप्त हो जाते हैं। श्रावक मुनियों की वैयावृत्य करें तथा श्राविकायें आर्यिकाओं की वैयावृत्य करें।

औषधिदान द्वारा वैयावृत्यी करें। भक्ति पूर्वक युक्ति से देह का आधार, आहार दान देकर वैयावृत्य भी करें। कर्म के उदय से कोई दोष लग गया हो तो उसे ढांकना, श्रद्धान से चलायमान हो गया हो तो उसे सम्यग्दर्शन ग्रहण कराना, जिनेन्द्र के मार्ग से बिछुड़ गया हो तो उसे मार्ग में स्थापित कराना इत्यादि उपकार द्वारा भी वैयावृत्ति होती है।

जो आचार्य आदि गुरू, शिष्य को श्रुत के अंग पढ़ाते हैं तथा व्रत संयम आदि की शुद्धि का उपदेश देते हैं, वह शिष्य की वैयावृत्ति है। शिष्य भी गुरुओं की आज्ञा के अनुसार प्रवर्तता हुआ गुरुओं के चरणों की सेवा करे, वह आचार्य की वैयावृत्ति है।

अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा को राग-द्वेष आदि दोषों से लिप्त नहीं होने देना, अपने आत्मा की वैयावृत्यी है। अपने आत्मा को भगवान के परमागम में लगा देना एवं दशलक्षण धर्म में लीन हो जाना, वह अपने आत्मा की वैयावृत्यी है। काम, क्रोध, लोभ आदि तथा इंद्रियों के विषयों के आधीन नहीं होना भी अपने आत्मा की वैयावृत्यी है।

रोगी मुनियों तथा गुरूओं का प्रात: एवं संध्याकाल शयन, आसन, कमण्डल, पीछी, पुस्तक अच्छी तरह नेत्रों से देखकर मयूर पीछी से शोधन, अशक्त रोगी मुनि का आहार-औषधि आदि द्वारा संयम के योग्य उपचार करना, शुद्ध ग्रन्थ को वाचकर धर्म का उपदेश देकर परिणामों को धर्म में लीन करना तथा उठाना बैठाना मल-मूत्र कराना, करवट लिवाना इत्यादि सब वैयावृत्यी है। कोई साधु रास्ते में दु:खी हुआ हो, भील, म्लेच्छ, दुष्ट राजा, दुष्ट तिर्यंचों द्वारा दु:खी हुआ हो, उपद्रव हुआ हो, दुर्भिक्ष, मरी-व्याधि इत्यादि

उपद्रवों से पीड़ा होने से परिणाम कायर हुए हों तो उसे स्थान देकर कुशल पूछकर आदर से सिद्धान्त की शिक्षा देकर स्थितिकरण करना वैयावृत्यी है। जो समर्थ होकर के भी अपने बल-वीर्य को छिपाकर वैयावृत्यी नहीं करता है, वह धर्म रहित है, उसने तीर्थंकरों की आज्ञा भंग की, श्रुत द्वारा उपदेशित धर्म की विराधना की, अपना आचार बिगाड़ लिया, प्रभावना नष्ट की, धर्मात्मा का आपत्ति में भी उपकार नहीं किया, तब धर्म से विमुख हुआ एवं श्रुत की आज्ञा लोपने से परमागम से पराङ्मुख हुआ।

वे धन्य हैं जो काम को मारकर, रागद्वेष को त्यागकर एवं इंद्रियों को जीतकर आत्मा के हित में उद्यमी हुए हैं। वे लोकोत्तर गुणों के धारी हैं। इस प्रकार के गुणों में परिणाम वैयावृत्यी से ही होते हैं। जैसे-जैसे गुणों में परिणाम मग्न होते हैं वैसे-वैसे श्रद्धान बढ़ता है। जब श्रद्धान बढ़ता है एवं धर्म से प्रीति बढ़ती है तब धर्म के नायक अरहन्तादि पंच परमेष्ठि के गुणों में अनुराग रूप भक्ति बढ़ती है। भक्ति कैसी होती है? मायाचार रहित, मिथ्याज्ञान रहित, भोगों की वांछा रहित, मेरु के समान निष्कंप, अचल, ऐसी जिनभक्ति जिसे होती है उसे संसार के परिभ्रमण का भय नहीं रहता है। ऐसी भक्ति, धर्मात्मा के वैयावृत्यी से होती है। पाँच महाव्रतों सहित, कषायों से रहित, रागद्वेष को जीतने वाले, श्रुतज्ञान रूप रत्नों के निधान ऐसे पात्र का लाभ वैयावृत्यी करने वाले को होता है। जिसने रत्नत्रय धारी की वैत्यावृत्ति की उसने रत्नत्रय से स्वयं को तथा दूसरों को मोक्षमार्ग में स्थापित कर लिया। जिसने आचार्य की वैयावृत्ति की है उसने सम्पूर्ण संघ की सर्वधर्म की वैयावृत्ति की, भगवान की आज्ञा पाली, अपने तथा अन्य के संयम की रक्षा की, शुभध्यान की वृत्ति तथा इन्द्रियों का निग्रह किया, रत्नत्रय की रक्षा की, अत्याधिक दान दिया, निर्विचिकित्सा गुण को प्रकट किया एवं जिनेन्द्र के धर्म की प्रभावना की। धन खर्च कर देना सुलभ है किन्तु रोगी की सेवा करना दुर्लभ है। अन्य के अवगुण ढ़कना, गुण प्रकट करना इत्यादि गुणों के प्रभाव से तीर्थंकर नाम की प्रकृति का बंध होता हैं। यह वैयावृत्ती में उत्तम है। जो श्रावक या साधु वैयावृत्ती करता है वह उत्कृष्ट निर्वाण को प्राप्त करता है। जो अपनी सामर्थ्य के अनुसार छह काय के जीवों की रक्षा करने में सावधान है, उससे समस्त प्राणियों की वैयावृत्यी होती है।

उपर्युक्त वैयावृत्य का कथन व्यवहार दृष्टि से किया गया है परन्तु वास्तविक वैयावृत्ति तो निज आत्मा की होती है। निज आत्मा की वैयावृत्ति करने से कर्मों की श्रृंखला टूट जाती है और यही श्रेयस्कर है। आचार्य कहते हैं कि वैयावृत्ति तो निज आत्मा की है पुद्‌गल की कैसी वैयावृत्ति? जिस प्रकार गंदे पानी में निर्मली डालकर निर्मलता लाई जाती है उसी प्रकार आत्मा से विकारी भावों को समाप्त करना, कर्मों के लेप को उतारकर आत्मा में पूर्ण निर्मलता लाना ही वैयावृत्ति होती है।

पूजन में हम पढ़ते हैं-

निशदिन वैयावृत्य करैया, सो निहचै भव नीर तिरैया।

जो सर्वदा वैयावृत्ति करता है, वह निश्चय से संसार-सागर को पार कर जाता है। परम वीतरागी जिनेन्द्र मार्गी मुनि को नमस्कार करने से उच्च गोत्र प्राप्त होता है। शुद्ध निर्दोष आहार देने से उत्तम भोगभूमि, देवगति के सुख, चक्रवर्ती पद की प्राप्ति और परम्परा से मोक्ष प्राप्त होता है।

राजा वज्रजंघ अपनी रानी श्रीमति तथा चार मंत्रियों के साथ अपनी ससुराल जा रहे थे। रास्ते में एक जंगल में युगल ऋद्धिधारी मुनियों के दर्शन हुए। उन्होंने जंगल में ही मुनिराजों को आहार दान दिया। साथ में चारों मंत्री थे और उस जंगल में चार तिर्यंच व्याघ्र, सूकर, नेवला और सर्प भी बैठकर आहार की अनुमोदना कर रहे थे। आहार के बाद राजा वज्रजंघ ने मुनिराज से वहाँ उपस्थित जीवों के भविष्य के भवों के बारे में पूछा। तब मुनिराज ने बताया कि तुम भविष्य में भरतक्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर बनोगे और यह तुम्हारी रानी तुम्हें प्रथम आहार दान कराके दान तीर्थ का आरम्भ करेगी। चारों मंत्री एवं ये चारों तिर्यंच तुम्हारे पुत्र होंगे और मोक्ष जायेंगे। राजा वज्रजंघ अगले भव में आदिनाथ बने और रानी श्रीमति का जीव राजा श्रेयांस हस्तिनापुर का राजा बना और एक वर्ष के पश्चात् भगवान आदिनाथ को इक्षुरस का प्रथम आहार दान देकर दानतीर्थ का प्रवर्तक कहलाया। बाकी आठों जीव भरत, बाहुबलि, अनन्त वीर्य आदि पुत्र बनकर मोक्ष गये। इसलिए आचार्य कहते हैं कि वैयावृत्ति तप को जीवन में अपनाओ और कर्मो की श्रृखला तोड़कर परम पद मोक्ष को प्राप्त करो क्योंकि वैयावृत्ति करने से परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सर्वार्थसिद्धि में लिखा है-

समाध्याधानविचिकित्साभावप्रवचनवात्सल्याद्यभिव्यक्त्यर्थम् ।24

यह समाधि की प्राप्ति, विचिकित्सा का अभाव और प्रवचन वात्सल्य की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव प्रवचनसार में लिखते हैं कि -

वेज्जा वच्च णिमित्तं गिलाण गुरू बाल बुड्ढ समणाणं।
लोगिग जण संभासण णिंदिदवा सुहोव जुदा।।२५३।।
ऐसो पसत्थ भूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं।।२५४।।

रोगी, गुरू, बाल, वृद्ध, श्रमणों की वैयावृत्ति के निमित्त शुभोपयोग युक्त लौकिक जनों के साथ की बातचीत निन्दित नहीं है। यह प्रशस्त चर्या राग सहित होने के कारण श्रमणों को गौण होती है और गृहस्थों को क्रमशः परम निर्वाण सौख्य का कारण होने से मुख्य है। ऐसा शास्त्रों में कथन है।

जिस सम्यक्त्व, ज्ञान, अरहन्त भक्ति, बहुश्रुतभक्ति एवं प्रवचन, वात्सल्य आदि से जीव वैयावृत्ति में लगता है वह वैयावृत्य योग अर्थात् दर्शनविशुद्धतादि गुण हैं। उनसे संयुक्त होने का नाम वैयावृत्तयोगयुक्तता है। इस प्रकार उस एक ही वैयावृत्त्ययोगयुक्तता से तीर्थंकर नाम कर्म बँधता है। इस प्रकार इसमें बाकी भावनाओं का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

गृहस्थ का परम कर्त्तव्य है कि उसको वैयावृत्ति करना चाहिए, जो परम्परा से निर्वाण का कारण है।

बन्धुओं! अपने जीवन में वैयावृत्यकरण भावना का समावेश करके अपने जीवन को सार्थक बनायें।

वर्तमान में सेवा का नजरिया बदल गया है। उसमें बहुत सारी विकृतियाँ आ गई हैं। व्यक्ति के लिए भौतिक सुख-सुविधा की चीजे देकर धर्मान्तरण के लिए प्रेरित करना, आजीविका के हिंसक तरीके अपनाकर उससे कमाए गए धन से सेवा, दान, पुण्य करना, यह सच्ची सेवा नहीं है। श्रद्धा, विवेक और सदाचरण के द्वारा अपना और सब जीवों का चरित्र-निर्माण करना सच्ची सेवा है। सभी जीव सुखी रहें, सभी का कल्याण हो और किसी जीव को दु:ख न हो ऐसी पवित्र भावना यदि हो तो ही सच्ची सेवा हो सकेगी। विनोबाजी ने लिखा है कि किसी अभावग्रस्त व्यक्ति को मात्र रोटी-कपड़ा दे देना उसकी समस्या का समाधान नहीं है, न ही यह उसकी सच्ची सेवा है। उसे आत्मनिर्भर बनाना, सदाचारी बनाना ही सच्ची सेवा है। इसीलिए आचार्य भगवन्तों ने पहले ही कह दिया कि जो सच्चे मार्ग पर चल रहा है या जो सच्चे मार्ग पर चलना चाहता है उसकी सेवा करना।

'व्यापत्ति व्यपनोदः, पदयो संवाहनं च गुण रागात
वैयावृत्यं' यावा नुपग्रहोऽन्योपि संयमिनाय।

सच्चे मार्ग पर चलने वाले के प्रति श्रद्धा भाव से, प्रेम भाव से जो उसका दु:ख दूर करने के लिए पैर आदि दबाकर सेवा की जाती है वह सच्ची सेवा है। पैर आदि दबाने का अर्थ सिर्फ शरीर की सेवा करना नहीं है। यह तो उपलक्षण मात्र है। इसके अन्तर्गत दान देने वाला बड़ा है। उसके दान से धर्म और धर्मात्मा की रक्षा होती है। आहार-दान देते समय श्रावक का हाथ साधु से ऊपर रहता है। सभी लोग हँसने लगे। आचार्य महाराज भी हँसकर बोले कि पण्डितजी यह भी तो बताओ कि ऊपर वाले का हाथ काँपता रहता है या नीचे वाले का। सब लोग चकित रह गए। इतना सटीक जवाब था कि देने वाला बड़ा नहीं है बड़ा तो लेने वाला है जो देने वाले पर कृपा करके उसके दान को स्वीकार कर रहा है। अगर लेने वाला, दान को स्वीकार न करे तो दान देने वाले का दान, सेवा करने वाले की सेवा व्यर्थ हो जाएगी। विनोबा जी ने लिखा कि ''अच्छा है साधु-जनों को भी भूख लगती है तभी तो हमें अतिथि-सत्कार करने का सौभाग्य मिलता है।''

दूसरी बात कि सेवा निःस्वार्थ भाव से की जानी चाहिए। सेवा का फल तो महान है जो स्वयं ही मिलेगा, माँगने या चाहने की जरूरत नहीं है। **'निशि-दिन वैयावृत्य करैया सो निहचै भर-नीर तरैया।'** जो दिन-रात सेवा या वैयावृत्ति करने की भावना रखता है वह निश्चित ही भव-सागर से पार हो जाता है। भाई, वृक्ष के नीचे पहुँच कर छाया माँगनी नहीं पड़ती, वह तो स्वयमेव मिल जाती है। इसलिए सेवा करने से मुझे यश-ख्याति मिलेगी, मेरी प्रशंसा होगी, आगामी जीवन में स्वर्ग का वैभव मिलेगा, ऐसी आकांक्षा नहीं करनी चाहिए।

एक बात और है कि हम जिसकी सेवा करें उसके गुणों के प्रति हमारे मन में अनुराग होना चाहिए। गुणों के प्रति अनुराग होता है तो सेवा करने में प्रसन्नता होती है। सेवा करते समय मन गद्गद हो जाता है। मन में ग्लानि का भाव नहीं आता है। अनादर या अश्रद्धा का भाव नहीं आता। स्वयं भी गुणवान बनने की प्रेरणा मिलती है।

सेवा बड़ी प्रेममयी होती है। सेवा से मन का कालुष धुल जाता है। परस्पर प्रेमभाव बढ़ जाता है। पहले हम जब ऐलक थे तो रात्रि के समय आपस में साधुजन एक दूसरे की वैयावृत्ति करते थे। पैर दबाते थे। ऐसा करने से हमने देखा कि परस्पर धर्मानुराग बढ़ जाता था। मन प्रफुल्लित हो जाता है। परस्पर एक दूसरे के मन से द्वेष-भाव या कलुषता हट जाती थी। यदि हमारे मन से प्राणी मात्र के प्रति द्वेष-भाव समाप्त हो जाए तो यह वैयावृत्ति की भावना हमारे जीवन को तीर्थंकरों जैसा निर्मल बनाने में सक्षम है।

अंत में एक बात और कहनी है कि हम साधुजनों की सेवा बिना प्रदर्शन के करें। सेवा का प्रदर्शन करने से उसका महत्त्व घट जाता है। हम जिसकी सेवा कर रहे होते हैं उसे भी हमारी प्रदर्शन की भावना देखकर सेवा कराने का मन नहीं होता। आचार्य महाराज कहते हैं कि सेवा तो चुपचाप होनी चाहिए। मान लीजिए किसी साधु को व्याधि हो गई और हम उसका उपचार कर रहे हैं। औषधि, पथ्य आदि दे रहे हैं तो वह हमारा कर्त्तव्य है, हम उसका ढिंढोरा न पीटें। साधु का उपचार मैंने किया है ऐसा अहंकार मन में न लाएँ। देखो, डॉक्टर भी जब रोगी का उपचार करता है तो कहता है कि 'आई ट्रीट, ही क्योरस'। मैंने रोग ठीक कर दिया या मेरे उपचार से रोग ठीक हो गया ऐसा श्रेय खुद नहीं लेता। ठीक भी है साता कर्म का उदय आने पर रोग ठीक होता है उपचार करने वाला तो निमित्त मात्र है।

श्रीकृष्ण के बारे में एक घटना प्रसिद्ध है। वे मुनिराज के दर्शन करने गए तो उन्हें लगा कि मुनिराज अस्वस्थ नजर आ रहे हैं। वे एक जीवंधर वैद्यजी को अपने साथ लेकर गए। वैद्यजी ने रोग का निदान करके औषधि बता दी। श्रीकृष्ण ने बिना किसी से कहे उस औषधि की व्यवस्था मुनिराज के आहार में करा दी और उस रोग की औषधि के लड्डू बनवाकर सभी घरों में भिजवाते रहे। जिस घर में उन मुनिराज का आहार होता वहीं आहार के साथ मुनिराज को लड्डू दिये जाने लगे और धीरे-2 वह रोग ठीक हो गया।

औषधि-उपचार से मुनिराज स्वस्थ हो गए। कहते हैं वैयावृत्ति की ऐसी सहज पवित्र भावना से श्रीकृष्ण को तीर्थंकर प्रकृति का बंध हुआ और वे वैद्यजी जिन्होंने औषधि बताई थी उन्हें मन में ऐसा भाव आ गया कि मेरे द्वारा मुनिराज का रोग ठीक हुआ है। मुनिराज को मेरी प्रशंसा करना चाहिए थी। मुझे विशेष सम्मान मिलना चाहिए था। उनके ऐसे भाव बिगड़ जाने से उनको तिर्यञ्च गति मिली। वे बंदर हुए थे। बाद में बंदर की पर्याय में जातिस्मरण होने पर अपनी पूर्व पर्याय का ज्ञान हुआ, अपनी भूल का पश्चाताप हुआ। तब जाकर उनका कल्याण हुआ था।

अपने को साधुजनों की वैयावृत्ति का भाव सदा बनाए रखना चाहिए। वैयावृत्ति स्व-पर कल्याणकारी है। तीर्थंकर जैसा महान पद भी इसके निमित्त से मिल सकता है।

जो चारित्र में दृढ़ है ऐसे साधुओं के कोई विघ्न रोग संकट आने पर उसे औषधि आदि द्वारा दूर करना, इसका नाम वैय्यावृत्यकरण है। इसका दूसरा अर्थ है तेल आदिक लगाकर सेवा करना। इस वैय्यावृत्ति से भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। वैयावृत्ति से दोनों लोकों में यश फैलता है।

श्री उमास्वामी सूरि कहते है आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य ग्लान, गण, कुल, संध, साधु और मनोज्ञ, इन १० प्रकार के मुनियों के संक्लेश दूर करने के लिये साधु या श्रावक जो कुछ भी उपचार करते हैं साधु साधु की यहाँ तक आचार्य भी कोई आपत्ति आने पर साधु की वैय्यावृत्यी करते हैं। फिर श्रावक का तो कहना ही क्या? इस वैय्यावृत्य से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। श्रीकृष्ण ने एक रोगी मुनि को औषधी मिश्रित आहार दिया था वेंभविष्य में तीर्थंकर होंगे। इस तरह के अनेकों दृष्टांत है। वैय्यावृत्य का दूसरा नाम सेवावृत्ति भी है। निःस्वार्थ सेवा ही सच्ची सेवा है। एक स्वयं भक्ति से सेवा करना और एक पैसा लेकर साध ु संतों की सेवा करना दोनों में महान अंतर है।

चाह नहीं मैं राज्य संपदा, को पाकर इठलाऊँ।
चाह यही दीनों की सेवा, करके मैं सुख पाऊँ।।

हमारा कर्त्तव्य क्या है? प्राणिमात्र के साथ मैत्री भाव रखना, दीन दुखियों की सेवा करना, गुणी जनों के प्रति वात्सल्य एवं दुर्जनों के प्रति माध्यस्थ भाव रखना, यही हमारा परम कर्त्तव्य है। क्योंकि गरीबों की जो सहायता करता है वही महान बनता है। जैसा की कहा भी है -

आभरण इस देह का बस एक पर उपकार है।
हार को भूषण कहे, उस नर को शत धिक्कार है।।

यदि कोई कहे सेवावृत्ति से प्रयोजन क्या है? सेवा वृत्ति से परस्पर में प्रेमभाव बढ़ता है परभव में निरोग शरीर मिलता है। यहां तक साधु-संतों की सेवा करने से हमें तीर्थंकर प्रकृति का भी बंध बंधता है। कहा भी है-

आगते स्वागतं कुर्यात्, गच्छतं न निवारयेत।
तिष्ठतं कारयेत सेवां, एष धर्म सनातनः।।

मतलब यह है कि यदि कोई भी पास आवे तो उसका स्वागत करो, यदि शक्ति नहीं हो तो जाते हुए को रोको मत और यदि वह ठहर गया है तो उसकी तन, मन, धन से यथाशक्ति सेवा करो, 'यही सनातन धर्म हैं' उमास्वामी सूरि ने लिखा है '**परस्परो पग्रहों जीवानां**' अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा, नदी, मेघ, वृक्ष,पशु आदि ये सभी परोपकार रूप से ही जीवित हैं। फिर यदि मनुष्य उपकार करना भूल जावे तो समझों उसका जीवन ही व्यर्थ है। संसार में ऐसे भी व्यक्ति हैं जो गुरूकुल विद्यालय आदि पाठशाला के माध्यम से बच्चों के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर रहे हैं। इसी प्रकार से विदुषीरत्न पं. सुमतिबाई शाह एवं पं. विद्युल्लता ने भी अपना सारा जीवन इन्हीं देव शास्त्र गुरु की भक्ति में अर्पण किया जिन्होंने बड़ी-बड़ी संस्थाओ के माध्यम से जैन साहित्य का प्रचार प्रसार किया एवं बालक-बालिकओं के लिए अमूल्य विद्यादान दिया। इससे बढ़कर और सेवावृत्ति क्या होगी ? हमारा कर्त्तव्य है कि हम इन संस्थाओं में आर्थिक सहयोग देकर विशेष उन्नति करे। जिनके माध्यम से हमारी 'जैन संस्कृति' एवं श्रमण संस्कृति विकास को प्राप्त हो। क्योंकि 'भावना भव नाशिनी' हमारी भावना विशुद्ध है तो वह मुक्ति को भी प्राप्त करा सकती है। संसार में सब भावों का ही खेल है।

भूतिलक नगर में धनपति नाम का वैश्य रहता था। उसने रत्नमयी प्रतिमायें एवं मणिमय छत्र आदि उपकरणों से शोभित एक जिनभवन बनवाया। वह सेठ किसी दुर्व्यसनी, कपटी ब्रह्मचारी को मन्दिर में रखकर आप दूसरे द्वीप को चला गया।

इसी बीच में उस धूर्त ने सभी उपकरण एवं प्रतिमाओं की चोरी की। जिस पाप के फल से उसके शरीर में कोढ़ हो गया और वह रौद्र-ध्यान से मरकर सातवें नरक गया। वहाँ से निकलकर महामत्स्य हुआ पुनः नरक गया, इस प्रकार नरकों के दुःख भोगकर वह त्रस, स्थावर आदि पर्यायों में अनंत काल तक भ्रमण करता रहा। क्योंकि पाप का घड़ा अवश्य फूटता है।

पुनः वह कामवृष्टि नामक ग्रामपती की पत्नी मृष्टदाना के गर्भ में आया। गर्भ में आते ही इसके पिता व परिवार आदि की मृत्यु हो गई। जन्म लेते ही इसका नाम 'अकृतपुण्य' रखा गया। कामवृष्टि के 'सुकृतपुण्य' नाम का एक सेवक था। इस तरह मृष्टदाना दूसरों की नौकरी करके अपना पेट भरती थी। अकृतपुण्य धीरे-धीरे बड़ा हुआ। जब एक दिन खेत पर जाकर 'सुकृतपुण्य' से चने मांगा, इसने अपने स्वामी का पुत्र समझकर इसे दीनारों को दिया पर वे दीनारे भी इसके हाथ में पहुँचते ही अंगार बन गई। तब उसे चने दिये गमछा फटा होने से वह चने भी गिरते गये और बहुत थोड़े से बचे। जब वह चने लेकर मां के पास गया, माँ को यह देखकर बड़ा दुःख हुआ। उसने एक दिन कहा- यह सुकृतपुण्य मेरा सेवक था आज

मेरा पुत्र इसका सेवक बन रहा है। ऐसा सोचकर पुत्र को लेकर घर से निकल पड़ी और एक गाँव में जाकर गाँव के स्वामी बलभद्र के घर में भोजन बनाने का काम करने लगी और अकृतपुण्य बछड़ों का पालन करने लगा। अब प्रतिदिन बलभद्र के सातों पुत्र खीर खाते। यह देखकर रोते हुए एक दिन अकृतपुण्यनेभी दरबार-खाने की ज़िद की, जिससे रूष्ट होकर बलभद्र के पुत्रों ने इसे जोरों से गाल पर चाँटा मारा। जिसे देखकर बलभद्र ने इसकी माँ को खीर बनाने हेतु सारा सामान दे दिया। माँ ने खूब स्वादिष्ट खीर बनाकर अकृतपुण्य से कहा- बेटा! मैं पानी भरने जा रही हूँ यदि इसी बीच में कोई साधु आ जावे तो उन्हें रोक लेना, जाने मत देना। होनहार की बात इसी बीच में एक मासोपवासी ऋषि आ गये। बालक ने कहा "**महाराज! रुकिये मेरी मां ने खीर बनाई है महाराज जी आगे जाने लगे तब बालक ने महाराज का पैर पकड़ लिया और कहा मैं जाने नहीं दूंगा, जब तक आप खीर नहीं खाओगे, तब तक मुझे भी खीर खाने को नहीं मिलेगी। महाराज मुस्कराकर वहीं पर ठहर गये।**" इतने में मां ने आकर गुरू को पड़गाहन करके नवधाभक्ति के साथ आहार दिया। वह बालक मुनि के आहार को देखकर आनन्द में मग्न हो रहा है। आहार के बाद मृष्टदाना ने सारे गाँव को भोजन कराया फिर भी भोजन कम नहीं हुआ क्योंकि वे ऋषि अक्षीण महानसऋद्धि के धारी थे। वह बालक भी खीर खाकर जंगल में जाकर वृक्ष के नीचे सो गया। वे सभी बछड़े घर वापस आ गये। यह देखकर चिंतित होकर मृष्टदाना अकृतपुण्य को जंगल में खोजने गई। सर्प के काटने से मृत बालक को देखकर सभी को महान् दु:ख हुआ। पुन: बलभद्र, धनपाल सेठ तथा मृष्टदाना प्रभावती हुई और बलभद्र के पुत्र देवदत्तादि हुये और अकृतपुण्य का जीव मरकर दान की अनुमोदना से धन्यकुमार नाम का पुत्र हुआ। सत्पात्र दान के प्रभाव से इसके नाल गाड़ने को जहाँ भूमि खोदी वहाँ पर रत्नों का बड़ा घड़ा निकला। जहाँ पर इसके चरण पड़ते वहीं पर संपत्ति मिलती। खेत पर गया तो वहाँ पर भी रत्नों का घड़ा निकला। इस प्रकार सभी कलाओं में निपुण, वृद्धि को प्राप्त होकर यह धन्यकुमार नवनिधि का स्वामी हो गया। यह देख इसके सभी भाई इससे जलने लगे और छल से ले जाकर इसे बावड़ी में गिरा दिया। अन्त में अपने भाई के दुर्व्यवहार को देखकर वह देशान्तर को चला गया। एक सेठ की दुकान पर जाकर बैठा सेठ ने यह घोषणा की जो पुरुष एक कौड़ी द्वारा एक हजार दीनार को मुझे देगा उसको अपनी पुत्री दूँगा। धन्यकुमार इस कार्य में सफल हुआ। पुन: राजा श्रेणिक ने यह घोषणा की जो राक्षस भवन में प्रविष्ट होगा उसे आधा राज्य और कन्याओं को दूँगा। धन्यकुमार इस कार्य में भी सफल हुआ जगह-जगह उसे कन्याओं का लाभ और राजा श्रेणिक द्वारा आधा राज्य एवं सोलह कन्याओं द्वारा शादी हुई। ये सब ध न्यकुमार के पूर्व कृत पुण्य कर्म का ही फल है और दान की महिमा है।

अब तो धन्यकुमार उसी भवन के चारों ओर नगर की रचना कराकर राज्य करता हुआ वहीं पर सुख से रहने लगा।

उधर धन्यकुमार के सातों भाई एवं माता-पिता की बड़ी दुर्दशा हुई। वे निकलकर उसी राजगृह नगर में पहुँचे। जब धन्यकुमार ने अपने भाई एवं माता-पिता को बड़े स्वागत के साथ लाकर उनकी बड़ी सहायता की। इससे सभी भाई अपनी करनी पर बड़े लज्जित हुए। सो ठीक ही है जो सज्जन होते हैं। उनकी पद-पद पर विजय होती है। इस प्रकार धन्यकुमार चिर काल तक राज्य सुख भोगकर अन्त में अपने पुत्र को राज्य सौंपकर, सभी भाई व माता-पिता आदि के साथ दीक्षा लेकर, घोर तप किया। अन्त में धन्यकुमार समाधिमरण करके स्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र हुये और अन्य सभी यथायोग्य गति को प्राप्त हुये।

इस प्रकार अकृतपुण्य भी जब एक बार मुनिदान की अनुमोदना करने से ऐसी विभूति को प्राप्त हुआ, फिर अन्य विवेकी पुरुषों का तो कहना ही क्या ? वें तो नियम से मुक्ति के पात्र बनेंगे।

इसी प्रकार लव-कुश भी सत्पात्र को दान देने से प्रसिद्धि को प्राप्त हुये।

कालिन्दी नगर में राजा रतिवर्धन के प्रीतिंकर और हितंकर नाम के दो पुत्र थे। दोनों पुत्र दुर्धर तप करके स्वर्ग में देव हुये। वहाँ से आकर ब्राह्मण कुल में वसुदेव और सुदेव नाम के दो पुत्र हुये। पुनः ये दोनों पुत्र सत्पात्र दान के प्रभाव से भोगभूमि में उत्पन्न हुये। पुनः स्वर्ग गये। उधर अयोध्यापुरी में बलभद्र, नारायण पद के धारक, सर्वगुणों से शोभित ऐसे राम-लक्ष्मण राज्य करते थे। पिता के वचन की रक्षा हेतु भाई भरत को राज्य देकर राम, सीता व लक्ष्मण के साथ वन को चले गये।

वहाँ पर रावण, सीता को हर ले गया, पुनः राम लक्ष्मण, रावण को मारकर सीता को वापस लाये। पुनः लोकापवाद के भय से किसी दिन राम ने गर्भवती सीता को वन में छुड़वा दिया। इधर राजा वज्रजंघ ने किसी निमित्त से उस वन में आकर दुःखी सीता को देखा और उसे धर्म बहन समझकर घर ले गये। इधर मुनि दान के प्रभाव से दोनों विप्रपुत्र (वसुदेव-सुदेव) स्वर्ग से च्युत होकर सीता के गर्भ में आकर उसी घर में जन्म लिया। इनका नाम लव और कुश रखा गया। ये दोनों बड़े राजकुमार वीर थे। सभी राजाओं को जीतकर महामण्डलेश्वर पद से शोभित हुये।

किसी दिन नारद से परिचय पाकर ये दोनों वीर अपने पिता राम एवं चाचा लक्ष्मण के साथ युद्ध करते हुये विजय श्री को प्राप्त हुये। इनकी वीरता को देखकर सभी जनता आश्चर्य करने लगी। पुनः रामचन्द्र जी ने जनता में सीता की निर्दोषता सिद्ध करने हेतु अग्नि परीक्षा ली। सीता अपने निर्दोषपने को सिद्ध करके संसार को असार समझकर पृथ्वीमती आर्यिका के पास जाकर, दीक्षा लेकर घोर तपकर के अन्त में स्वर्ग गई। राम ने भी घोर तप करके मुक्ति को प्राप्त किया। इस प्रकार एक बार दान के प्रभाव से जब दोनों विप्र पुत्र चरम शरीरी हुये फिर अन्य का तो कहना ही क्या ? इसी तरह दो विप्र पुत्र आहार दान के प्रभाव से भोगभूमि एवं स्वर्ग के सुख भोगकर सुग्रीव के भाई नल-नील हुये जो रामचन्द्र के मन्त्री थे और आरंभक नामक विप्र दान के प्रभाव से सगर चक्रवर्ती हुआ तथा धारण नाम का राजा दान के निमित्त से

दशरथ राजा हुआ और राजा भामंडल ने दान के प्रभाव से भोग भूमि में जन्म लिया और इसी प्रकार ग्रामकूट की लड़की यक्षदेवी व रुद्रदास राजा की पत्नी, वैश्यपुत्री नन्दा और राजा की पुत्री विजयश्री ये चारों आहार दान के प्रभाव से भोगभूमि व स्वर्ग के सुख भोगकर फिर मनुष्य भव में आकर कृष्ण की सुसीमा, गांधारी, गौरी एवं पद्मावती नाम की पटरानी हुई एवं ब्राह्मण कुल में प्रसिद्ध व पति में अनुरक्त सोमदेव की स्त्री ने पति से डरकर भी मुनि को आहार दिया। जिस दान के प्रभाव से वह भगवान नेमिनाथ की पत्नी राजुल हुई। इस तरह मैंने तो यहाँ पर मुख्य मुख्य नाम बताये और करोड़ों न मालूम कितने भव्य जीव इस दान के प्रभाव से संसार से तिर गये हैं। अत: सबको अपनी शक्ति के अनुसार चारों प्रकार का दान करना चाहिये।

दान की महिमा - जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में दक्षिण दिशा में मरहट देश है जिसमें धारापुरी नाम की सुन्दर नगरी है। वहीं पर यशोभद्र राजा न्याय नीति पूर्वक राज्य करता था। उसी नगरी में महीधर नामक सेठ हेमवती नाम की सेठानी भी थी। ये बड़े पुण्यवान, ५६ करोड़ के स्वामी थे। तभी इनके मकान पर ५६ झंडे फहरा रहे थे। ये दोनों प्राणी सदैव पूजन, दानादि करते थे अर्थात् धर्म कार्य में अधिक रुचि लेते थे।

इनके दो पुत्र हुए एक दुर्जन, कुटिल, मूर्ख, महासेन जिसका नाम था। दूसरा बड़ा चतुर, गुणवान वज्रसेन छोटा पुत्र था।इसने छोटी सी उम्र में ही बड़ी-बड़ी विद्यायें सीख ली थीं। इसी कारण महासेन को कोई नहीं पूछता था। वज्रसेन की शादी को बड़े-बड़े सेठ आते। पर जैसे तैसे सेठ जी ने एक निर्धन, सुशील लड़की के साथ महासेन की शादी कर दी। वज्रसेन की शादी बड़े धनवान सेठ की गुणवान पुत्री के साथ हुई। उन्होंने दहेज में बहुत सा धन दिया। जिससे महासेन, वज्रसेन से ईर्ष्या, द्वेष करने लगा। एक दिन महीध ार सेठ छत पर ध्यान कर रहे थे, अचानक बिजली गिरने से उनकी मृत्यु हो गई। समता भाव से मरकर देव हुये। राजा ने मन्त्री की राय लेकर छोटे पुत्र वज्रसेन को सेठ की पदवी देनी चाही, पर वज्रसेन ने कहा कि इस पदवी का हक बड़े भाई को ही है उनको ही दीजिये। यह सुनकर राजा बड़े प्रसन्न हुए। क्योंकि जो सज्जन होते हैं वे पद के लोलुपी होकर अन्याय कूटनीति नहीं करते। इस प्रकार राजा की पदवी महासेन को ही दी। परन्तु दरबार में वज्रसेन को ही बुलाते थे। सारा कार्य वज्रसेन ही करते थे। महासेन ने ईर्ष्यावश अपनी स्त्री से कहा कि वज्रसेन की सब आज्ञा मानते हैं मुझे कोई नहीं पूँछता, तुम वज्रसेन को जहर देकर मार दो। स्त्री बोली आपको धिक्कार है जो तुम्हें पिता तुल्य समझकर कितनी सेवा करता है। उसे तुम मारते हो। उसने कहा तुम इसे मारो नहीं तो मैं इसे मार दूँगा। स्त्री ने रो-रोकर जैसे-तैसे जहर सहित भोजन बनाकर देवर को भोजन परोसा, पर भावज की आंखों में अश्रुधारा बह गई और भोजन करने से रोक दिया और सारी बात बता दी। वज्रसेन को बड़ा दु:ख हुआ। शीघ्र जाकर अपनी पत्नी से शुद्ध भोजन बनवाया। उनके पुण्य से एक मुनि मासोपवासी आहार के लिये आये। दोनों ने झट ऋषि को पड़गाहन कर नवधा भक्ति से आहार दिया। जब देवों ने जय जय शब्द करके वज्रसेन की स्तुति की। यह देख महासेन ने स्त्री से कहा तुमने इसे क्यों नहीं मारा? उसने कहा वह बड़ा पुण्यशाली है, ऋषि को आहार दिया है। उसे मैं नहीं मार सकती। एक दिन

यशोधर राजा को किसी निमित्त से वैराग्य हो गया और पुत्र को राज्य देकर दीक्षा ले ली। जब यशोमती राजा हो गया उसने अपने मंत्री वज्रसेन को हटा दिया। अब महासेन राजा से वज्रसेन की बुराई करके उसके मकान में आग लगा दी। पर आहार दान के प्रभाव से देवों ने उसकी रक्षा की, अग्नि से निकाला। ये दोनों द्रोण नगर पहुँचे। उसी वन में एक दिन उपवासी एक ऋषि रहते थे। वे नगर में आहार को गये पर आहार नहीं मिला। राजा ने सब जगह घोषणा करा दी कि मुनि का आहार राजमहल में होगा और कहीं नहीं। यह घोषणा वज्रसेन ने नहीं सुनी। अतः फौरन उसने ऋषि को षड़गाहन कर नवधा भक्ति पूर्वक आहार दिया। देवों ने उनके घर में पुष्प-रत्नों की वर्षा की। राजा ने प्रसन्न होकर वज्रसेन को अपना मन्त्री बना लिया। उधर महासेन की बड़ी बुरी दशा हुई। उसे काला मुख करके देश से निकाल दिया और धारापुरी में वज्रसेन को बड़े स्वागत के साथ राजा लाये। वज्रसेन ने पुनः भाई महासेन को बड़े आदर के साथ ढूँढकर बुला लिया पर सर्प के समान दुर्जन, दुर्जन ही रहेंगे। एक दिन वज्रसेन ने महासेन से पूछा आप चिंतित क्यों हैं? दुष्ट महासेन बोला भाई मुझे रात दिन यही चिन्ता रहती है कि तुमको कैसे जान से मार दूँ? सुनते ही वज्रसेन को वैराग्य हो गया। सब ध ान दौलत भाई को सौंपकर सबसे क्षमा माँगकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और घोर तप में लीन हो गये। इनके साथ धारापुर के राजा और रानी सभी दीक्षित हो गये। एक दिन वज्रसेन आहार को जा रहे थे। इसने भोजन में विष मिला दिया। जब देव ने रक्षा की। दूसरे दिन ध्यान मग्न वज्रसेन को वन में तलवार लेकर मारने चला। जब देवों ने दुष्ट महासेन को कील दिया। जब राजा को मालूम हुआ तो इनका काला मुख करके देश से निकाल दिया। पुनः रौद्रभाव से मरकर नरक के दुःख भोगे। वज्रसेन ने दान व तप के प्रभाव से १६वें स्वर्ग में इन्द्र पद प्राप्त किया। इसी तरह वज्रसेन की स्त्री और सभी तप के प्रभाव से स्वर्ग में देव हुये।

देखिये दान के प्रभाव से वज्रसेन को भाई ने कितना मारने का प्रयत्न किया पर बाल बाँका भी न कर सके। इसलिये सभी को दान अवश्य करना चाहिये।

वैयावृत्ती का भाव हर किसी के हृदय में नहीं आता है।
वैयावृत्ती हर कोई इंसान आसानी से नहीं कर पाता है॥
विशद पुण्य का उदय होता जिसके अपने जीवन में।
ऐसा मुक्ती पथ का राही ही वैयावृत्ती करके जीवन को सजाता है॥

****

10

अर्हद्भक्ति भावना

मनसा कर्मणा वाचा जिन-नामाक्षरंद्वयम्।
सदैव स्मर्यते यत्र सार्हद्भक्तिः प्रकीर्तिता॥१०॥

जहाँ मन, वचन और काय से जिन नाम के दो अक्षरों (अर्हं या जिन) का स्मरण किया जाता है उसे अर्हद्भक्ति कहते हैं।

चार घातिया कर्म नाशकर, 'विशद' ज्ञान पाये।
समोशरण की सभा में बैठे, अर्हत् कहलाये॥
दिव्य देशना जिनकी पावन, जग में उपकारी।
सुहित हेतु पाते इस जग के, सारे नर-नारी॥
अर्हत् होते हैं इस जग में, सद्गुण के दाता।
अतः सार्व कहलाए भगवन्, भविजन के त्राता॥
हो अनुराग गुणों में उनके, भाव सहित भाई।
अर्हत् भक्ती गुणीजनों ने, इसी तरह गाई॥

सोलहकारण भावनाओं की श्रृंखला में आज अर्हद्भक्ति भावना का विवेचन प्रस्तुत है। इस भावना में अरिहन्त प्रभु की भक्ति की जाती है। अरिहन्त का स्वरूप क्या है, उनकी भक्ति कैसे की जाय, यह निम्न पद्य से स्पष्ट है।

देव सदा अरिहन्त भजो जई, दोष अठारा किये अति दूरा।
पाप पखाल भये अति निर्मल, कर्म कठोर किये अति चूरा।।
दिव्य अनन्त चतुष्टय शोभित, घोर मिथ्यान्ध निवारण सूरा।
ज्ञान कहे जिन राज अराधो, नित्य निरन्तर जे गुण पूरा।।

जिन्होंने अठारह दोषों का निवारण कर दिया है, पापों को धोकर अति निर्मल हो गये हैं, कर्मों को चूर-चूर कर जो दिव्य अनन्त चतुष्टय से शोभित हैं, मिथ्यात्व रूप अंधकार को दूर कर दिया हो ऐसे अरिहन्त देव का भजन करो अर्थात् ऐसे जिनराज की आराधना करो और निरन्तर उनके गुणों की पूजा करो।

जो अरहन्त भक्ति मन आने, सो जन विषय कषाय न जानै।

जो अरिहन्त की भक्ति मन से करता है उसके अन्दर से विषय कषाय निकल जाते हैं। विषय कषायों के न रहने पर अथवा मन्द पड़ने पर ही भावों में विशुद्धता आती है और भावों की विशुद्धि बढ़ते-बढ़ते शुद्धता में परिणत हो जाती है। भावों की शुद्धता ही वीतरागता है और वीतरागी जीव ही अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है।

जिन्होंने कर्म रूपी शत्रुओं का हनन कर दिया हो, जो इन्द्रों द्वारा वन्दित हो, जिन्होंने कर्म रूपी बीज नष्ट कर दिया हो, जिसके कारण जन्म, जरा, मृत्यु रूपी रोगों से मुक्ति हो गयी हो उनको अरिहन्त कहते हैं। वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी जो अठारह दोषों से मुक्त व 46 गुणों सहित है उनकी आराधना करना ही अर्हद्भक्ति भावना कहलाती है।

भवणालय चालीसा विंतरदेव होंति बत्तीसा।
कप्पामर चउबीसः चंदो सूरो णरो तिरियो।।

शास्त्रों में इन्द्रों की संख्या 100 बताई गयी है। 40 भवनवासी देवों के, 32 व्यन्तर देवों के, 24 कल्पवासी देवों के, 2 ज्योतिष्कि देवों के, 1 मनुष्यों में चक्रवर्ती एवं 1 तिर्यंचों में शेर इस प्रकार 100 इन्द्रों की संख्या है जो नित्य प्रतिदिन अरिहन्त देव की वन्दना करते हैं। मन, वचन, काय द्वारा 'जिन' ऐसे दो अक्षर सदाकाल स्मरण करना, अर्हद्भक्ति है।। अरिहन्त के गुणों में अनुराग अर्हन्त-भक्ति है। जिसने पूर्व जन्म में सोलह कारण भावना भाई है वह तीर्थंकर होकर अरहन्त होता है। अद्भुत पुण्य के प्रभाव से तीर्थंकर के गर्भ में आने के छह माह पहले से इंद्र की आज्ञा से कुबेर बारह योजन लम्बी, नौ योजन चौड़ी, रत्नमयी नगरी की रचना करता है। उसके मध्य में महल, बड़े दरवाजे, कोट, खाई, परकोटा इत्यादि जो कुबेर रचता है उसकी महिमा का कई हजार जिह्वाओं द्वारा वर्णन नहीं हो सकता है। तीर्थंकर की माता के गर्भ का शोधन रूचिक द्वीपादि में रहने वाली छप्पन कुमारी देवियाँ करती हैं। वे देवियाँ माता की अनेक प्रकार की सेवा करने में सावधान रहती हैं। गर्भ में आने के छह महीने पहले से कुबेर प्रातः, मध्याह्न, रात्रि, एक-एक काल में आकाश से साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा करता है। इसके बाद गर्भ में आते ही इंद्र आदि चारों निकाय के देवों के आसन कम्पायमान होने से चार प्रकार के देव आकर नगरी की प्रदक्षिणा देकर माता-पिता की पूजा सत्कार करके अपने-अपने स्थान को चले जाते हैं। भगवान तीर्थंकर स्फटिक मणि के पिटारा समान मलादि रहित माता के गर्भ में विराजमान रहते हैं। कमलवासिनी छह देवियाँ तथा रूचिक द्वीप में रहने वाली छप्पन कुमारी देवियाँ और अनेक देवियाँ माता की सेवा करती हैं। नौ महीने पूर्ण होने पर उचित समय में जन्म होते ही चारों निकाय के देवों के आसन कम्पायमान होने तथा बाजों के अकस्मात् बजने से जिनेन्द्र का जन्म होना जानकर बड़े हर्ष से सौधर्म नाम का इंद्र एक लाख योजन प्रमाण के ऐरावत हाथी के ऊपर बैठकर अपने सौधर्म स्वर्ग के 31 वें पटल के अठारहवें श्रेणीबद्ध विमान से अपने असंख्यात देवों के परिकर सहित साढ़े बारह करोड़ जाति के वादित्रों की मीठी

ध्वनि, असंख्यात देवों द्वारा किया जाने वाला जय-जयकार शब्द, अनेक ध्वजा उत्सव सामग्री तथा नाचती हुई करोड़ों अप्सराओं से युक्त गंधर्व देवों के साथ गाते हुए आता है।

इंद्र का रहने का पटल यहाँ से असंख्यात योजन ऊपर तथा असंख्यात योजन ही तिर्यक् दक्षिण दिशा में जंबूद्वीप है। वहाँ से जम्बूद्वीप तक असंख्यात योजन उत्सव करते हुए आकर, नगरी की प्रदक्षिणा देकर, इंद्राणी प्रसूतिगृह में जाकर, वहाँ माता को माया द्वारा निद्रा में सुलाकर, वियोग के दुःख के भय से अपनी देवत्व शक्ति द्वारा दूसरा बालक बनाकर वहाँ रखकर, तीर्थंकर बालक को बड़ी भक्ति से लाकर इंद्र को सौंप देती है। उस समय बाल तीर्थंकर को देखकर इंद्र को तृप्ति नहीं होती तब वह अपने एक हजार नेत्र बनाकर देखता है। फिर वहाँ ईशान आदि स्वर्गों के इन्द्र, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषि देवों के इंद्रादि असंख्यात देव अपनी-अपनी सेना, वाहन और परिवार सहित आते हैं।

सौधर्म इंद्र ऐरावत हाथी के ऊपर बैठकर भगवान (बाल तीर्थंकर) को गोद में लेकर सुमेरूगिरी की ओर चलता है। वहाँ ईशान इन्द्र छत्र लिए रहता है, सनतकुमार, माहेन्द्र कुमार चमर ढुराते हुए, अन्य असंख्यात देव अपने-अपने नियोग के अनुसार सावधान होकर बड़े उत्सव पूर्वक मेरूगिरि के पाण्डुकवन में पहुँचते हैं। वहाँ पाण्डुक शिला के ऊपर अकृत्रिम सिंहासन हैं, उस पर जिनेन्द्र (बाल तीर्थंकर) को विराजमान करते हैं। फिर पाण्डुकवन से लगाकर क्षीर समुद्र तक दोनों ओर देव पक्तिबद्ध होकर खड़े हो जाते हैं।

क्षीर समुद्र मेरूपर्वत की भूमि से पाँच करोड़ दस लाख साढ़े उन्चास हजार योजन की दूरी पर है। उस समय मेरू की चूलिका से दोनों और मुकुट, कुंडल, हार, कंकण आदि अद्भुत रत्नों के आभूषण पहिने हुए देवों की पंक्ति क्षीर समुद्र तक कतार बाँधकर हाथों-हाथ कलश सौंपती जाती हैं। वहाँ दोनों ओर इन्द्र के खड़े होने के लिए बने दो छोटे सिंहासन पर सौधर्म व ईशान इन्द्र खड़े होकर हाथों में कलश लेकर एक हजार आठ कलशों द्वारा बाल तीर्थंकर का अभिषेक करते हैं।

उन कलशों का मुख एक योजन का, बीच का उदरस्थान चार योजन चौड़ा और आठ योजन ऊँचा होता है। उन कलशों से निकली धारा भगवान बाल तीर्थंकर के वज्रवृषभनाराच संहनन वाले शरीर पर फूलों की वर्षा के समान बाधा रहित होती है। इसके बाद इंद्राणी से उनके शरीर पर अपने जन्म को कृतार्थ मानकर स्वर्ग से लाये हुए सभी रत्नमयी वस्त्र आभूषण पहनाती है। वहाँ अनेक देव अनेक उत्सव रचाते हैं। जिन्हें लिखने में कोई समर्थ नहीं है। मेरू पर्वत से फिर उसी प्रकार उत्सव करते हुए वापस आकर जिनेन्द्र को माता को सौंपकर इन्द्र वहाँ ताँडव नृत्य आदि जो उत्सव करता है उसका कोई असंख्यात काल तक करोड़ों जिह्वाओं द्वारा भी वर्णन करने में समर्थ नहीं है।

जिनेन्द्र तो जन्म से ही तीर्थंकर प्रकृति के उदय के प्रभाव से दस अतिशय युक्त उत्पन्न होते हैं। पसीना रहित शरीर, नीहार (मल, मूत्र, कफ आदि) रहित, शरीर में दुग्धवर्ण श्वेत रूधिर, समचतुरस्त्रसंस्थान,

वज्रवृषभनाराचसंहनन, अद्‌भुत अप्रमाण शरीर का रूप सौन्दर्य, महासुगंधयुक्त शरीर, अप्रमाण बल, एक हजार आठ लक्षण, प्रिय-हित-मधुर वचन ये सभी अतिशय उनके पूर्व जन्म में सोलह कारण भावनाएं भाने का कारण हैं। वे इन्द्र द्वारा अपने अंगूठे में रखा हुआ अमृतपान करते हैं। माता के स्तन से निकले दुग्ध का पान नहीं करते हैं। स्वर्ग लोक से आये आभूषण, वस्त्र, भोजन आदि मनोवांछित सामग्री लिए हुए देव हमेशा रात-दिन खड़े रहते हैं। पृथ्वी का भोजन, आभूषण, वस्त्र आदि अंगीकार नहीं करते हैं। स्वर्ग से आई हुई सामग्री ही भोगते हैं।

कुमार काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् इन्द्रादि द्वारा अद्‌भुत उत्साह पूर्वक किये गये उत्सव में पिता द्वारा भक्तिपूर्वक सौंपे गये राज्य को ग्रहण कर भोगते हैं। अवसर आ जाने पर संसार, शरीर, भोगों से विरागता उत्पन्न होती है तब अनित्यादि बारह भावना भाने लगते हैं। बारह भावना भाते ही लौकान्तिक देव आकर वंदना स्तवनरूप संबोधन तथा वैराग्य की अनुमोदना करते हैं।

जिनेन्द्र देव का विराग भाव होते ही चार निकाय के इन्द्रादि देव अपने आसन कंपायमान होने से अवधिज्ञान से जिनेन्द्र के तप का अवसर जानकर बड़े उत्साह पूर्वक आकर अभिषेक करके देवलोक को वस्त्र आभरणों से भक्ति सहित सजाते हैं। फिर रत्नमयी पालकी बनाकर उसमें जिनेन्द्र को बैठाकर अप्रमाण उत्सव तथा जय-जयकार शब्दोच्चार सहित तप के योग्य वन में ले जाकर उतारते हैं, जहाँ वे सभी वस्त्र आभरण त्याग देते हैं। देव उन्हें अधर में ही झेलकर अपने मस्तक पर रख लेते हैं फिर वे जिनेन्द्र, सिद्धों को नमस्कार करके पंचमुष्टि केशलोंच करते हैं। वहाँ केशों को उत्तम जानकर इन्द्र रत्नमय पात्र में रखकर बड़ी भक्ति से क्षीर समुद्र में क्षेपण कर देते हैं।

समवसरण की विभूति का वर्णन कौन कर सकता है। पृथ्वी से पाँच हजार धनुष ऊँचा जिसकी बीस हजार सीढ़ियाँ होती हैं, उसके ऊपर बारह योजन प्रमाण इन्द्रनील मणिमय गोल भूमि पर अप्रमाण महिमा सहित समवसरण रचना होती है। जहाँ समवसरण की रचना होती है व भगवान का विहार होता है वहाँ अँधों को दिखने लगता है, बहरे सुनने लग जाते हैं, लूले चलने लग जाते हैं एवं गूंगे बोलने लग जाते हैं। वस्तुत: वीतरागता की अद्‌भुत महिमा है।

अरहंत भक्ति संसार समुद्र से तारने वाली ही है। सम्यग्दर्शन में तथा अरहन्त भक्ति में नाम भेद है अर्थ भेद नहीं है। अरहंत भक्ति नरकादि गति को हरने वाली है। जो इस भक्ति की पूजन स्तवन करके अर्घावतरण करते हैं वे देवों का सुख भोगकर फिर मनुष्य का सुख भोगकर अविनाशी सुख के धारी अक्षय अविनाशी सिद्धों के जैसे सुख को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार अरिहन्त की भक्ति करना ही अरिहन्त भक्ति भावना है। परन्तु आज के समय में उपास्य अधिक हैं और उपासक कम हैं। कोई तो राग की भक्ति करता है कोई वीतरागता की भक्ति करता है। कोई

शंकर, राम, बुद्ध, हजरत, गुरू नानक और महावीर की भक्ति करता है। कोई पद्मावती, चक्रेश्वरी, क्षेत्रपाल आदि की भक्ति कर रहा है। सभी जैसी जिसकी मान्यता है भक्ति कर रहे हैं। ठीक है, हम किसी का खण्डन नहीं कर रहे हैं परन्तु विचार करना है कि आपको क्या चाहिए? संसार अथवा मोक्ष। अगर आप राग की भक्ति करेगें अथवा विवेकहीन क्रिया करेंगे तो कर्म बन्ध होगें और संसार मिलेगा तथा यदि वीतरागता की भक्ति करेंगे अथवा विवेक पूर्वक क्रिया करेंगे तो कर्मो की निर्जरा होगी और संसार छूट जायेगा एवं मोक्ष की प्राप्ति होगी जिससे जन्म-मरण रूपी दु:खों से छुटकारा मिल जायेगा। रूढ़िवादिता अथवा भेड़चाल चलने से कभी भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। उक्त विचारों को निम्न दृष्टान्तों से भली-भांति समझ सकते हैं।

दक्षिण में एक जुलूस निकल रहा था। वैष्णव धर्मावलम्बियों का रास्ता साफ पड़ा था। सड़कें भली प्रकार साफ की गयी थी। एक कुत्ता आया और बीच सड़क पर गन्दा कर गया। एक व्यक्ति ने सोचा कि जुलूस आ रहा है और गन्दगी ठीक नहीं है। उसने उस पर फूल डालकर वह गन्दगी ढक दी। परन्तु वहां जो आता वही उस पर फूल चढ़ा देता और वहाँ पर फूलों का ढेर लग गया। सोचो, कहीं भगवान सड़क पर आयेंगे क्या? यह है रूढ़िवादिता की मूढ़ता। भक्ति में इसका कोई स्थान नहीं है।

आप जैसी दुकान पर जायेंगे वैसा ही सामान मिलेगा जैसे- किराने की दुकान पर कपड़ा नहीं मिलेगा, किराना, किराने की ही दुकान पर मिलेगा। इसी प्रकार राग से राग और वीतरागता से वीतरागता ही मिलेगी अगर एक बार भी वीतरागता की भक्ति कर ली होती तो संसार का विच्छेद हो गया होता। एक दृश्य को देखकर हमारे अनेक प्रकार के भाव हो सकते है।

एक मन्दिर में सोने चांदी की प्रतिमायें थीं। मन्दिर में दर्शन करने एक सुनार गया। वह उन प्रतिमाओं में सोने की शुद्धता आंक रहा था। उसके बाद सर्राफ गया, वह उन प्रतिमाओं की सोने का शुद्धता के आधार पर मूल्यांकन करने लगा। उसके बाद एक कलाकार पहुँचा वह उन प्रतिमाओं में कला देख रहा था कि बनाने वाले कारीगर ने किस कला से ये प्रतिमाएं बनाई हैं। अन्त में एक भक्त पहुँचा, वह उन प्रतिमाओं में वीतरागता देख रहा था, प्रतिमा में गुणों को परख रहा था। उसको अन्य बातों से कोई मतलब नहीं था। इसी प्रकार कोई तो रूढ़िवाद को पकड़ कर मन्दिर जाते हैं कि मुझे मन्दिर जाना है। कुछ लोग मन्दिर जाकर कहते है कि हे भगवान मैं तेरे 108 चक्कर लगा रहा हूँ मेरा मनोरथ सिद्ध कर देना। कोई ये विचार करता है हे भगवान! जो तेरी वीतराग छवि है यह मेरे मन में बस जाये और जब तक मैं भी तेरे जैसा ना बन जाऊँ यह छवि, मेरे मन में बसी रहे। जिसके मन में वीतराग छवि बसाने की ललक जागी उसने की अर्हन्त भक्ति। असली भक्ति वही है, उनके जैसे भावों का जागृत होना और जब ऐसे भाव जागृत होगें तो एक दिन ऐसा भी आयेगा जब कर्मो की कड़ियाँ टूट जायेंगी। अरहन्त भक्ति की सार्थकता तभी है जब आप अपने जीवन में उनके गुणों को उतारने का प्रयास करेगें तथा उनके बताये मार्ग पर चलने का प्रयास करेंगे अन्यथा चौरासी लाख योनियों के चक्कर तो लगा ही रहे हो।

आज अपना अर्हद्-भक्ति पर विचार करते हैं। अर्हद्-भक्ति भी हमारे जीवन को बहुत ऊँचा उठाती है। भावों की विशुद्धिपूर्वक पूज्य पुरुषों के प्रति जो अनुराग है वही तो भक्ति कहलाती है। '**भावशुद्धि युक्तोऽनुरागः भक्तिः**' हमारे आचार्य महाराज कहते है कि भक्ति तो गंगा के समान है जिसमें कोई डूब जाए, लीन हो जाए तो उसका तन,मन और सारा जीवन पवित्र हो जाता है।

भक्ति तो भगवान से जुड़ने का एक पवित्र भाव है। 'भक्त' शब्द का अर्थ ही है जुड़ना (टू यूनाइट)। हम जब तक भगवान से विभक्त है, पृथक हैं तब तक उनके जैसे नहीं बन सकते। उनसे जुड़ना ही उनके जैसा बनना है। या ऐसा कहें भगवान जैसा बनना, उनके समान वीतराग-भाव जीवन में आना ही उनसे जुड़ना है। इस तरह विचार करें तो कितना गहरा अर्थ निकल आया भक्ति का कि भगवान के जैसे बनना ही उनकी सच्ची-भक्ति है। भक्ति का उद्देश्य भी यही होना चाहिए कि 'वन्दे तद्गुण लब्ध्ये' भगवान के समान गुणों की प्राप्ति के लिए ही भगवान की वन्दना, आराधना या पूजा-भक्ति की जाती है।

भक्ति के चार सोपान हैं। पूज्य -पुरुषों के गुणों के प्रति अनुराग, उनके गुणों का स्मरण, उनके गुणों का चिन्तन और उनके समान गुणों की प्राप्ति का प्रयत्न। चारों चीजें परस्पर जुड़ी हुई हैं। जिसके प्रति हमारे मन में अनुराग होता है, प्रेमभाव होता है उसके गुणों का स्मरण सहज ही आ जाता है। इतना गहरा लगाव होता है कभी-कभी कि अलग से याद नहीं करना पड़ता। याद सदा बनी रहती है। जैसे छह महीने के छोटे-से बच्चे को अपनी माँ की याद आती है तो वह कहेगा मैं भूलता ही कब हूँ माँ को, जो अलग से माँ को याद करना पड़े। विनोबा जी से जब कोई पूछता था कि आप भगवान का नाम-स्मरण कब-कब करते हैं और कितनी बार करते हैं, तो वे हँसने लगते थे और कहते थे कि भाई मैं भगवान का नाम-स्मरण गिन-गिन कर करने की चीज थोड़े ही है, वह तो सदा चलती रहनी चाहिए।

और देखिए, जिसके प्रति अनुराग होता है उसके गुणों का चिन्तन या गुणगान भी अपन सहज ही करने लगते हैं। भगवान की भक्ति भी ऐसी ही है। जब अपन भक्ति में लीन हो जाते हैं तो मन ही मन उनके गुणों का चिन्तन चलता रहता है। वाणी से उनका गुणगान होता रहता है और शरीर रोमांचित हो जाता है। मन, वाणी और शरीर सभी निर्मल हो जाते हैं।

एक और मजे की बात है कि जिसके प्रति हमारा अनुराग होता है हम सदा उसके समान बनने की कोशिश में लगे रहते हैं। उसी का अनुसरण करते हैं। उसे जो अच्छा लगता है हम वही करते हैं। उसे जो बातें ठीक नहीं लगतीं, हम भी उन बातों से दूर रहते हैं। सचमुच भक्ति भी ऐसी ही है। हमें भगवान के प्रति यदि अनुराग है तो हमें भी वीतरागता अच्छी लगनी चाहिए। वीतराग-मार्ग पर चलना और राग-द्वेष से बचना अच्छा लगना चाहिए। संसार में रूचि घटना चाहिए। क्योंकि हमारे भगवान वीतरागी हैं और संसार से पार हो गए हैं।

सोलहकारण भावना में अर्हद्-भक्ति को रखा, सिद्ध-भक्ति को नहीं लिया। हालाँकि अर्हन्त-भगवान का गुणगान करते समय उनके सिद्ध-स्वरूप का भी वर्णन किया गया है। परन्तु तीर्थंकर -प्रकृति के अर्जन में

कारणभूत सोलह भावनाओं में अलग से सिद्ध-भक्ति को नहीं लिया गया। इसका कारण यही समझ में आता है कि अर्हन्त-भगवान परमगुरू हैं। परम उपकारी हैं। भव्य जीवों को मार्ग दिखाने वाले हैं। धर्मोपदेश के द्वारा सब जीवों के कल्याण में निमित्त हैं। इसलिए उनकी भक्ति करते समय स्व-पर कल्याण की भावना सहज रूप से उत्पन्न होगी जो तीर्थंकर-प्रकृति के अर्जन में सहयोगी बनेगी। सिद्ध-अवस्था में तो सब जीवों के लिए कल्याणकारी धर्मोपदेश होना संभव ही नहीं है। यहाँ **'गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय'** वाली बात चरितार्थ होती है। परम गुरू अर्हन्त-भगवान ही गोविन्द अर्थात् सिद्ध भगवान का स्वरूप बताने वाले हैं सो सबसे पहले उपकारी की अपेक्षा उन्हीं का गुणगान किया, उन्हीं की भक्ति की।

एक बात और बड़ी महत्त्वपूर्ण है। आचार्य-भगवन्तों ने लिखा कि **'अरहंते सुह भक्ति सम्मनं'** अर्हन्त-भगवान के प्रति जो शुभ-अनुराग रूप भक्ति है वही सम्यग्दर्शन है। मोक्ष मार्ग की शुरूआत अर्हन्त-भगवान के प्रति शुभ-अनुराग से ही होगी। अर्हन्त भगवान ही वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। जिसके अभ्यास में राग-द्वेष और मोह- भाव नष्ट होता है। अपने विशुद्ध आत्म-स्वरूप में रूचि जागृत होती है। अर्हन्त भगवान के प्रति जो शुभ राग है, प्रशस्त राग है या कहो शुभोपयोग रूप जो परिणाम है वही शुद्ध-अवस्था तक ले जाने वाला है। शुद्धोपयोग की अवस्था में तो भक्ति होती नहीं वहाँ तो आराध्य-आराधक भाव भी शेष नहीं रहता। इसलिए भैया! विषयानुराग रूप अशुभोपयोग में जाने से रोकने वाला और राग-द्वेष से रहित निरूपराग रूप शुद्धोपयोग पाने की ललक पैदा करने वाले अर्हन्त-भगवान के प्रति जो शुभ राग है, धर्मानुराग है वही तीर्थंकर-प्रकृति के अर्जन में सहायक है। इस बात को सदा स्मरण में रखते हुए अर्हन्त-भगवान की भक्ति खूब मन लगाकर श्रद्धा-भाव से करनी चाहिए।

और देखो भगवान की भक्ति विशुद्ध-भाव से करनी चाहिए। भक्ति तो बहुत लोग करते हैं। गाकर, बजाकर, नाच कर करते हैं लेकिन भावों में निर्मलता का ध्यान भी जरूरी है। भाव अच्छे न हों तो भक्ति का फल फीका पड़ जाता है। भाव अच्छे हों का मतलब यह है कि अंतरंग में भगवान के प्रति निःस्वार्थ-प्रेम और श्रद्धा हो। हमारे आचार्य महाराज ने बहुत पहले एक उदाहरण दिया था कि एक पण्डितजी थे। वे अपनी मान्यता के अनुसार सूर्य को जल चढ़ाते थे। वे रोज नदी में स्नान करने जाते, स्नान करके सूर्य को जल चढ़ाते और डुबकी लगाकर बाहर निकल आते थे। एक गड़रिया (गाय, बकरी आदि चराने वाला) रोज पण्डितजी को ऐसा करते देखता रहता था। एक दिन उसने पण्डितजी से पूछ लिया कि पण्डितजी डुबकी लगाने से क्या होता है ? अब पण्डितजी क्या कहें? कुछ समझ में नहीं आया सो बोले कि डुबकी लगाने से भगवान के दर्शन होते है। गड़रिया बड़ा चकित हुआ। बात उसे जँच गई। दूसरे दिन वह पण्डितजी से पहले नदी के किनारे आ गया। नहा-धोकर उसने डुबकी लगाई। बहुत देर हो गई कुछ नहीं दिखा। उसने सोचा अब तो भगवान के दर्शन करके ही निकलूँगा। वहाँ जो जल- देवता था उसने सोचा कि सीधा-सच्चा आदमी है। पवित्र मन से भगवान को याद कर रहा है, इसे भगवान पर भरोसा बना रहे इसलिए कुछ उपाय करना चाहिए वरना यह थोड़ी देर में

डूब ही जाएगा। जल देवता ने सुन्दर रूप बनाया और प्रकट हो गया। भैया! कहानी है कहीं आप भी ऐसा करने लगो। (हँसी) गड़रिया जल-देवता को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। देवता ने कहा कि माँग लो, क्या माँगना? गड़रिया ने गद्‌गद होकर हाथ जोड़ लिए और बोला-दर्शन हो गए और क्या माँगना है? यह है निःस्वार्थ श्रद्धा-भक्ति। अपन कितने स्वार्थी हैं यह विचार भी कर लेना। गड़रिया जब बाहर आया तो नदी किनारे पण्डितजी खड़े दिखे। पण्डितजी ने पूछा- तुम यहाँ क्या कर रहे थे? गड़रिया ने जब सारी बात पण्डितजी को बतायी तो पण्डितजी चकित रह गए। वर्षो बीत गए पूजा-भक्ति करते पर ऐसा चमत्कार कभी नहीं हुआ। पण्डितजी के समझ में आ गया कि भगवान की भक्ति निःस्वार्थ-भाव से करना ही बड़े से बड़ा चमत्कार है।

भगवान की भक्ति करने का ढंग, सबका अलग हो सकता है पर भक्ति में दो चीजें प्रमुख रूप से समाहित की जाती है। एक तो भक्ति करने वाला अपनी मौजूदा स्थिति की अपेक्षा स्वयं की आलोचना करते हुए भक्ति करता है। दूसरी बात, भक्ति करते समय भगवान के गुणों की प्रशंसा करते हुए भक्ति का आनन्द लिया जाता है। अपन पढ़ते भी है- **"प्रभु पतित-पावन मैं अपावन, चरण आयो शरणजी। यों विरद आप निहार स्वामी, मेट जामन-मरण जी"** इसमें स्वयं की राग-द्वेष से मलिन अवस्था की अपेक्षा, अपने आप को अपावन कहा और भगवान की महानता का गुणगान करते हुए भगवान को 'पतित-पावन' कहा। साथ ही यह भी कह दिया कि मैं आपके चरणों की शरण में इसलिए आया हूँ कि आप पतित-पावन हो और मैं अपावन हूँ। पतित-पावन का अर्थ इतना ही है कि आपकी शरण में आकर पतित से पतित जीव भी श्रद्धा, सद्‌विचार व सदाचार की प्रेरणा लेकर स्वयं का जीवन पावन बना लेता है। आपकी प्रशंसा या प्रसिद्धि भी यही है। अपनी प्रशंसा के अनुरूप आप मुझे जन्म-मरण से मुक्त करो। भक्ति का उद्देश्य भी यही है। भगवान की भक्ति में तीन बातें और हैं। एक तो भगवान के रूप (बाह्य व अंतरंग दोनों) का दर्शन करना, दूसरी दर्शन से मिलने वाला उपदेश सुनना और तीसरी बात अपने आत्म-स्वरूप का अनुभव करना। जब अपन अर्हन्त भगवान की भक्ति करते हैं तब बाह्य में निर्विकार बालकवत् अत्यन्त सुन्दर रूप दिखायी पड़ता है। उस बाह्य रूप की सुन्दरता का वर्णन भी किया गया है। **"यैः शान्तराग रूचिभिः परमाणुभिस्त्वं, निर्मापितस्त्रि त्रिभुवनैक ललामभूतः। तावन्त एव खलु तेप्यऽणवः पृथिव्यां, यत्ते समानमपरं न हिं रूपमस्ति॥"** हे प्रभु! आपकी देह अत्यन्त सुन्दर और मनोज्ञ है। आपके जैसा रूप किसी का नहीं है। क्योंकि शान्त और सुन्दर परमाणु जितने इस तीन लोक में हैं वे सब आपकी देह बनाने में ही खत्म हो गए इसलिए अब किसी और की देह बनाने के लिए श्रेष्ठ परमाणु ही नहीं बचे तब कोई दूसरा आपके समान सुन्दर रूप वाला कैसे हो सकता है? यानी आप सुन्दरता में अद्वितीय हैं। यह देह की अपेक्षा भगवान की भक्ति का प्रयास है।

भगवान महावीर स्वामी का गुणगान करते हुए 'भागेन्दु' कवि ने लिखा है कि

कनत् स्वर्णाभासोऽप्यपगत तनुर्ज्ञाननिवहो।
विचित्रात्माप्येको नृपति वर सिद्धार्थ तनयः
अजन्मापि श्रीमान् विगतभव रागोऽद्भुतगतिः।
महावीर स्वामी नयनपथगामी भवतु मे।।

आप बाहर से सोने की आभा वाली देह धारण किए हुए दिखाई पड़ते हो पर वास्तव में आप देहातीत हो गए हो। या ज्ञानशरीरी हो। आप अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हो पर एक ही हो। आप राजा सिद्धार्थ के पुत्र के रूप में जन्मे हो लेकिन जनम-मरण से पार हो गए हो, आप समवसरण रूपी बाह्य वैभव से सम्पन्न हो फिर भी उसके प्रति राग- रहित हो। आपका ऐसा अद्भुत वीतराग स्वरूप है। इससे अंतरंग स्वरूप और बाह्य-रूप दोनों के माध्यम से भक्ति की गई है।

भक्तामर स्तोत्र में तो आचार्य मानतुंग स्वामी भगवान की माता की प्रशंसा करते हुए भगवान का गुणगान करते है-

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्त्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्।।

संसार में अनेकों माताएँ हैं और सैकड़ों पुत्र है परन्तु आपके जैसे श्रेष्ठ अनुपम पुत्र को जन्म देने वाली माता बिरली है। नक्षत्र तो सभी दिशाओं में उगते हैं लेकिन सूर्य, एक मात्र पूर्व दिशा से ही उगता है।

तीर्थंकर की माता की यह विशेषता है कि वे दो-तीन भव में मोक्ष चली जाती हैं। मुक्ति को प्राप्त कर लेती हैं। यहाँ पर तीर्थंकर को सूर्य के समान तेजस्वी और उज्ज्वल माना है साथ ही जिन माता के माध्यम से तीर्थंकर जन्म लेते हैं उनकी भी प्रशंसा की है।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी के चरणों में बैठें तो ज्ञात होता है कि केवली या अर्हन्त भगवान की देह की स्तुति करने से केवली भगवान की स्तुति मानना यह व्यवहार-नय की अपेक्षा तो ठीक है पर निश्चय -नय से देखें तो केवली भगवान के अंतरंग अनन्त चतुष्ट्य रूप गुणों की स्तुति करना ही केवल भगवान की स्तुति, पूजा या भक्ति है। भक्ति में भगवान के बाह्य-रूप और अंतरंग -स्वरूप दोनों का ही दर्शन होता है। रूप और स्वरूप दोनों का ही गुणगान होता है।

दूसरी बात, भगवान के रूप और स्वरूप का दर्शन करने से मिलने वाला उपदेश सुनना। अर्हन्त भगवान की प्रतिमा के दर्शन से, उनकी वीतराग प्रसन्न और शान्त मुखमुद्रा के दर्शन से चित्त शान्त हो जाता है, हृदय गद्गद् हो जाता है, मन के विकार क्षण भर को लुप्त हो जाते हैं। ऐसा लगता है मानो भगवान जैसे

वीतरागता का संदेश दे रहे हैं। भगवान की नासाग्र दृष्टि अपने अंतरंग में झाँकने का उपदेश देती है, स्वयं को देखने, अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करने की प्रेरणा देती है। भगवान ध्यानस्थ हैं, हाथ पर हाथ रखे हैं मानो निरन्तर हमें बताना चाह रहे हैं कि इस जगत में जो करने योग्य है हमें उतना ही करना चाहिए। सांसारिक कार्यों से मुक्त होकर अपनी आत्मा में पड़े विकारों को हटाकर, निर्विकल्प और कृत-कृत्यपने का अनुभव करना चाहिए। करने योग्य कार्य तो इतना ही है। अर्हन्त प्रतिमा में दिखाई देने वाली खड्गासन या पद्मासन मुद्रा हमें आत्मस्थ होने का संदेश देती है। जब तक हम अपने आत्मस्वरूप में स्थित नहीं होते तभी तक संसार में भटकना जारी रहता है। हमें संसार की भागदौड़ और आपाधापी से बचकर थोड़ा समय निकालकर आत्मस्थ होने का अभ्यास करना चाहिए।

तीसरी बात, अर्हन्त भगवान की सच्ची भक्ति तो तभी है जब हम स्वयं अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को पहचानें, उसमें रूचि लें और स्वरूप की अनुभूति के लिए प्रयत्न करें। अर्हन्त भगवान का जैसा स्वरूप है सो वैसा ही मेरा भी स्वरूप है। मैं अपने स्वरूप को भूलकर व्यर्थ ही दु:ख उठा रहा हूँ, ऐसा अहसास होना चाहिए। **"तुमको बिन जाने जो कलेश पाए सो तुम जानत जिनेश"** अर्हन्त भगवान के स्वरूप को या अपने आत्म- स्वरूप को नहीं जानने के कारण ही संसार में जन्म-मरण का दु:ख भोगना पड़ा। अर्हन्त भगवान ने अपने मोह कर्म रूपी शत्रु को जीत लिया है। उनके अंतरंग से शत्रुता ही मिट गई। उनका कोई शत्रु-मित्र नहीं है। एक मात्र मैत्री-भाव ही शेष रहा है। हमारा स्वरूप भी ऐसा ही है। हमें भी सबके प्रति मैत्री-भाव रखने का प्रयास करना चाहिए। एक व्यक्ति विदेश यात्रा पर गए। हवाई जहाज से उतरकर यहाँ-वहाँ देखने लगे। मानो किसी को खोज रहे हों। इतने में किसी ने उनके निकट आकर प्रेम से पूछा- क्या यहाँ पर आपका कोई परिचित मित्र नहीं है। सचमुच ऐसा ही था, उनको जानने वाला या उनकी पहचान का वहाँ कोई नहीं था। लेकिन उन्होंने उस अपरिचित व्यक्ति के कंधे पर हाथ रखकर बड़े प्रेम से कहा कि आप ही तो मेरे मित्र है। इस बात का उस विदेशी अपरिचित व्यक्ति पर इतना असर पड़ा कि वह सचमुच मित्र बन गया। सभी के प्रति ऐसा सद्भाव, सभी के प्रति ऐसा मैत्री-भाव आ जाए तो जीवन सार्थक हो जाए।

अर्हन्त भगवान सर्वज्ञ हैं। वे सब जानते हैं। सारे प्रश्नों का समाधान उनके पास है। असल में, उन्होंने स्वयं को जान लिया, स्वयं के मन की सारी गुत्थियों को सुलझा लिया, अब कोई उलझन, कोई प्रश्न शेष नहीं रहा। सबको उनसे समाधान ही मिलता है। भगवान महावीर स्वामी की घटना सभी को मालूम है। जब वे बालक अवस्था में थे तब आकाश मार्ग से जाने वाले चारणऋद्धिधारी संजय और विजय नाम के दो मुनिराजों को उनके दर्शन मात्र से अपनी शंकाओं का समाधान मिल गया था। अकेले ज्ञान से समाधान नहीं मिलता,ज्ञान के साथ जो विशुद्धि है, वीतरागता और निर्मलता है उसके कारण मिलता है समाधान। हम कोशिश करें कि हमारे जीवन में उलझनें कम हों, समाधान अधिक हो। हमारा ज्ञान, हमारी उलझनों को, हमारे विकारों को कम करने वाला हो।

अर्हन्त भगवान हितोपदेशी है। सबके कल्याण में निमित्त हैं। उनकी वाणी जनकल्याणी है। सबके समझ में आती है। सचमुच, प्रेम की भाषा सबके समझ में आती है। फिर चाहे पशु-पक्षी हो या देवी देवता या मनुष्य हो या किसी हिन्दी, अँग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत आदि किसी भी भाषा में बोलता हो। अर्हन्त भगवान के हृदय में अपार करुणा है, प्राणीमात्र के कल्याण की भावना है। अर्हन्त भगवान द्वारा कही गई वाणी सभी के लिए हितकारी होती है। सभी भव्य जीव उसका भरपूर लाभ लेते है और अपना कल्याण करते हैं। हम भी ऐसी कोशिश करें जिससे हमारी वाणी से, हमारे वचनों से दूसरे का हित हो। हम स्वयं भगवान की वाणी का अभ्यास करें और अपने सम्पर्क में आने वालों को भी जिनवाणी का अभ्यास करने की प्रेरणा दें या जिनवाणी की बातों को सुनाएँ।

अर्हन्त भगवान के स्वरूप का दर्शन, स्वरूप के दर्शन से मिलने वाला उपदेश और स्वरूप के अनुरूप आचरण-ये सभी बातें जिसमें समायी हुई हैं। ऐसी भक्ति यदि हम करें तो अवश्य ही हमारा जीवन अच्छा बने बिना नहीं रहेगा।

अर्हन्त-भगवान की भक्ति करते समय, उनकी स्तुति या गुणगान करते समय बोलने में आता है- **"द्रौपदी को चीर बढ़ाय, सीता प्रति कमल रचायों। अंजन से किए अकामी, दुःख मेटो अन्तर्यामी ॥"** इसका सीधा-सा अर्थ तो यही निकलता है कि जैसे भगवान ही सब जीवों के कर्त्ता-धर्त्ता हों। पर भैया! इसे मात्र भक्त की श्रद्धा समझना चाहिए। इसे अध्यात्म से, करणानुयोग से मिलान करके नहीं देखना चाहिए और इतना जरूर है कि ऐसी स्तुति करते समय अध्यात्म को या करणानुयोग की पद्धति को भूलना नहीं चाहिए। अर्हन्त भगवान तो वीतरागी हैं किसी को वरदान या श्राप नहीं देते और न ही हमारे कर्माधीन है। भगवान की भक्ति करने से हमें मन में जो तृप्ति मिलती है, सहारा मिलता है उससे हमारा आत्म-विश्वास बढ़ जाता है, दुःख सहने की शक्ति बढ़ जाती है, यही भक्ति का प्रभाव है।

संसार के दुःखों से भयभीत होकर जब हम यह कहते हैं कि **'मोरी तो तोसौं बनी तातैं करत पुकार'** तो भाव यही रहता है या रहना चाहिए कि मुझे दुःख से बचाने वाला आपके सिवा यानी वीतरागता के सिवा और कोई नहीं है। इसलिए मेरा काम तो आपसे ही बनने वाला है सो आपको पुकार रहा हूँ। आपके जैसे वीतराग बनने की पुकार जब मेरे हृदय से निकलेगी तभी मेरा उद्धार होगा। आपका वीतराग-स्वरूप मेरे पुरूषार्थ से होगा, पर आप निमित्त हैं आपके बिना भी नहीं होगा। **'मुझ कारज के कारण सु आप'**।

रावण का पहले दशानन नाम था। दशानन का अर्थ दस मुख वाला था, ऐसा मत ले लेना। यह तो प्रचलित हो गया है। वास्तव में, वह विद्याधर था। जन्म के उपरान्त उसके गले में जो रत्नों की माला पहनायी गई थी उसमें दस रत्न थे, उन सभी में रावण का चेहरा दिखाई देता था सो बचपन में ऐसे दशानन नाम रख दिया गया। एक बार दशानन जब यात्रा के लिए अपने विमान से जा रहा था, कैलाश पर्वत पर उसका विमान आकाश में ही अटक गया। रूक गया। आगे नहीं बढ़ सका। उसने विमान नीचे उतारा तो पर्वत की एक शिला

पर बालि मुनिराज तपस्या करते हुए दिखे। यह सारी बातें जैन ग्रन्थों में जैसी लिखी है उसके अनुसार बता रहा हूँ वरना संसार में तो अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं। वर्णीजी (गणेशप्रसाद जी) ने जैन पद्‌मपुराण में रामचन्द्रजी का चरित्र सुनकर ही तो कहा था कि मुझे तो यही सच्चा जान पड़ता है। मेरी श्रद्धा तो इसी पर जमती है।

बालि मुनिराज को देखकर रावण के मन में प्रतिशोध का भाव जाग गया। रावण को एक बार पहले बालि के पराक्रम के सामने झुकना पड़ा था। अब रावण ने बदला लेने की सोची और विद्या के माध्यम से पर्वत को उखाड़कर फेंकने की तैयारी करने हेतु पर्वत के भीतर घुस गया। मुनिराज के मन में कैलाश पर्वत पर जिनालयों की रक्षा का भाव आया सो धीरे से पर्वत को स्थिर करने के लिए अपने पैर के अँगूठे से दबा दिया। रावण मुश्किल में पड़ गया। तपस्या की सामर्थ्य के आगे विद्या का जोर नहीं चलता। पर्वत सहित रावण नीचे दबने लगा और जोर से रोने-चिल्लाने लगा। तभी संस्कृत की व्युत्पत्ति के अनुसार, 'रोने वाला यानी रावण' ऐसा नाम उसका पड़ गया। मन्दोदरी ने मुनिराज से क्षमा माँगी तब रावण बच पाया। बाहर आते ही रावण ने भी बालि मुनिराज से क्षमा माँगी और अर्हत्-भगवान की भक्ति में लीन हो गया। इतना लीन हो गया कि वीणा के तार टूटने पर विद्या के माध्यम से अपने हाथ की नस को ही तार के स्थान पर बाँधकर भक्ति करता रहा। कहते हैं इसी अर्हद्-भक्ति के फलस्वरूप उसे आगामी समय में तीर्थंकर-पद की प्राप्ति होगी। भैया, सारी बात भावों की है।

अपने को भावों की शुद्धिपूर्वक अर्हन्त-भगवान के गुणों के प्रति अनुराग रखना चाहिए। और नि:स्वार्थ सहज भाव से भक्ति करना चाहिए जो हमारे कल्याण में कारण है। भावों को शुद्ध करने के लिए ही पूजन, भक्ति, आराधना की जाती है। इन सभी कार्यो से पुण्य की प्राप्ति होती है। जो जिनेन्द्र भगवान की पूजन करता है वह परंपरा से निर्वाण को प्राप्त कर लेता है साधु महाव्रती को भाव पूजा एवं श्रावको को द्रव्य पूजा का वर्णन आचार्यो ने किया है। द्रव्य पूजा जो जिनेन्द्र भगवान की अष्ट द्रव्य से पूजन करता है। किंतु साधु त्यागी होने से भावों से ही गुणानुवाद करते हैं। सच्ची विनय, श्रद्धा भक्ति ही पार करने वाली है-यदि अंतरंग में भक्ति नहीं तो कुछ भी नहीं किया कहा भी है- बगुला भक्ति मात्र करने से कुछ भी फल नहीं मिलता है। भगवान की स्तुति पूजन करना सब भक्ति के ही अर्न्तगत है। कई लोग ऐसी भक्ति में लीन हो जाते हैं जो अंतरंग भावों से तल्लीन हो जाते हैं किन्तु दिखावा करने से बाह्य में तो प्रशंसा हो सकती है किन्तु अंतरंग में नहीं।

गाके बजाके नाचके, पूजन भजन सदा किये।
भगवान हृदय में ना बसे, पुजारी हुये तो क्या हुये॥

अत: मन को स्थिर करके पूजा करनी चाहिये। सभी संकल्प, विकल्प को छोड़कर, मौन लेकर पूजन करनी चाहिये। इसी पर दृष्टांत है-

धनंजय कवि पूजन में इतने मग्न थे कि उन्होनें सभी संकल्प-विकल्प से रहित होकर पूजन करने तक मौन धारण कर लिया था। उनको किसी से कुछ लेना देना नहीं था। इसी बीच में उनके पुत्र को एक सर्प ने डस लिया, उसी समय पुत्र मूर्छित हो गया। क्रोध से भरी सेठानी ने आकर पुत्र को सेठ के चरणों में डाल दिया और बोली। बड़े भक्त बने हो, तुमको पूजन सूझी है लो पुत्र को अच्छा करो, पर सेठ जी पूजन में मस्त हैं उन्हें कोई चिंता नहीं। जब सेठानी जी पुत्र को छोड़कर चली गई। तब सेठ जी विषापहार स्तोत्र में इतने ध्यानालीन हो गये कि उसके मंत्र से मंत्रित पानी का छींटा दिया।

यंत्र मंत्र औषधि सभी अरू विषहर तंत्रादि।
प्रभु जी के सब नाम हैं दूर भगे सब व्याधि॥

इस प्रकार 21 बार छींटे देने से पुत्र सचेत होकर फौरन बैठ गया। यह है महिमा भगवान की भक्ति का। इस चमत्कार को देखकर सबको जैन धर्म में एवं भगवान की पूजन में बड़ी श्रद्धा जाग गई। उसी दिन से सैकड़ों लोग जिनदेव की पूजन बड़ी भक्ति के साथ करने लगे। तो कहने का तात्पर्य यही है कि पूजन करने वाला व्यक्ति सभी प्रकार से शुद्ध होना चाहिये। तभी उसे उसका फल मिलेगा अन्यथा नहीं। यदि हम किसी इच्छाओं को लेकर भगवान की पूजन करेंगे तो उल्टे हम कर्मो से ही बंधेंगे। क्योंकि वृक्ष के नीचे रहने वाले व्यक्ति को छाया स्वयं मिलेगी इसमें याचना करने की कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि-खाली हाथ आये और खाली हाथ जायेंगे। केवल साथ में अच्छे बुरे कर्म ही रहेंगे।

कहा भी है- **आये कुछ लाये नहीं, गये न कुछ ले जाय,**
विच पायो विच ही, नश्यो चिंता करे पलाय।

अन्त में हर व्यक्ति को पूजन करने का नियम लेना चाहिये, तभी उनका जीवन सार्थक बनेगा। क्योंकि कहा भी है-

जिनवर के माहात्म्य से, पहचानोगे स्वात्म,।
सत्पथ मिले सुहावना, स्वात्म होय परमात्म।।

अत: प्रत्येक आत्मा के अन्दर परमात्मा बनने की शक्ति है, मात्र पुरुषार्थ की आवश्कता है। वह पुरुषार्थ तप व चारित्र, ध्यान में ही सम्भव है। बिना चारित्र के न मुक्ति मिली है न मिलेगी।

अन्त में जिनदेव की पूजन भक्ति से अपनी आत्मा को पवित्र करना चाहिये। क्योंकि भगवान की भक्ति करने से अनंत कर्मों की निर्जरा होती है और पुण्य कर्म का बंध होता है। स्वर्ग एवं मोक्ष पद मिलता है।

इसी पर एक कथा है राजगृह नगर में नागदत्त सेठ, भवदत्ता नाम की सेठानी थी। एक दिन की बात सेठ जी कमरे में सामायिक कर रहे थे। वहाँ पर दीपक जल रहा था, उन्होंने यह प्रतिज्ञा ली थी कि जब तक दीपक जलेगा तब तक सामायिक करूंगा। ज्यों ही दीपक बुझने को होता सेठानी यह सोचकर कि दीपक बुझने

से अंधेरा हो जायेगा, दीपक में तेल डाल देती है। बहुत समय सामायिक में बीत जाने पर सेठ जी को बहुत जोरों से प्यास लगी और इसी वेदना में मरकर कुएं में मेढ़क हुये। वह मेढ़क.... प्रतिदिन कुएं पर सेठानी की गोद में उछलता। सेठानी को निमित्तज्ञानी से पूछने पर मालूम पड़ा कि यह तुम्हारे पति का जीव है। यह सुनकर सेठानी ने उसे मोहवश अपने घर में रख लिया।

जब भगवान महावीर का समोशरण विपुलाचल पर्वत पर आया तब मेढ़क की भक्ति में गद्‌गद् होकर मुख में कमल की पांखुरी लेकर भगवान के दर्शनार्थ चला। मार्ग में हाथी के नीचे मरकर भक्ति के प्रभाव से यह देव हुआ है। देखो जब पशु भी जिनपूजन की भावना मात्र से तिर सकते? यह अतिशय देखकर श्रेणिक ने पूछा-भगवान! पुण्यशाली, महिमाशाली, आश्चर्यकारी, प्रभावशाली यह देव कौन है इसके मुकुट में मेढ़क का चिन्ह क्यों हैं? तभी गौतम गणधर मेढ़क का सारा इतिहास सुना देते हैं। यह माहात्मय देखकर समोशरण में बैठे हुए सभी जन बड़े प्रभावित हुये, इसी जिनमूर्ति पूजा के फल को और भी बता रहे हैं-

एक बार अलवर नेरश ने एक विद्वान से कहा महोदय! मूर्ति पूजा में मेरा विश्वास बिल्कुल नहीं है, लोगों की मूर्खता तो देखो कि पत्थर को पूजते हैं। जिससे मनुष्य का हृदय भी पत्थर बन जाता है। ऐसी मूर्खता को धिक्कार है।

यह सुनकर उस विद्वान ने दीवार पर टंगी हुई अलवर नरेश की फोटो को हाथ में लेकर कहा- सभासद गणों। महाराज के इस चित्र में कागज और रंग के सिवाय और कुछ नहीं है। अब यदि कोई दुश्मन इसका अपमान कर दे या बरबाद करे तो आप सहन कर लेंगे? यह सुनकर सभी सदस्य गण बोल उठे, श्रीमान्! इस चित्र का अपमान हम कैसे सहन कर सकते हैं? विद्वान ने पूछा क्यों ? गुरु का अपमान कौन सहन कर सकता है। फिर भगवान की मूर्ति का तो कहना ही क्या है?

"क्योंकि यह हमारे महाराज की प्रतिच्छाया है।" इसका मतलब यह हुआ कि इस चित्र को देखकर महाराज के सब गुणों की स्मृति आ जाती है। इसी प्रकार हम जिनकी मूर्ति की पूजा करते हैं, उस मूर्ति के सहारे मूर्तिमान (जिनकी मूर्ति है) की पूजा करते हैं। मूर्ति के देखते ही मूर्तिमान के गुणों का चित्र हमारे सामने आ जाता है। जब हम जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति को देखते हैं तो हमारे सामने जिनेन्द्र भगवान की अनंत शान्ति, अनंत सुख, अनंत ज्ञान, अनंतवीर्य और उनकी निर्विकार निर्मल दशा का साक्षात्कार होने लगता है। उनकी वीतरागी छवि का दर्शन कर हमें भी अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है तथा उन जैसे आत्मा से परमात्मा बनने की प्रेरणा मिलती है। जब शिल्पकार पत्थर में मूर्ति का आकार खींचता है और सुंदर सुडोल मूर्ति तैयार कर देता है तब मूर्ति की यंत्र, मंत्र द्वारा तदाकार रूप में उसमें गुणों की स्थापना होती है। तब वह मूर्ति पूज्य बन जाती है और इस मूर्ति की पूजा भक्ति करने से हम शीघ्र ही मुक्ति भी प्राप्त करते हैं। इसलिये हमें मूर्ति पूजा करना परम आवश्यक है और भी मूर्ति पूजा संबंधी विशेष विचेचन करते हैं जो ग्रहण करने योग्य है।

मूर्ति पूजा संबंधी विशेषतायें -

निराभरण वस्त्रादि, विकास दोष वर्जिता।
दशताल विनिर्माणा, जिनार्चा शुभदा भवेत्

निराभरण वस्त्रादिक दोषों से रहित दशताल से निर्मित ऐसी शुभ प्रतिमा ही सुखदायक है। अर्थात् ऐसी जिन पूजा ही मंगलकारी है।

धौत वस्त्रं पवित्रं च ब्रह्मसूत्र सभूषणं,
जिनपादार्चना गंध माल्यं धृत्वाऽर्चतेजिनः।

पवित्र शुद्ध वस्त्र, ब्रह्मसूत्र (जनेऊ) भूषण, गंध, मालादिक सहित जिनेन्द्र की पूजा की जाती है। तभी विशेष फल मिलता है।

पूज्यो जिनपतिः पूजा पुण्यहेतु जिनार्चना।
फलंसाभ्युदया मुक्तिर्भव्यात्मा पूजको गतः।।

आप्त देव पूज्य है और भव्यात्मा अर्थात् दान शीलादि गुणों से युक्त जीव पूजक है। जिससे पुण्य कर्म का बन्ध होता है। वह पूजा एवं पूजा का फल स्वर्गादिक विभूति है। ऐसा आगम का वचन है।

अकुंड गोलकः श्राद्धः शौचाचमन तत्परः।
पितृ मातृ सुहृद बन्धु भर्या शुद्धो निरामयः।।

तथा जो अन्य पुरुष के सम्पर्क से जो सन्तान प्राप्त होती है उसे कुंडक और विधवा के जो सन्तान हो उसे गोलक कहते हैं। इन कुन्डक, गोलक से रहित हो और जो श्रद्धागुण से सम्पन्न, शौचाचमन में तत्पर, पिता माता, मित्र, भार्यादिक से शुद्ध हों एवं दन्त धोवन से शुद्ध हो, मौनी संयमी हो, वही पूजा करने का अधिकारी है। अथः-

अति बालोऽति वृद्धश्च अतिदीर्घोऽतिवामनः।
हीनाधिकांगो व्याधिस् भृष्टो मूर्खः कुरूपवान्।।
मायावी दूषकोऽविद्वानर्थी क्रोधी चलो भवान्।
दुष्टात्मा ब्रज हीनोऽर्हत प्रतिष्ठायां न शस्यते।

इन दोषों से युक्त व्यक्ति पूजा प्रतिष्ठा में प्रशंसनीय नहीं है। अर्थात् अतिबाल, वृद्ध, दीर्घ, वामन, हीन, अधिक अंग या रोग सहित भ्रष्ट, मूर्ख, कुरूप, क्रोध, मान, माया, लोभादि से युक्त, अज्ञानी, क्रोधी चंचल चित्त, दुष्ट पुरुष पूजा के योग्य नहीं है। क्योंकि दोषी व्यक्ति को उल्टे पाप का बंध होता है।

ईदृशो यदि अज्ञानादर्चयेज्जिन पुंगवं।
देशो राष्ट्रं पुरं राज्यं राजा विश्वं विनश्यति।।

यदि अज्ञान से कोई व्यक्ति पूर्वोक्त क्रियाओं से रहित होकर पूजन करता है। तो देश, राष्ट्र, पुर, राज्य, राजा और सर्व विश्व का नाश होता है ऐसा जिनागम का वचन है।

सामोदैर्भुजलोदभूतैः पुष्पैर्यो जिनमर्चति।
विमानं पुष्पकं प्राप्य सक्रीडति यथेप्सितं।।

जो पुष्पों से जिनेंद्र देव की पूजा करता है। वह पुष्पक विमान में इच्छानुसार क्रीड़ा करता है। जिन व्यक्तियों को इसमें शंका उत्पन्न होती है उनके लिये श्री समंतभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्र में समाधान करते हुये कहते हैं।

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जिनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशो।
दोषाय नालं कणिका विषस्य, न दूषिका शीत शिवांबुराशौ।।

हे श्रेयांसनाथ! भगवान आपकी पूजन से जो (सावद्यलेशो) लेश मात्र पाप होता है उससे अधिक गुण पुण्य का बंध होता है। क्या विष की कणिका समुद्र के जल को दूषित कर सकती है। अर्थात् नहीं कर सकती। क्योंकि पुण्य कार्य अधिक करने से विशेष फल मिलते हैं।

जिनेन्द्राणां मुनीशानां पूजनात् पूज्यतापदम्।
उच्चै गोत्रं नमस्काराद् भक्ते रूपं च सुन्दरं।।

अर्थात् जिनेन्द्रदेव व मुनियों की पूजन करने से भव्य प्राणी पूज्यता को प्राप्त होते है और नमस्कार से उच्चगोत्र, भक्ति से सुन्दर रूप की प्राप्ति होती है।

शतं विहाय भोक्तव्यं, सहस्त्रं स्नानमाचरेत्।
लक्षं त्यक्त्वा नृपाज्ञा च, कोटि त्यक्त्वा जिनार्चनम्।।

अर्थात् प्रत्येक मानव सैकड़ों कार्य को छोड़कर भोजन करे और हजारों कार्य छोड़कर स्नान करे तथा लाखों कार्य छोड़कर नृपादिक की आज्ञा पालन करें और करोड़ों कार्य छोड़कर भगवान की पूजा करे। यदि स्वप्न में भी कोई भगवान का अपमान करता है तब उसे बहुत बुरा फल मिलता है- क्योंकि हम पाप करते समय कुछ नहीं सोचते जब उसका फल भोगना पड़ता है तो रोते हैं दुखी होते हैं।

भगवान के अपमान का फल

रानी कनकोदरी ने पटरानी पद के अभिमान में आकर द्वेष से अपनी सौत के ऊपर क्रोध करके उसके चैत्यालय से जिन प्रतिमा को मंगाकर बाहर डलवा दिया। पुनः संयम श्री आर्यिका के समझाने से वापस

प्रतिमा को चैत्यालय में विराजमान करके बहुत प्रकार से पूजा की और प्रायश्चित किया। फिर भी उसे प्रतिमा के अपमान का फल भोगना पड़ा।

वही रानी अगले भव में अंजना हो गई। वहाँ उस पाप का उदय आने से बाईस वर्ष तक उसे (अंजना को) पति के वियोग का दु:ख सहना पड़ा। क्योंकि पाप कर्मो का फल तो भोगना ही पड़ेगा।

कहने का तात्पर्य है कि जीव को पाप करते समय पता नहीं चलता, पर जब उसका फल भोगना पड़ता है तब किंपाक फल के समान दुखदाई होता है। जैसा कि कहा है-

राम नाम के आलसी भोगों में चितधार।
तुलसी ऐसे नरनि को बार-बार धिक्कार।।

इसलिये किसी को जिनेन्द्र प्रतिमा का कभी भी अपमान नहीं करना चाहिये। सदैव उनकी भक्ति में लीन रहना चाहिये। जैसा कि कहा भी है जो देव, शास्त्र, गुरु का अपमान करता है उसे अवश्य फल भोगना पड़ता है।

चेतन तुम तो चतुर हो, विषयों में क्यों लीन।
उत्तम नर भव पाय के, प्रभु भक्ति कर भीन।।

एक व्यक्ति मंदिर में जाकर खूब जोरों से चार-चार घण्टे पूजन कर रहा है पर उसका मन शुद्ध नहीं। तरह-तरह के संकल्प विकल्प उसके अन्दर उठ रहे हैं और एक व्यक्ति मात्र एक ही पूजन बड़ी लगन के साथ कर रहा हैं। इसे अधिक फल मिलता है। तो कहने का तात्पर्य यह है कि सच्ची श्रद्धा भक्ति के साथ की गई भगवान की भक्ति मुक्ति का कारण है। इसी पर एक दृष्टांत है। बालि नाम का एक व्यक्ति इतना जिन भक्त था कि जब भी वह रावण के पास जाता तो वह अपनी अंगूठी में जड़ी हुई प्रतिमा को नमस्कार करता था इससे मालूम पड़ा कि जिन भक्ति ही सुख का कारण है। क्योंकि आगम में अव्रती को नमस्कार करना नहीं बताया है।

जिन भक्ति में लवलीन जो वह, मुक्ति पद को झट लहे।
नहिं चाह धन दौलत की है बस, एक आत्मिक सुख चहे।।

प्राय: करके देखा जाता है कि जब बच्चा रोता है तभी मां उसे खाने को देती है। उसी प्रकार जब भक्त भगवान के समीप आनंद रूपी अश्रु बहाता है तभी उसे सफलता प्राप्त होती है अन्यथा नहीं। अर्थात् भगवान की सच्ची भक्ति करने वाला ही भव्य पुरुष संसार रूपी समुद्र से शीघ्र तिर जाते हैं। क्योंकि एक मात्र भक्ति ही हमें भव समुद्र से पार लगाने वाली है।

एक भक्त भगवान से कहता है कि हे भगवान! मुझे कुछ नहीं चाहिये, मुझे केवल आपकी भक्ति और आपका पद चाहिये। न मुझे इंद्र की पदवी चाहिये न चक्रवर्ती पद चाहिये। मैं एक दिन आपके समान बनूं बस यही एक अभिलाषा है।

प्रथम शुद्ध कर मन वच तन को, कार्य शुद्ध हो सफल जभी।
यदि इनमें से एक शुद्ध नहिं, सुख पाओगे तुम न कभी।।

कहने का तात्पर्य है कि सबसे प्रथम हमारी भावना शुद्ध होनी चाहिये। यदि हम भगवान के प्रति स्वप्न में भी गलत धारण करते है तो भव भव में हमें दु:ख उठाना पड़ेगा और यदि हम जिन भक्ति में सदा लीन है तो हम शीघ्र ही भव समुद्र से तिर जायेंगे।

कालिदास के बहकाने में आकर राजा भोज ने प्रथम मानतुंग आचार्य को बुलाने भेजा। क्योंकि जैन दिगंबर साधु किसी की आज्ञा में नहीं चलते। वे सदैव स्वाधीन रहते हैं। अपनी आत्म साधना में लीन रहते हैं। जब वे नहीं आये, मौनपूर्वक ध्यान में लीन हो गये। तब राजा भोज को बड़ा क्रोध आया और अपने सैनिक के द्वारा मानतुंग आचार्य को हथकड़ी बेड़ियों से बंधवाकर 48 तालों के अंदर बंद करवा दिया। आचार्य श्री ने अपने ऊपर भयंकर उपसर्ग समझकर ध्यान में लीन होकर एवं भगवान की भक्ति में लीन होकर आदिनाथ भगवान की स्तुति करके भक्तामर की रचना करना शुरू कर दिया। 48 काव्य द्वारा 48 ताले फौरन टूट गये। फौरन सैनिकों ने जाकर राजा भोज से शिकायत की राजा ने पुन: तालों में बन्द करवा दिया। सभी ताले खुल गये स्तोत्र के प्रभाव से पुन: सभी ताले खुल गये। स्वयं राजा भोज ने आकर ये चमत्कार देखा और आचार्य मानतुंग के चरणों में गिरकर क्षमा मांगा और उनके शिष्य बन गये। सभी जन ये चमत्कार देखकर प्रतिदिन भक्तामर का पाठ करने लगे। आज तक सभी लोग प्राय: करके भक्तामर का पाठ करके ही भोजन करते हैं। इतना अधिक इसका प्रभाव है।

नशाते कर्म घाती जो प्रभू अरहंत कहलाते।
देशना भव्य प्राणी ही, प्रभू अरहंत की पाते।।
करे अरहंत भक्ती जो, बने वह मोक्ष का राही।
विशद अरहंत के पद में, वंदना को सभी आते।।

****

11

आचार्य-भक्ति

निर्ग्रन्थ-मुक्तितो मुक्तिस्तस्य द्वारावलोकनम्।
तद्भोज्यालाभतो वस्तु-रसत्यागोपवासता॥
तत्पाद-वन्दना पूजा प्रणामो विनयो नतिः।
एतानि यत्र जायन्ते गुरु-भक्तिर्मता च सा॥११॥

मुनियों के आहार कर जाने पर आहार करना, आहार के लिए द्वारापेक्षण करना, मुनियों का आहार न होने पर रस आदि छोड़ देना या उपवास करना, उनके चरणों की वन्दना, पूजा, प्रणाम, विनय और नमस्कार ये क्रियाऐं जहाँ की जाती है वह गुरु मानी गई है।

दर्शन ज्ञान चरित तप साधक, वीर्यचरण धारी।
रत्नत्रय का पालन करते, गुरु पंचाचारी॥
भक्तों के हैं भाग्य विधाता, मुक्ती पद दाता।
शिक्षा-दीक्षा देने वाले, जन-जन के त्राता॥
सत्संयम की इच्छा करके, गुरु के गुण गाते।
भाव सहित वंदन करने को, चरणों में जाते॥
गुरु चरणों की भक्ती जग में, होती सुख दानी।
गुणियों ने आचार्य भक्ति शुभ, इसी तरह मानी॥

हम सभी लोग हमेशा की तरह आज भी एक साथ मिल-बैठकर विचार कर रहे हैं कि अपना शेष जीवन हम बेहतर ढंग से कैसे जिएँ? यदि हम यह सूत्र-वाक्य या बोध-वाक्य सदा याद रखें और सुबह उठते ही यह वाक्य हमारे मन में, स्मृति में आ जाए कि आज का दिन मुझे कल की अपेक्षा बेहतर ढंग से जीना है तो हमारा काम बहुत आसानी से पूरा हो सकता है। कल जहाँ-जहाँ मैं चूक गया था वहाँ मैं सावधानी बरतूँगा। कल जो मैंने कुछ अच्छा करने का सोचा था और चाहकर भी उसे कर नहीं पाया था, आज उसे पूरा करने का प्रत्यत्न करूँगा। हो सकता है मैं अपने प्रयास में आज भी असफल होऊँ, आज भी अवसर चूक जाऊँ, आज

भी अपनी भूलें दोहराऊँ, पर मैं हार मानकर, निराश होकर बैठूँगा नहीं। मैं पूरी ईमानदारी से, पूरी लगन से और अत्यन्त विनयपूर्वक अपने जीवन को अच्छा बनाने का प्रयत्न करूँगा।

हमने पिछले दिनों इस बात पर विचार किया था कि अर्हन्त भगवान की भक्ति भी हमारे जीवन को अच्छा बनाने में प्रबल निमित्त बन सकती है। भक्ति हमें भगवान से या कहें अपने अंतरंग की निर्मल अवस्था से जोड़ती है। हमारा मन और इन्द्रियाँ संसार की भौतिक सामग्री से बहुत जल्दी जुड़ जाती है। संसार की भौतिक सामग्री से हमारा सम्पर्क हमेशा बना रहता है। ये चीजें हमारे कॉन्टेक्ट में सदा आती रहती हैं। आँख खोलते ही ढेर सारी चीजें सामने दृष्टि में आ जाती हैं। भली-बुरी सैकड़ों तरह की आवाजें कानों से निरन्तर टकराती रहती हैं। यही स्थिति स्पर्श, जिह्वा और नाक की है। रही बात मन की सो मन में विचारों का ताँता (कतार) लगा ही रहता है। अच्छे-बुरे विचार आते-जाते रहते हैं। कुछ स्थायी होते हैं कुछ अस्थायी। कुछ जल्दी विस्मृत हो जाते हैं कुछ देर तक रहे आते हैं। भक्ति हमें इन सबके बावजूद भी अपने आप से, अपने वास्तविक या सत्य स्वरूप से जोड़े रखती है। यही भक्ति की महिमा है।

भक्ति के द्वारा जब हम गुणों से और गुणवान से जुड़ते हैं तो हमें हमारी गुणवत्ता को प्रकट करने का, उसे उद्घाटित करने का सहज अवसर मिलता है। मानिए, हम जिससे जुड़ते हैं उसके जैसे हो जाते हैं। या कहें कि हम जैसे होते हैं वैसे ही लोगों से हम जुड़ जाते हैं। यह एक सामान्य-सा नियम है। इसके अपवाद (एक्सेप्शन) भी संभव हैं। हम जड़ वस्तुओं से जुड़ते है, अचेतन पदार्थों के ज्यादा सम्पर्क में आते हैं और उनको अचेतन मानकर उपयोग करते हैं तो धीरे-धीरे हमारी संवेदना लुप्त हो जाती है। हमारे भीतर तृष्णा का भाव अधिक बढ़ जाता है। फिर चीजें जोड़ने में आनन्द आने लगता है। भूख-प्यास सब भूलकर एक ही धुन लग जाती है, संग्रह करने की। जीवन से ज्यादा कीमती हो जाती हैं चीजें। चीजों में मानो हमारे प्राण अटक जाते हैं और सचमुच, प्राणान्त होने तक हम चीजों से मोह नहीं छोड़ पाते और न ही अपने जीवन को गुणवत्ता से जोड़ पाते हैं। जिस चीज से हम जिस तरह जुड़ते हैं वह हमें उसी दिशा में ले जाती है। जुड़ते समय बड़ी सजगता रखने का काम है। अच्छाई से जुड़िएगा, अच्छे लोगों से जुड़िएगा, आप स्वयं अनुभव करेंगे कि हमारा जीवन अच्छा बनने की दिशा में आगे बढ़ रहा है। बुराईयों का भी ऐसा ही है।

जुड़ने से मेरा आशय, लगाव से है, अनुराग से है। वह अनुराग आध्यात्मिक है या भौतिक, यह हमें स्वयं देखना होगा। सच्ची भक्ति वही है जिसमें हमारे भीतर आध्यात्मिक लगाव उत्पन्न होता है। हमारे भीतर गुणों को देखने की दृष्टि हो तो हमारा ध्यान गुणों की ओर जाएगा और जो जुड़ाव होना वह भी निःस्वार्थ होगा। आत्मिक होगा।

आज अपन आचार्य-भक्ति के माध्यम से आचार्य के गुणों से जुड़ने, उनके गुणों का चिन्तन करने और उनके जैसा बनने की भावना पर विचार करते हैं। मुनि-संघ के नायक को आचार्य कहते हैं। जो पंचाचार का स्वयं पालन करते हैं और शिष्यों को आचरण कराते हैं। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है, आचार्य की

प्रशंसा में कि कैसे होते हैं आचार्य? '**परहित सम्पादनैक कार्यं आचार्यवर्य विधीयते**' -दूसरे का कल्याण करना, दूसरे के कल्याण में निमित्त बनना ही एक महत्त्वपूर्ण कार्य है जिनका, ऐसे आचार्य -भगवन्त प्रशंसनीय हैं। वे एक नाव की तरह हैं जो स्वयं पार होती है और बैठने वालों को भी पार लगाती है। आचार्य महाराज संघ का कुशलतापूर्वक संचालन करते हैं, संघ को अनुशासित और व्यवस्थित करते हैं। मैनेजमेन्ट (प्रबंधन) के बारे में एक बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि मैनेजिंग डायरेक्टर यदि यह कहे कि मैं जो कहता हूँ बाकी सब लोग वही करो। तो वह सफल मैनेजिंग डायरेक्टर नहीं कहलाएगा। उसके साथ काम करने वाले असंतुष्ट रहेगें। काम भी ठीक से नहीं होगा। उस मैनेजिंग डायरेक्टर को सफल माना गया है जो कहे कि मैं जो करता हूँ वही तुम सब भी करो। वह स्वयं करता है और सभी को वैसा करने की प्रेरणा मिल जाती है। उसकी उपस्थिति मात्र ही लोगों को अपना कर्त्तव्य करने की प्रेरणा देती है। हमारे आचार्य महाराज की यही विशेषता है। वे स्वयं आचरण करते हैं और उनके आचरण से प्रेरित होकर सभी उनके बताए मार्ग का अनुसरण करते हैं। मन्दिर में एक भक्त पहुँचा वह प्रतिमाओं में वीतरागता देख रहा था, प्रतिमा में गुणों को परख रहा था, उसको अन्य बातों से कोई मतलब नहीं था। इसी प्रकार कोई तो रूढिवाद को पकड़ कर मन्दिर जाते हैं कि मुझे मन्दिर जाना है। कुछ लोग मन्दिर जाकर कहते है कि हे भगवान! मैं तेरे 108 चक्कर लगा रहा हूँ मेरा मनोरथ सिद्ध कर देना। कोई ये विचार करता है, हे भगवान! जो तेरी वीतराग छवि है यह मेरे मन में बस जाये और जब तक मैं भी तेरे जैसा ना बन जाऊँ यह छवि, मेरे मन में बसी रहे। जिसके मन में वीतराग छवि बसाने की ललक जागी, उसने की अर्हन्त भक्ति। असली भक्ति वही है, उनके जैसे भावों का जागृत होना और जब ऐसे भाव जागृत होगें तो एक दिन ऐसा भी आयेगा जब कर्मों की कड़ियाँ टूट जायेंगी। अरहन्त भक्ति की सार्थकता तभी है जब आप अपने जीवन में उनके गुणों को उतारने का प्रयास करेगें तथा उनके बताये मार्ग पर चलने का प्रयास करेंगे अन्यथा चौरासी लाख योनियों के चक्कर तो लगा ही रहे हो। इस चक्कर को मिटाने के लिए देव, शास्त्र, गुरु की शरण लेनी पड़ेगी। आज हम आचार्य भक्ति के बारे में जानेंगे।

आचार्य परमेष्ठी किसे कहते हैं? एक आचार्य में कौन से गुण होना चाहिए और उनकी उपयोगिता क्या है आदि, क्योंकि उनके ज्ञान के बिना आचार्य की भक्ति नहीं की जा सकती? किसी कवि ने लिखा है-

देवत ही उपदेश अनेक सु, आप सदा परमारथ धारी।
देश-विदेश विहार करें, दस धर्म धरें भव पार उतारी।।
ऐसे अचारज भाव धरी भज, सो शिव चाहत कर्म निवारी।
ज्ञान कहे गुरू भक्ति करो नर, देखत ही मन मांहि विचारी।।

जो पंचाचार का पालन स्वयं करते हैं और दूसरों से करवाते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। आचार्य सदा मोक्ष मार्ग को धारण करने वाले अनेक प्रकार के उपदेश देते हैं। संसार को पार उतारने वाले दस धर्मो को धारण कर स्थान-स्थान पर विहार करते हैं। कर्म की निवृत्ति कर मोक्ष चाहने वाले ऐसे आचार्य की भाव सहित भक्ति

करते हैं। ज्ञानीजन कहते हैं कि हे प्राणी! यदि मोक्षमार्ग की प्राप्ति करना चाहते हो तो परखकर, मन में विचारकर, गुरू भक्ति करो।

जो आचारज भक्ति करे है, सो निर्मल आचार धरै है।

अर्थात् जो आचार्य भक्ति करता है, वह निर्मल आचरण धारण करता है।

सभी ने गुरू की अपरिमित महिमा का यशोगान किया है। कहा भी है कि–

गुरू गोविन्द दोउ खड़े, काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपकी, गोविन्द दियो बताय।।

गुरु की महिमा अपरम्पार है। गुरु शिष्य को भगवान बना देता है। गुरु को तरण तारण कहा है। गुरू तो सत्य पथ पर चलते ही हैं, साथ ही दूसरों को भी चलाते हैं। गुरु स्वयं भी तरता है और दूसरों को भी तारता है। इसलिए गुरु का महत्त्व अनुपम है। आचार्य महाराज संसार में डूबते को अवलम्बन देते हैं। बुद्धि बल प्रदान करते हैं, साहस देते हैं और सभी प्रकार के बल अपने शिष्य को प्रदान करते हैं।

आचार्य परमेष्ठी के पास, यदि कोई दीक्षा लेने आता है तो उसको दीक्षा दे देते हैं और कल्याण मार्ग पर लगा देते हैं। आचार्य परमेष्ठी का हर समय यह भाव रहता है कि मेरा शिष्य ऊँचा उठ जाये। वे कहते हैं कि तुम भगवान बन जाओ।

जहाँ राग का थोड़ा अंश भी शेष है वहाँ मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती। लेकिन आचार्य कितने महान होते हैं जो 28 मूलगुणों को धारण करते हैं, 12 तप पालते हैं, छह आवश्यक क्रियाओं में सावधान रहते हैं और पंचाचार पालते हैं। तेरह प्रकार के चारित्र को शुद्ध रखते हुए बाईस परिषह को जीतते हैं। दस लक्षण धर्म में जिनकी परिणति है और तीन गुप्ति पाँच, समितियों के धारी जो आचार्य हैं और वह अन्य साधुओं को उचित प्रायश्चित देकर संघ का संचालन करते हैं।

वे धन्य भाग्य हैं, जिन्हें वीतरागी गुरुओं के गुणों में अनुराग होता है। धन्य हैं जिन पुरुषों के मस्तक पर गुरुओं की आज्ञा प्रवर्तती है। आचार्य अनेक गुणों की खान हैं, श्रेष्ठ तप के धारक हैं। इसलिए अपने मन में उनके गुणों का स्मरण करके पूजिये, अर्घ उतारण कीजिये एवं उनके आगे पुष्पाँजलि क्षेपण कीजिए, जिससे गुरूओं के चरणों की शरण ही प्राप्त होवे।

आचार्य का स्वरूपः–जिनका अनशन आदि बारह प्रकार के उज्ज्वल तपों में निरन्तर उद्यम है, छह आवश्यक क्रियाओं में सावधान हैं, दशलक्षण धर्मरूप जिसकी परिणति है, गुप्ति और समिति सहित हैं, ऐसे छत्तीस गुणों के धारी, आचार्य होते हैं। सम्यक्दर्शनाचार को निर्दोष धारण करते हैं। सम्यग्ज्ञान की शुद्धता से युक्त हैं। तेरह प्रकार के चारित्र की शुद्धता के धारक हैं। तपश्चरण में उत्साह युक्त हैं तथा अपनी शक्ति को नहीं छिपाते हुए बाईस परीषहों को जीतने में समर्थ, ऐसे निरन्तर पंचाचार के धारक हैं। अंतरग–बहिरंग परिग्रह

से रहित हैं। निर्ग्रन्थ मार्ग में गमन करने के लिए उपवास, बेला-तेला, पंचोपवास, पक्षोपवास, मासोपवास रूप तप करने में तत्पर हैं तथा निर्जन वन में और पर्वतों की दरारों में, गुफाओं के स्थान में निश्चय शुभ ध्यान में मन को लगाते हैं। शिष्यों की योग्यता को अच्छी तरह से जानकर शिक्षा दीक्षा देने में निपुण हैं। युक्ति से सब प्रकार के नयों के जानने वाले हैं। अपने शरीर से ममत्व छोड़कर रहते हैं। रात-दिन संसार कूप में पतन हो जाने से भयभीत हैं। जिन्होंने मन-वचन-काय की शुद्धता सहित नासिका के अग्रभाग में नेत्र युगल को स्थापित किया है, ऐसे आचार्य को मस्तक सहित अपने सभी अंगों को पृथ्वी में नवाकर वंदन करना चाहिए। उन आचार्यों के चरणों के स्पर्श से पवित्र हुई रज को शिर पर रखिए। इस प्रकार संसार परिभ्रमण के क्लेश को नष्ट करने वाली आचार्य भक्ति है।

आचार्य के विशेष गुण - धर्म के नायक आचार्य के निम्न गुण होते हैं-

जो श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुए हों, जिनके स्वरूप को देखते ही परिणाम शांत हो जायें ऐसे मनोहर रूप वाले हों, जिनका उच्च आचार जगत में प्रसिद्ध हो, पहले गृहस्थ अवस्था में भी कभी हीन आचार या निंद्य व्यवहार न किया हो, वर्तमान भोग सम्पदा छोड़कर विरक्ती को प्राप्त हुए हों, लौकिक व्यवहार तथा परमार्थ के ज्ञाता हों, बुद्धि की प्रबलता तथा तप की प्रबलता के धारक हों, संघ के अन्य मुनियों से जैसा तप नहीं बन सके वैसे तप के धारक हों, बहुत काल से दीक्षित हों, बहुत काल तक गुरूओं का चरण सेवन किया हो, वचन में अतिशय सहित हों, जिनके वचन सुनते ही धर्म में दृढ़ता हो , संशय का अभाव हो, जो संसार-शरीर भोगों से दृढ़-निश्चय विरागता वाले हों, सिद्धान्त सूत्र के अर्थ के पारगामी हों, इन्द्रियों का दमन करके इस लोक-परलोक संबंधी भोग विलास रहित हों, देहादि में निर्ममत्व हों, महाधीर हों, उपसर्ग-परीषहों से जिनका चित्त कभी चलायमान नहीं हो, स्वमत परमत के ज्ञाता हों, अनेकान्त विद्या में क्रीड़ा करने वाले हों, अन्य के प्रश्न आदि का कायरता रहित तत्काल उत्तर देने वाले हों, एकान्त पक्ष का खंडन कर सत्य धर्म की स्थापना करने की जिसमें सामर्थ्य हो, धर्म की प्रभावना करने में उद्यमी हों और गुरूओं के निकट प्रायश्चित आदि, शास्त्र पढ़कर छत्तीस गुणों के धारक हों। ऐसे साधुओं को समस्त संघ की साक्षी पूर्वक गुरूओं का दिया, दानरूप आचार्य पद प्राप्त होता है। जो उपर्युक्त गुणों का धारक हो उसे आचार्य पद प्राप्त होता है। इन गुणों के बिना यदि आचार्य होगा तो धर्मतीर्थ का लोप हो जायेगा, शास्त्र की परिपाटी तथा आचार की परिपाटी दूर हो जायेगी।

आचार्य के आठगुणः- आचार्य के अन्य अष्टगुण हैं, जिनका धारण करने वाला ही आचार्य होना चाहिए। आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान, प्रकर्ता, अपायोपायविदर्शी, अवपीड़क, अपरिस्त्रावी, निर्यापक-ये आठ गुण हैं।

आचारवानः- जो पाँच प्रकार का आचार धारण करता है, उसे आचारवान कहते हैं। भगवान सर्वज्ञ वीतरागी देव ने अपने दिव्य निरावरण ज्ञान द्वारा जीवादि तत्त्वों को प्रत्यक्ष देखकर जो कहा है, उसमें सम्यक् श्रद्धान रूप परिणति होना दर्शनाचार है, स्वपर तत्त्वों का निर्बाध आगम और आत्मानुभव से जानने रूप प्रवृत्ति

ज्ञानाचार है। हिंसादि पाँच पापों के अभाव रूप प्रवृत्ति चारित्राचार है। अंतरंग-बहिरंग तप में प्रवृति तपाचार है। परीषह आदि आने पर अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर धीरता रूप प्रवृत्ति वीर्याचार है और भी दश प्रकार के स्थितिकल्प आदि आचार में आचार्य को तत्पर होना चाहिए।

जो पाँच प्रकार के आचार स्वयं निर्दोष पालें तथा अन्य शिष्यों को भी निर्दोष आचरण कराने में उद्यमी हों वे आचार्य हैं। यदि आचार्य स्वयं हीनाचारी हों तो वह शिष्यों से शुद्ध आचरण नहीं करा सकेगा। जो हीनाचारी होगा वह आहार-विहार, उपकरण, वसतिकादि अशुद्ध ग्रहण करा देगा। जो स्वयं ही आचारहीन होगा वह शुद्ध उपदेश नहीं कर सकेगा। इसलिए आचार्य को आचारवान ही होना चाहिए।

आधारवान:- जिनेन्द्र के कहे चारों अनुयोगों का आधार हो, स्याद्वाद विद्या का पारगामी हो, शब्द, न्यायविद्या, सिद्धान्त विद्या का पारगामी हो, प्रमाण, नय, निक्षेप द्वारा व स्वानुभव के द्वारा भली प्रकार से जिसने तत्त्वों का निर्णय किया हो वह आधारवान है। जिसके श्रुत का आधार नहीं हो वह अन्य शिष्यों का संशय, एकान्त रूप हठ तथा मिथ्याचरण का निराकरण नहीं कर सकेगा। अनंतानंत काल से परिभ्रमण करते आये जीव को अति दुर्लभ मनुष्य जन्म की प्राप्ति, उसमें भी उत्तम देव, जाति कुल, इन्द्रियों की पूर्णता, दीर्घायु, सत्संगति, श्रद्धान, ज्ञान, आचरण, ये उत्तरोत्तर दुर्लभ संयोग पाकर यदि अल्पज्ञानी, गुरु के पास रहने वाला शिष्य हुआ तो वह सत्यार्थ उपदेश नहीं प्राप्त करने के कारण, अपना स्वरूप यथार्थ नहीं जानकर संशय रूप हो जायेगा। मोक्षमार्ग को अतिदूर, अति कठिन जानकर, रत्नत्रय को यथार्थ नहीं जानकर संशय रूप हो जायेगा तथा मोक्ष मार्ग को अतिदूर अति कठिन जानकर रत्नत्रय मार्ग से विचलित हो जायेगा।

सत्यार्थ उपदेश बिना विषय कषायों में उलझे मन को निकालने में समर्थ नहीं होगा तथा रोगकृत वेदना में व उपसर्ग परीषहों से विचलित हुए भावों को शास्त्र के अतिशय रूप उपदेश के बिना, थामने में समर्थ नहीं होगा। यदि मरण आ जाये तब सन्यास के अवसर में आहार-पान का त्याग का यथा अवसर देश काल सहायक सामर्थ्य के क्रम को समझे बिना शिष्य के भाव विचलित हो जाये या आर्तध्यान हो जाये तो सुगति बिगड़ जायेगी, धर्म का अपवाद होगा, अन्य मुनि भी धर्म में शिथिल हो जायेगें।

यह मनुष्य आहारमय है, आहार से ही जी रहा है, आहार की ही निरन्तर वांछा करता है। जब रोग के कारण तथा त्याग कर देने से आहार छूट जाता है तथा दु:ख से ज्ञान-चारित्र में शिथिल हो जाता है, धर्मध्यान रहित हो जाता है तब बहुश्रुतगुरू ऐसा उपदेश देते हैं, जिससे क्षुधा-तृषा की वेदना रहित होकर उपदेश रूप अमृत से सींचा हुआ, समस्त क्लेश रहित हुआ, धर्मध्यान में लीन हो जाता है। क्षुधा-तृषा, रोगादि की वेदना सहित शिष्य को धर्म के उपदेश रूप अमृत का पानी तथा उत्तम शिक्षा रूप भोजन द्वारा ज्ञान सहित गुरू, वेदना रहित करते हैं। बहुश्रुत के आधार बिना धर्म नहीं रहता है। इसलिए जो आधारवान आचार्य हो उन्हीं से शिक्षा ग्रहण करना योग्य है।

यदि शिष्य वेदना से दुखी हो रहा हो तो उसका शरीर सहलाना, हाथ, पैर, मस्तक दबाना, मीठे शब्द बोलना इत्यादि द्वारा दु:ख दूर करे। पूर्व में जो अनेक साधुओं ने घोर परीषह सहकर आत्मकल्याण किया उनकी कथा कहकर देह से भिन्न आत्मा का अनुभव कराकर वेदना रहित करे। हे मुनि! अब दु:ख में धैर्य धारण करो, संसार में कौन-कौन से दु:ख नहीं भोगे? यदि वीतरागी की शरण ग्रहण करोगे तो दु:खों का नाश करके कल्याण को प्राप्त हो जाओगे- इत्यादि बहुत प्रकार से कहकर मार्ग से विचलित नहीं होने दे, ऐसे आधारवान गुरु की शरण लेने योग्य है।

व्यवहारवान:- आचार्य को व्यवहार प्रायश्चित शास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए क्योंकि प्रायश्चित शास्त्र तो आचार्य होने के योग्य पात्र को पढ़ाया जाता है औरों के पढ़ने योग्य नहीं है। जो जिन आगम का ज्ञाता हो, महाधैर्यवान हो, प्रबल बुद्धि का धारक हो वही प्रायश्चित्त दे सकता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, क्रिया, परिणाम, उत्साह, संहनन, पर्याय, दीक्षा का काल, शास्त्रज्ञान, पुरुषार्थ आदि को अच्छी तरह जानकर जो राग-द्वेष रहित होता है, वही प्रायश्चित्त देता है।

जिसमें इतनी प्रवीणता हो कि यह जान सके कि प्रायश्चित्त लेने वाले को कितना प्रायश्चित्त देने पर उसके परिणाम उज्ज्वल हो जायेगें, दोष का अभाव हो जायेगा, व्रतों में दृढ़ता होगी, ऐसा ज्ञाता हो। जिसे आहार की योग्यता-अयोग्यता का ज्ञान हो, इस क्षेत्र में ऐसे प्रायश्चित्त का निर्वाह होगा या नहीं होगा, इस क्षेत्र में वात-पित्त-कफ-शीत, उष्णता की अधिकता है या समता है अथवा इस क्षेत्र में मिथ्यादृष्टियों की अधिकता है या मंदता है, यह जानकर प्रायश्चित्त का निर्वाह होता दिखाई दे तो प्रायश्चित देना चाहिए। शीत, उष्ण-वर्षाकाल को, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी का तीसरा, चौथा, पंचम काल को देखकर, काल के आधीन प्रायश्चित का निर्वाह होता दिखाई दे तो प्रायश्चित दें।

परिणाम देखना चाहिए यह भी देखना कि तपश्चरण में इसका तीव्र उत्साह है या मंद है। संहनन की हीनता- अधिकता, बल की मंदता-तीव्रता भी देखना चाहिए। यह भी देखना चाहिए कि यह बहुत काल का दीक्षित है या नवीन दीक्षित है, सहनशील है या कायर है, बाल-युवा-वृद्ध अवस्था भी देखना चाहिए, आगम का ज्ञाता है या मंद ज्ञानी, पुरुषार्थी है या मंद उद्यमी है इत्यादि का ज्ञाता होकर प्रायश्चित देना चाहिए। दोषरूप आचरण जिस प्रकार फिर नहीं करे तथा पूर्व में किये दोष दूर हो जायँ, उस प्रकार शास्त्र के अनुकूल प्रायश्चित देना चाहिए। जिसने गुरूओं के निकट प्रायश्चित शास्त्र से व अर्थ से पढ़ा नहीं, वही यदि दूसरों को प्रायश्चित देता है तो संसार रूपी कीचड़ में डूबता है, अपयश उपार्जन करता है तथा उन्मार्ग का उपदेश देकर सम्यक्मार्ग का नाश करके मिथ्यादृष्टि होता है। जो इतने गुणों का धारक हो उसे प्रायश्चित शास्त्र पढ़ाकर गुरु अपना आचार्य पद दे देते हैं। जो महान काल में उत्पन्न हुआ हो, व्यवहार परमार्थ का ज्ञाता हो, किसी भी काल में अपने मूलगुणों में अतिचार नहीं लगाता हो, चारों अनुयोग रूप शास्त्र समुद्र का पारगामी हो, धैर्यवान हो, कुलवान हो, परीषह जीतने में समर्थ हो, देवों द्वारा किये गये उपसर्ग से भी जो चलायमान नहीं हो, वक्तृत्व की

शक्ति का धारक हो, वादी-प्रतिवादी को जीतने में समर्थ हो, विषयों से अत्यन्त विरक्त हो, बहुत समय तक गुरु संघ में रहा हो, वह प्रायश्चित देता है। इतने गुणों के बिना जैसे मूढ़ वैद्य, यदि देश, काल, प्रकृति आदि को नहीं जानता है तो वह रोगी को मार डालता है, उसी प्रकार व्यवहार ज्ञान रहित मूढ़ गुरु भी शिष्य को संसार में डुबोने वाला ही है। इसलिए आचार्य को व्यवहारवान होना ही चाहिए।

प्रकर्ता :- आचार्य को प्रकर्ता गुण सहित होना चाहिए। संघ में कोई रोगी हो, वृद्ध हो, अशक्त हो, बालक हो जिसने सन्यास धारण कर लिया हो, उनकी वैयावृत्ती में नियुक्त किये गये मुनि तो सेवा करते ही हैं परन्तु स्वयं आचार्य भी यदि संघ के मुनियों में कोई अशक्त हो जाये तो उसे उठाना, प्रासुक स्थान में बैठाना, धर्मोपदेश देना, धर्मग्रहण कराना इत्यादि आदर पूर्वक भक्ति सहित वैयावृत्ती करते है उनको देखकर संघ के सभी मुनि वैयावृत्ती करने में सावधान हो जाते हैं तथा विचार करते है।

अहो! धन्य हैं यह गुरू, भगवान परमेष्ठी, करुणा निधान, जिनके आत्मा में ऐसा वात्सल्य है। हम महानिंद्य हैं, आलसी हो रहे हैं, हमारे होते हुए भी गुरु सेवा करे यह हमारा प्रमादीपन धिक्कारने योग्य है, बंध का कारण है। ऐसा विचार कर समस्त संघ वैयावृत्ती में उद्यमी हो जाता है।

यदि आचार्य स्वयं प्रमादी हों तो सकल संघ वात्सल्य रहित हो जाये। इसलिए आचार्य का कर्त्तव्य गुण मुख्य है। समस्त संघ की वैयावृत्ती करने की जिसमें क्षमता हो वह आचार्य होता है। कोई हीन आचार्य हो तो उसे शुद्ध आचार ग्रहण कराते हैं, कोई मंद ज्ञानी हो तो उसे समझाकर चारित्र में लगाते हैं, किसी को प्रायश्चित देकर शुद्ध करते हैं, किसी को धर्मोपदेश देकर दृढ़ता कराते हैं। धन्य हैं आचार्य, जिनको उनकी शरण प्राप्त हो गई, उनको वे मोक्षमार्ग में लगाकर उद्धार कर देते हैं। इसलिए आचार्य का प्रकर्ता गुण प्रधान है।

अपायोपाय-विदर्शी :- अपायोपायविदर्शी नाम का आचार्य का पांचवाँ गुण है। कोई साधु, क्षुधा, तृषा, रोग, वेदना से क्लेशित परिणाम रूप हो जाये, तीव्र राग-द्वेष रूप हो जाये, लज्जा से, भय से यथावत् आलोचना नहीं करे। रत्नत्रय में उत्साह रहित हो जाये, धर्म में शिथिल हो जाये कषाय अर्थात् रत्नत्रय के नाश होने से कांपने लगे तथा रत्नत्रय के नाश से अपना नाश व नरकादि कुगति में पतन साक्षात दिखाई देने लगे, ऐसे साधुओं के लिए, रत्नत्रय की रक्षा से संसार से उद्धार करने वाली अनन्त सुख की प्राप्ति हेतु उपदेश द्वारा साक्षात् दिखला दे, ऐसा उपदेश देने की सामर्थ्य जिसमें हो, वह अपायोपाय-विदर्शी का धारक आचार्य होता है।

अवपीड़क :- अब अवपीड़क नाम का छठा गुण कहते हैं। कोई मुनि रत्नत्रय को धारण करके भी लज्जा से, भय से, अभिमान, गौरव आदि से अपनी शुद्ध यथावत् आलोचना (भूल स्वीकार करना) नहीं करता है तो आचार्य उसे स्नेह से भरी तथा हृदय में प्रवेश करने वाली शिक्षा देते हैं। हे मुने! बहुत दुर्लभ रत्नत्रय के लाभ को तुम मायाचारी द्वारा नष्ट नहीं करो। माता-पिता के समान अपने गुरूओं के पास अपना दोष प्रकट

करने में क्या शर्म है? वात्सल्य के धारी गुरु भी अपने शिष्य के दोष प्रकट करके शिष्य का तथा धर्म का अपवाद नहीं कराते हैं। अत: शल्य दूर करके आलोचना करो। जिस प्रकार रत्नत्रय की शुद्धता व तपश्चरण का निर्वाह होगा उसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार तुम्हें प्रायश्चित दिया जायेगा। अत: भय छोड़कर निर्दोष आलोचना करो।

जो ऐसे स्नेह रूप वचनों द्वारा भी माया शल्य नहीं छोड़ता है तो तेज के धारी आचार्य दबाव देकर शिष्य की शल्य को निकालते हैं। जिस समय आचार्य शिष्य से पूछते हैं कि- हे मुने! क्या यह दोष ऐसा ही है, सत्य कहो? तब उनके तेज व तप के प्रभाव से जैसे महान प्रचण्ड तेजस्वी राजा के द्वारा अपराधी से पूछे जाने पर वह तत्काल सत्य बात बता देता है उसी प्रकार शिष्य भी माया शल्य को निकाल देता है।

यदि शिष्य सत्य नहीं बोलकर अपना मायाचार नहीं छोड़ता है तो गुरु तिरस्कार के वचन भी कहते हैं- 'हे मुने! हमारे संघ से निकल जाओ, हमसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है? जो अपने शरीर का मैल धोना चाहेगा वह प्रवीण वैद्य को प्राप्त करेगा, उसी प्रकार जो रत्नत्रय रूप परम धर्म के अतिचार दूर करके उज्ज्वल होना चाहेगा वह गुरु का आश्रय लेगा। तुम्हें रत्नत्रय की शुद्धता करने में आदर नहीं है इसलिए यह मुनि व्रत धारण करना, नग्न होकर क्षुधादि परीषह सहने की विडंबना द्वारा क्या साध्य है? रत्नत्रय का संवर्धन कैसे हो, स्थिरता कैसे आए? ये बात आचार्य भगवन अच्छे से जानते हैं।

इसी तरह आचार्य माघनन्दि जी का उदाहरण आता है। मोह का तीव्र उदय आने से उन्होंने रत्नत्रय का पालन करना छोड़ दिया और गृहस्थी में चले गए। पर आत्म रूचि तो अंतरंग में थी। आत्म ज्ञान की ज्योति तो अंतरंग में शेष थी। एक दिन उनके गुरु महाराज ने संघ में उठी धर्म शंका का समाधान स्वयं न देकर कहा कि अगर माघनन्दि जी होते तो इसका समाधान अच्छे से देते वे चाहते थे कि यह बात माघनन्दि जी तक पहुँच जाए और सचमुच, यह बात माघनन्दि जी तक पहुँच गई। माघनन्दि सारी बात सुनकर चकित हुए और क्षण भर तक सोच में डूब गए कि आह! मेरे गुरु, संघ में आज भी मेरे ज्ञान की प्रशंसा करते हैं और मैं गृहस्थी में फँस गया। क्षणभर में मोह का अंधेरा हट गया, ज्योति जग गई और गुरु के चरणों में जाकर प्रायश्चित्त लेकर पुन: मुनि पद अंगीकार कर लिया। रत्नत्रय की आराधना करने लगे। रत्नत्रय में पुन: स्थिर हो गए। ऐसी विशेषता है आचार्य भगवन्तों की, गुरुजनों की। संवर, निर्जरा तो कषायों को जीतने से होती है। जब माया कषाय का ही त्याग नहीं किया तो व्रत, संयम, मौन धारण करना व्यर्थ है। मायाचारी का नग्न रहना और परीषह सहना व्यर्थ है, तिर्यञ्च भी परिग्रह रहित नग्न रहते हैं। अत: तुम दूरभव्य हो हमारे वंदने योग्य नहीं हो। तुम्हारे भाव तो ऐसे हैं कि यदि हमारा दोष प्रकट हो जायेगा तो हम निंद्य हो जायेगें। हमारी उच्चता घट जायेगी। किन्तु तुम्हारा ऐसा मानना बंध का कारण है। श्रमण स्तुति-निंदा में समान परिणाम रखने वाले होते हैं। इस प्रकार गुरु कठोर वचन कहकर भी मायाचार आदि का अभाव कराते हैं। ऐसे होते हैं, अवपीड़क आचार्य? जो बलवान हो, उपसर्ग, परिषह आने पर कायर नहीं हो, प्रभाववान हो जिसका वचन उल्लंघन करने में कोई समर्थ नहीं हो, जिसे देखने

के साथ ही दोष का धारक साधु कांपने लगे, जिसे बड़े-बड़े विद्या के धारक झुककर वंदना करते हों, जिसकी उज्ज्वल कीर्ति विख्यात होती है, जिसकी प्रशंसा सुनते ही उसके गुणों में दृढ़ श्रद्धा हो जाती है, जिसके वचन जगत में देखे बिना ही दूर देशों में प्रमाण माने जाते हों और सिंह के समान निर्भय हो, ऐसा अवपीड़क गुण का धारक गुरु जिस प्रकार शिष्य का हित हो उस प्रकार उपकार करता है। जैसे बालक का हित विचारने वाली माता रोते हुए बालक को भी दाबकर, मुहँ खोलकर, जबरदस्ती घृत, दुग्ध, औषधि आदि पिलाती है, उसी प्रकार शिष्य का हित विचारने वाले आचार्य भी मायाशल्य सहित-शिष्य मुनि का जबरदस्ती दोष दूर करते हैं अथवा कटुक औषधि के समान हित करते हैं। जो जिह्वा से मीठा बोले किन्तु शिष्य को दोषों से दूर नहीं कर सके वह गुरु भला नहीं करता। जो वचन से ताड़ना देकर भी दोषों से छुड़ाता है, वह गुरु पूजने योग्य है। अतः अवपीड़क गुण का धारक भी आचार्य होता है।

अपरिस्त्रावी :- अब अपरिस्त्रावी गुण कहते हैं। शिष्य जिस दोष की गुरु से आलोचना करता है, गुरु उस दोष को किसी दूसरे से नहीं बतलाते हैं। जैसे तपाये हुए लोहे के द्वारा पिया हुआ जल बाहर नहीं निकलता है उसी प्रकार शिष्य से सुने हुए दोष को आचार्य किसी दूसरे को नहीं बताते हैं, वह अपरिस्त्रावी गुण हैं। शिष्य तो गुरु का विश्वास करके कहता है किन्तु यदि गुरु शिष्य का दोष प्रकट कर देता है दूसरों को बता देता है वह गुरु नहीं है, अधम है विश्वासघाति है।

कोई शिष्य अपने दोष को गुरु के द्वारा प्रकट किया गया जानकर दुःखी होकर आत्महनन कर लेता है, कोई क्रोध में आकर रत्नत्रय का त्याग कर देता है, कोई गुरु की धृष्टता जानकर अन्य संघ में चला जाता है। जैसे मेरी अवज्ञा की है वैसे ही तुम्हारी भी अवज्ञा करूगाँ-इस प्रकार समस्त संघ में प्रकट घोषणा कर देता हैं जिससे समस्त संघ का आचार्य पर से विश्वास उठ जाता है। ऐसे आचार्य सभी के त्याज्य हो जाते हैं। अतः अपरिस्त्रावी गुण का धारक भी आचार्य होना चाहिए।

निर्यापकः- आचार्य को निर्यापक गुणधारी होना चाहिए। जैसे खेवटिया समस्त बाधाओं को टालकर नाव से पार उतार ले जाता है, उसी प्रकार आचार्य भी शिष्यों को दोषों से बचाकर संसार समुद्र से पार करा देता है।

इस प्रकार आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान, प्रकर्त्ता, अपायोपायविदर्शी, अवपीड़क, अपरिस्त्रावी, निर्यापक-आचार्य के इन आठ गुणों को धारण करने वालों के गुणों में अनुराग करना, आचार्य भक्ति है। ऐसे आचार्यों के गुणों को स्मरण करके आचार्यों का स्तवन, वंदन करके जो पुरुष अर्घावतारण करता है वह पापरूप संसार की परिपाटी को नष्ट करके अक्षय सुख को प्राप्त करता है, ऐसा वीतरागी गुरु कहते हैं।

आज तक धर्म को ऊँचा उठाने का कार्य आचार्यो ने ही किया है। महावीर स्वामी के बाद सुधर्माचार्य, जम्बूस्वामी आदि केवलियों द्वारा अनेक वर्षों तक अंगज्ञान सुरक्षित रहा। भद्रबाहु स्वामी एक बार उज्जयिनी में

आहार को गये। वहाँ पर एक बालक पालने में झूल रहा था। उसकी आवाज सुनकर उन्होंने कहा कि यहाँ पर बारह साल का अकाल पड़ने वाला है। तभी भद्रबाहु आचार्य कुछ शिष्यों के साथ दक्षिण की तरफ प्रस्थान कर गये और श्रमण धर्म को बचाया। ऐसे आचार्य इस पावन भूमि पर हुए।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने धर्म प्रचार हेतु अनेक शास्त्र लिखे। आचार्य उमास्वामी ने **तत्त्वार्थ सूत्र** की रचना की। श्री पूज्यपाद स्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र की टीका करके **सर्वार्थसिद्धि** नामक ग्रन्थ की रचना की। श्री अंकलंक देव ने **राजवार्तिक** तथा श्री विद्यानन्द स्वामी ने **अष्टसहस्त्री** और इसी **तत्वार्थसूत्र की टीका** पर आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने **गंधहस्तीमहाभाष्य** लिखा। ऐसे आचार्यों के हम बहुत आभारी हैं। जिन्होंने अपना तो कल्याण किया ही, हमारा मार्ग भी प्रशस्त किया। समय-समय पर आचार्य अनेक अतिशय दिखाकर जैनधर्म का प्रचार करते रहे। आचार्यों पर अनेक उपसर्ग आये परन्तु समता भाव से सहन करके धर्म को अथवा अपने पद को गिरने नहीं दिया, गरिमा बनाये रखी। अकम्पनाचार्य आदि 700 मुनियों पर राजा बलि ने हस्तिनापुर में उपसर्ग किया। उपसर्ग को मुनि विष्णुकुमार ने दूर किया। परिणामस्वरूप सभी विरोधियों ने जिन धर्म स्वीकार किया। श्री वादिराज मुनिराज ने कोढ़ दूर करके अतिशय दिखाया। श्री मानतुंग आचार्य ने भक्तामरस्तोत्र की रचना कर जंजीरे व 48 ताले तोड़कर अतिशय दिखाया, जिससे धर्म प्रभावना हुई।

समन्तभद्र स्वामी को भस्मक रोग हो गया था। वे जो खाते वह भस्म हो जाता। सिद्धान्तत: जैन दिगम्बर मुनिराज 8 पहर में एक बार आहार लेते हैं। इस कारण समन्तभद्र स्वामी ने गुरु से समाधि के लिए कहा। गुरु ने जान लिया कि इनके द्वारा धर्म की प्रभावना होगी। इसलिए उन्होंने समाधि के लिए मना कर दिया और कहा कि जाओ येन केन प्रकारेण जैसे बने इस व्याधि का उपचार करो। तब वे वैष्णव साधु के वेश में बनारस पहुँचे। वहाँ शिव मन्दिर में चढ़ावा बहुत चढ़ता था। तब इन्होंने विचार किया, क्षुधा यहाँ शान्त हो सकती है। वहाँ जाकर राजा से कहा कि ये सारा मिष्ठान मैं शिव जी को खिला सकता हूँ। इस तरह अकेले, मन्दिर में चारों तरफ से बन्दकर जिससे किसी को पता ना चले, वे सारा मिष्ठान स्वयं खा गये। इस बात से राजा बहुत प्रभावित हुए, इस तरह समन्तभद्र वहीं रहने लगे। कुछ समय बाद जब असाता वेदनीय कर्म का क्षय हुआ, धीरे-धीरे क्षुधा वेदना शान्त होने लगी, मिष्ठान्न बचने लगा, तब राजा से एक दिन पुजारी कहने लगा कि ये तो देवता के ऊपर पैर रख कर सोता है और मिष्ठान भी बचा पड़ा रहता है। राजा ने इनसे कहा कि तुम शिव जी की अविनय करते हो, इस पिण्डी को नमस्कार करो। तब वे राजा से बोले- यह पिण्डी मेरा नमस्कार नहीं झेल पायेगी। परन्तु जब राजा नहीं माना तब उन्होंने स्वयंभूस्तोत्र की रचना की। इस स्तोत्र के आठवें स्तोत्र की रचना के माध्यम से जो नमस्कार किया वह पिण्डी फट गयी और चन्द्रप्रभ भगवान की प्रतिमा प्रकट हो गयी। इस अतिशय से राजा ने प्रभावित होकर अपने भाई, मंत्री आदि के साथ जैनधर्म स्वीकार किया। समन्तभद्र स्वामी का भस्मक रोग शान्त हो गया। उन्होंने फिर गुरू के पास जाकर पुन: दीक्षा ग्रहण की और अनेक ग्रन्थों की रचना की। आचार्य शान्तिसागर महाराज ने भी अनेक उपसर्ग झेलकर जनता में धर्म की

प्रभावना की। इस प्रकार बन्धुओ, उन आचार्यों की भक्ति करो और उनका आचरण अपने अन्दर उतारने का प्रयास करो और उनकी भक्ति करने से उनके जैसे भले ही न बन पाओं, संतोषी तो बन ही सकते हो। जब आये संतोष धन, सब धन धूरि समान।

आचार्य नेमिसागर जी महाराज घोर तपस्वी, हफ्ते-महिनों निर्जल उपवास करते थे। साधना के प्रताप से उनकी वाणी में इतना सत्य समाहित हो गया था कि उनके मुख से निकला वचन कभी खाली नहीं जाता था। इस कारण जनता को कभी-कभी यह भ्रान्ति हो जाती थी कि कहीं महाराज नाराज होकर श्राप न दे दें। बन्धुओं, जैन साधुओं में करुणा और वात्सल्य इतना होता है कि कभी किसी का बुरा नहीं सोच सकते इसलिए श्राप भी नहीं दे सकते और जो श्राप देते हैं वे सच्चे जैन साधु होते नहीं।

एक बार महाराज बड़ौत नगरी में चातुर्मास कर रहे थे और वर्षा न होने के कारण जनता परेशान थी कि कहीं भयंकर सूखा न पड़ जाये और वर्षा के लक्षण भी दिखाई नहीं दे रहे थे। तभी सभी एकत्रित होकर आचार्य श्री के पास पहुँचे, सबकी आँखों में आँसू थे, आचार्य श्री से निवेदन किया, अपनी पीड़ा बताई तब आचार्य श्री के अन्दर इतनी करुणा उत्पन्न हुई कि दो मिनट तक मौन रहने के बाद सबको आशीर्वाद देते हुए बोले आप लोग अतिशीघ्र अपने-अपने घर पहुँच जाओं। सभी लोग समझ नहीं पाये और मायूस हो वापस लौट गये। सभी घर तक पहुँच नहीं पाये थे कि मूसलाधार वर्षा होने लगी। सारे नगर में खुशी की लहर दौड़ गयी। चारों और जय-जयकार होने लगी।

एक बार चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज जंगल में बने मन्दिर में आत्मध्यान कर रहे थे। सांयकाल आचार्य श्री को ध्यान में बैठे देखकर वहाँ के पुजारी ने उजाले के लिए एक दीपक जलाकर रख दिया और मन्दिर के किवाड़ बन्द कर अपने घर चला गया। इधर थोड़ा सा घी जमीन पर गिर गया था, जिसमें चींटियाँ आ गयीं और आचार्य श्री के बदन पर भी चढ़ गई। आचार्य श्री ध्यान में लीन थे उन्हें कुछ भी नहीं मालूम था। उपसर्ग हो रहा है और वे अपने ध्यान में लीन हैं। वे चींटियाँ आचार्य श्री के गुप्तांगों में चिपट कर काटने लगीं, रक्त बहने लगा। तब पुजारी को स्वप्न आया कि महाराज पर घोर उपसर्ग आया है और तुम जाकर उसे दूर करो परन्तु पुजारी जंगल के भय के कारण नहीं आया और रातभर उपसर्ग होता रहा। दिन निकलते ही सब लोग पहुँचे और उपसर्ग दूर किया। ऐसे होते हैं आचार्य परमेष्ठी, जो आत्मा के अन्वेषण में इतने लीन होते हैं कि उन्हें कितना ही उपसर्ग होता रहे कुछ भी पता नहीं चलता।

अब किसी ने प्रश्न किया कि चतुर्विध संघ किसे कहते हैं ? उसका उत्तर है कि मुनि, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविका को चतुर्विध संघ कहते हैं। इनके दर्शन से हमें क्या लाभ मिलता है? इनके दर्शन से हमें पापों का क्षय एवं पुण्य का बंध होता है। इनकी श्रद्धा, भक्ति, अर्चना से हमें क्या मिलता है ? इनकी श्रद्धा भक्ति, अर्चना से हमारी आत्मा पवित्र होती है। हम भी इनके समान बनने का साहस करते है। हमारे अन्दर भी

इनके गुणों की प्राप्ति होती है एवं गुरूओं की भक्ति, मुक्ति का कारण है और इनके उपदेश से हमें क्या लाभ है? इनके उपदेश से हमें हित की प्राप्ति, अहित का परिहार, अज्ञान का नाश एवं ज्ञान का प्रकाश होता है। भावना निर्मल बनती है। हम अपने कर्त्तव्य को पहचानते हैं। कहा भी है- "न धर्मो धार्मिकै बिना" अर्थात् धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं चल सकता, इसी प्रकार गुरुओं के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। यदि इस पर भी कोई कहे कि इस पंचम काल में सभी मुनि द्रव्यलिंगी है ? तो यह बात तो केवलज्ञानी के गम्य है। जो आजकल के दिगम्बर ऋषियों को द्रव्यलिंगी कहते है। वे जीव व्यर्थ में गुरुओं की आलोचना करके संसार में भ्रमण करते हैं। फिर भी कोई कहे कि- आजकल के मुनियों को बहुत विकल्प है, ये साधु नहीं है? इस पर आचार्य कहते हैं । श्रावक को आज्ञा प्रधानी बनना होगा, परीक्षा प्रधानी नहीं, तभी उनका उद्धार होगा। हर मानव को अपने अन्दर के दोषों को देखना चाहिए, पर के दोषों को नहीं। अब कोई अज्ञानी जीव कह रहा है-चतुर्विध संघ न हो तो, हमारा काम नहीं चल सकता? इस पर आचार्य कहते हैं- कि काम तो चल सकता है पर गुरुओं के बिना ज्ञान नहीं, ज्ञान बिना भेद विज्ञान नहीं भेद, विज्ञान बिना मुक्ति नहीं, चतुर्विध संघ का लोप होगा, उसी दिन धर्म का लोप हो जायेगा। गुरु भक्ति बिना दान, तप, व्रत, संयम, पूजा आदि सभी व्यर्थ हैं ऐसा कुंदकुंद आचार्य ने रयणसार में बताया है। हाँ इतनी बात अवश्य है कि चतुर्विध संघ को भी आगम के अनुकूल विषय कषाय, आरंभ, परिग्रह से रहित होकर ज्ञान, ध्यान और तप में सदैव लीन रहना चाहिए। यदि अपने मूल गुणों में कोई अतिचार लगे तो प्रतिक्रमण के द्वारा दोषों को दूर करना चाहिए अथवा अपने से बड़े गुरुओं से प्रायश्चित लेकर आत्मा को शुद्ध करना चाहिए। गुरुओं के चरणों में रहकर उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। यदि कोई कहे कि चतुर्विध संघ हमारे लिए पूज्य क्यों है? क्योंकि रत्नत्रय से भूषित है, चारित्र का पालन कर रहे हैं, जिनके माध्यम से हमें भी चारित्र पालने का साहस मिलता है। चारित्र बिना मुक्ति नहीं इसलिए चतुर्विध संघ हमारे लिए पूज्य है। इनकी भक्ति करने से परंपरा से मुक्ति मिलती है। इसी पर एक कथा है-

पौड्रवर्द्धन देश में कोटपुर नगर था। उस नगर में सोमशर्मा नाम का एक विद्वान ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री सोमश्री थी। उसने एक ऐसे अनुपम 'होनहार' बालक को जन्मा, जिसका नाम भद्रबाहु रखा। एक समय गोवर्धन आचार्य श्रुत केवली गिरनार क्षेत्र की यात्रा करके अपने संघ सहित लौट रहे थे। मार्ग में कोटपुर नगर पड़ा। इस नगर के बाहर भद्रबाहु अन्य लड़कों के साथ खेल रहा था। किसी लड़के ने 4 गोली, किसी ने 5 गोली चढ़ाई पर भद्रबाहु ने कुशलता से एकदम गोली के ऊपर 15 गोलियां चढ़ा दी। यह देखकर सभी लड़कों को तथा आचार्यश्री एवं संघ के मुनियों को बड़ा आश्चर्य हुआ इसकी तीक्ष्ण बुद्धि एवं चतुराई देखकर।

आचार्य 8 अंग निमित्तों के ज्ञाता थे। भद्रबाहु की बुद्धि को देखकर आचार्यश्री को पूर्ण निश्चय हो गया कि भगवान महावीर ने जो बताया है सो वह अंतिम श्रुतकेवली यह बालक ही होगा।

ऐसा निर्णय करके आचार्यश्री ने भद्रबाहु के घर जाकर माता-पिता की स्वीकृति लेकर भद्रबाहु को पढ़ाने हेतु अपने संघ में रख लिया। क्योंकि कहा भी है-

बालक पर कर यदि सहज, मात-पिता संस्कार,
वे बालक अकलंक बन, करें आत्म उद्धार।

गुरू की विनय आज्ञा पालन आदि गुणों से भद्रबाहु थोड़े ही समय में सिद्धांत, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, छन्द आदि सब विषय तथा 11 अंग 14 पूर्व, समस्त अनुयोग पढ़कर धारण कर लिये अर्थात् बहुत शीघ्र समय में पढ़कर विद्वान बन गये। क्योंकि विद्या बहुत पुण्य से आती है। कहा भी है-

जिसके जैसे गुरु रहें, वैसे शिष्य कहाय।
यदि गुरु अज्ञानी रहें, शिष्य न ज्ञान लहाय।।

पुन: कुछ दिन घर में रहकर बाद में इन्हीं गुरु से निर्गंथ दीक्षा ले ली। कुछ दिन बाद गुरू ने अपना आचार्य पद भद्रबाहु को देकर, इनकी आज्ञा में मुनिसंघ को करके, आप समाधि मरण कर लिया। इधर संघ सहित आचार्य भद्रबाहु विहार करके उज्जैन नगर पहुँचे। वहाँ के राजा चन्द्रगुप्त थे जिन्होने 16 स्वप्न देखें । अशुभ सूचक फल को जानकर गुरू भद्रबाहु से दीक्षा ले ली। इस तरह गुरु संघ मान प्रतिष्ठा से दूर रहकर आत्मसाधना में लीन थे। क्योंकि यह नीति है। सच्चे गुरू ये ही है जो ख्याति से दूर हैं।

लाभ प्रतिष्ठा कारणें जो गुरु संघ बनाय।
वे निंदा के पात्र हैं कभी न अन्त लहाय।।

एक दिन आचार्य भद्रबाहु स्वामी गोचरी हेतु नगर में गये। जिनदास सेठ ने उनका आह्वान किया। भद्रबाहु को घर में आते देखकर, "एक छोटे से बालक ने जो पालने में झूल रहा था, कहा- 'जाओ, जाओ गुरू ने पूछा-कितने समय के लिये, उसने कहा-12 वर्ष के लिये। यह सुनकर गुरु बिना आहार किये वन में चले गये। वहाँ पर आचार्य भद्रबाहु ने पहुँचकर सभी को बुलाकर कहा कि इस मालव देश में 12 वर्ष तक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने वाला है जिसमें लोगों को एक कण भी मिलना दुर्लभ हो जायेगा एवं मुनिसंघ की रक्षा होना बहुत कठिन है, आप सभी को दक्षिण देश में विहार करना योग्य है। आचार्य भद्रबाहु विशेष रूप से निमित्त ज्ञानी थे।

सभी मुनि संघ ने गुरू आज्ञा को स्वीकार किया। इधर आचार्य भद्रबाहु संघ सहित श्रवण बेलगोला में विहार करके पहुँचे। वहाँ पर उन्होने अपनी आयु स्वल्प जानकर संघ के योग्य शिष्य विसाख मुनि को आचार्य पद पर स्थित कर साथ में सभी मुनि संघ को चोलपांडय देश में जाने की आज्ञा देकर आप चन्द्रगुप्त ऋषि (प्रभाचन्द्र मुनि) को पास में रखकर, उसी चन्द्रगिरि पर्वत पर समाधि ग्रहण कर ली। उधर जो मुनि रुके रहे उन्होंने गुरु की आज्ञा नहीं पालन की। वे ऐसे दुर्भिक्ष में मुनिपद से च्युत हुए। उन्होने पुन: दिगम्बर दीक्षा लेकर अपने को शुद्ध किया और अनेकों मुनि स्वच्छंद प्रवृत्ति करते हुए दण्ड पात्र, श्वेत वस्त्र को धारण करके तभी

श्वेतांबर मत की स्थापना कर ली। तभी दिगम्बर, श्वेतांबर ये दो मत हो गये। इस प्रकार श्वेतांबर मत की उत्पत्ति करीब 2 हजार वर्ष से हुई। पर दिगम्बर संप्रदाय प्राचीन समय से ही चला आ रहा है और पंचम काल के अन्त तक चलेगा। ऐसा आगम का वचन है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त ऋषि गुरू के चरणों की भक्ति में 12 वर्ष तक लीन रहे क्योंकि गुरू की महिमा अपरंपार है।

गुरू भक्ति का फल– इसी प्रकार एक कथा है कि मौर्य सम्राट 'चन्द्रगुप्त मुनिराज' श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु की समाधि के पश्चात स्थापित गुरुचरण की भक्ति करते हुए बारह वर्ष तक वन में रहें। जिसके प्रभाव से देवों ने वन में ही नगर बसाकर उनको आहारदान दिया। जब संघ वापस आया तब उसमें से एक मुनि आहार के बाद कमंडलु भूल आये, सो मध्यान्ह में लेने गये तब वहाँ वन में कमंडलु पेड पर लटकता हुआ देखा। इस घटना से यह मालूम पड़ा कि चन्द्रगुप्त मुनिराज की गुरु भक्ति से प्रसन्न होकर देवों ने आहार कराया था। उस समय चन्द्रगुप्त ने गुरु से प्रायश्चित लिया, क्योंकि जैन मुनि देवों के हाथ से आहार नहीं लेते है। इसलिए यही कहना पड़ेगा कि जब गुरु की भक्ति से मुक्ति तक मिल सकती है तब देवता भक्ति करने लगे तो कौन से आश्चर्य की बात है? आप सभी को मालूम होगा कि इन्हीं चन्द्रगुप्त राजा ने सोलह स्वप्न देखे थे। अपने गुरु से उसका फल जानकर उनको वैराग्य हो गया। जैनेश्वरी दीक्षा लेकर घोराघोर तप करते हुए अपूर्व गुरु भक्ति को प्रगट करके चमत्कार दिखला दिया अर्थात् जंगल में मंगल कर दिया। ऐसे चन्द्रगुप्त ऋषि को बारम्बार मन, वचन, काय से नमस्कार हो ।

गुरू भक्ति सती मुक्त्यै, छुद्रं किं वा न तारयेत्।
त्रिलोकी मूल रत्नेन, किं न प्राप्तं तुषोत्करं:॥

जिस गुरू की भक्ति से मुक्ति अर्थात् तीन लोक की संपति मिल सकती है तो स्वर्गादिक की विभूति का तो कहना ही क्या? अब विचार करके देखा जाए तो जो गुरू निंदा करते हैं उनको क्या फल मिलेगा? हां इतना जरूर है पहले जमाने में तो अजैन लोग ही गुरू की निंदा करते थे, अब तो इस जमाने में जैन लोग गुरू की निंदा करने लगे हैं। क्योंकि उनको पापों से भय नहीं है। इसलिये मनमानी कर रहे हैं।

गुरू निन्दा का फल– इसी पर एक कथा है कि एक बार चतुर्विध संघ (मुनि, आर्यिका , श्रावक-श्राविका) सम्मेदशिखर जाते हुए 'अतिक' नामक ग्राम से निकला। उस समय नग्न मुनियों को देखकर सब लोग हँसने लगे और निंदा करने लगे। एक कुम्भकार ने सबको हँसी करने से मना कर दिया और संघ की स्तुति की। कदाचित् गाँव में आग लगकर, साठ हजार लोग एक साथ मरकर, मुनियों की हँसी करने के फलस्वरूप कौड़ी पर्याय (दो इंद्रिय) में उत्पन्न हो गये। उस दिन कुम्भकार बाहर गया था इसलिए बच गया। पुन: सब कौड़ी मरकर गिंजाई हो गये। कुम्भकार का जीव राजा हो गया। बहुत भवों तक एक साथ दु:ख भोगते-भोगते कदाचित् राजा के हाथी के पैर के नीचे दबकर सभी गिंजाई मरकर सगर चक्रवर्ती के साठ हजार

पुत्र हो गये और कुम्भकार, चक्रवर्ती का पोता भगीरथ हो गया। इसीलिए किसी की भी हँसी, निंदा करना महापाप है, फिर मुनियों की निंदा करना तो घोर-घोर पाप है। देखो कुम्हार ने गुरू की स्तुति की थी इसलिए वह उस दिन बच गया था और बाकी सब जल गये। इसलिए हमें सच्चा श्रावक, गुरु भक्त बनना चाहिये। तभी हम संसार से पार हो सकते हैं।

"सद्वृत्तानां गुणगण कथा, दोष वादे च मौनम्"

अर्थात् गुरु सन्तों के गुणों की कथा हमें करनी चाहिये । यदि कोई बुराई कर रहा है तो हमें मौन लेना चाहिए। अन्त में इस सूत्र को अपनाने से ही हमें जीवन में शांति मिलेगी। अन्यथा हमारा जीवन पशु तुल्य है। कहा भी है- जो गुरू भक्ति नहीं करते वे पशु तुल्य होते हैं।

पूजन जाप कियो नहीं, कियो न कर से दान।
गुरू भक्ति भी नहिं कियो, वे नर पशू समान।।

जिस प्रकार किसान बीज बोता है तो उसे फल में धान्य के साथ साथ घास आदि स्वयं प्राप्त होती है । उसी प्रकार जो भव्य जीव गुरु भक्ति करता है उसे परंपरा से मुक्ति प्राप्त होती है और स्वर्ग आदि की प्राप्ति तो स्वयं हो जाती है। उसे याचना करने की जरूरत नहीं है। अतः सभी को आचार्य भक्ति में तत्पर होकर गुरु भक्ति निरंतर करनी चाहिए।

पञ्च आहार जो पाले, सभी को यह सिखाते हैं।
मोक्ष के मार्ग पर चलकर, स्वयं भी जो दिखाते हैं॥
करें आचार्य भक्ती, भाव से जो विशद प्राणी।
मार्ग पर जो चले गुरु के, मोक्ष मंजिल को पाते हैं॥

****

12

बहुश्रुतभक्ति भावना

भव-स्मृतिरनेकान्त-लोकालोक-प्रकाशिका।
प्रोक्ता यत्रार्हता वाणी वर्ण्यते सा बहुश्रुतिः॥१२॥

जिसमें जीवों की जन्म-जन्मान्तर की कथाओं का वर्णन है जो अनेकान्त तत्व और लोकालोक को बतलाने वाली है ऐसी जिन वाणी का जहाँ व्याख्यान किया जाता है उसे बहुश्रुत भक्ति कहते हैं।

ग्यारह अंग पूर्व चौदह के, होते जो ज्ञाता।
सम्यक् दर्शन ज्ञान के गुरुवर, होते हैं दाता॥
संतों में जो श्रेष्ठ कहे हैं, समता के धारी।
ज्ञान ध्यान तप में रत रहते, ऋषिवर अनगारी॥
करते हैं उपदेश धर्म का, जो मंगलकारी।
संत दिगम्बर और निरम्बर, नीरस आहारी॥
उपाध्याय को जग भोगों से, पूर्ण विरक्ती है।
भाव सहित गुण गाना उनके, बहुश्रुत भक्ती है॥

बहुश्रुतभक्ति उपाध्याय परमेष्ठी की होती है। कहा गया है-

आगम छन्द पुराण पढ़ावत, सहित तर्क वितर्क बखाने।
काव्य कथा सब नाटक पूजन, ज्योतिष वैद्यक शास्त्र प्रमाने।।
ऐसे बहुश्रुत साधु मुनीश्वर, जो मन में दोउ भाव न आने।
बोलत ज्ञान धरी मन सान जु, भाग्य विशेष ते जानहिं जाने।।

उपाध्याय, आप्त द्वारा कहे सिद्धान्त, कवितायें, महापुरूष आदि की कथायें पढ़ाते हैं तथा तर्क-वितर्क सहित व्याख्यान करते हैं। काव्य, कथा, सभी प्रकार के साहित्य, पूजन तथा ज्योतिष आदि को बताते हैं। ऐसे अनेक शस्त्रों के ज्ञाता, साधु मुनीश्वर मन में राग-द्वेष नहीं आने देते अर्थात् उनसे दूर रहते हैं।

बहुश्रुतवंत भक्ति जो करई, सो नर सम्पूर्ण श्रुत धरई।

जो प्राणी अनेक शास्त्रों के ज्ञाता की भक्ति करता है वह प्राणी सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

बहुश्रुत का तात्पर्य उपाध्याय परमेष्ठी है। उपाध्याय तीन शब्दों से मिल कर बना है- उप+अधि+आय, उप अर्थात् पास, अधि अर्थात् बहुत सन्निकट और आय का तात्पर्य आना अर्थात् जिन के जीवन का संबंध अपने शुद्ध गुण पर्याय के साथ है और अपना जीवन चला रहे हैं। वे उपाध्याय परमेष्ठी हैं। उनकी पूजा या उपासना करना बहुश्रुतभक्ति कहलाती है। दूसरे शब्दों मे बहुश्रुत का अर्थ है बहुत ज्ञानवान यानी उपाध्याय महाराज या श्रुत केवली महाराज। **उपेत्य अधीयते यस्तात् सः उपाध्यायः।** जिसके समीप बैठकर पढ़ा , जाए। ज्ञान प्राप्त किया जाए वह उपाध्याय कहलाते हैं इन्हें विद्यागुरु या शिक्षा गुरु भी कहा जाता है। उपाध्याय महाराज बहुत ज्ञानवान होते हैं। उनका ज्ञान संसार से पार लगाने वाला है, वे द्वादशांग के ज्ञाता होते हैं। आचार्य भगवन् कहते है कि जैसे मां प्रेम से अपने बच्चे को दूध पिलाती है, ऐसी ही मनोदशा होती है बहुश्रुतवान उपाध्याय महाराज की। उनके द्वारा कही गई बात का प्रभाव भी पड़ता है क्योंकि उनकी कथनी और करनी एक समान रहती है, वे जो उपदेश देते हैं पहले अपने आचरण में उसे उतार लेते हैं।

आपने बच्चों की एक घटना सुनी होगी। एक बच्चा बहुत गुड़ खाने का शौकीन था। उसकी माँ उसे बहुत समझाती थी कि ज्यादा गुड़ मत खाया कर। घर में माँ उसे ज्यादा गुड़ नहीं देती थी तो वह स्कूल में पैसे से खरीदकर गुड़ खा लेता था। सारा घर-भर उसकी इस आदत से परेशान था। अचानक सुना कि गाँव में एक साधु बाबाजी आए हैं। बहुत अच्छा उपदेश देते हैं। उनका उपदेश सुनकर बहुत लोगों का जीवन सुधर गया है। माँ ने सोचा कि इस बच्चे को साधुजी के पास ले जाना चाहिए। स्कूल की छुट्टी के दिन माँ अपने बच्चे को लेकर साधुजी के पास पहुँची और साधुजी से कहा कि आप इस बच्चे को समझाएँ, इसे ऐसा उपदेश दें कि जिससे इसकी गुड़ खाने की आदत छूट जाए। साधुजी ने बच्चे से कहा कि बेटे, गुड़ नहीं खाना। साधु जी ने माँ से बच्चे को एक सप्ताह बाद लेकर आने को कहा। माँ, बच्चे को एक सप्ताह बाद साधुजी के पास लेकर गई।

साधुजी की बात का उस बच्चे पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसने साधुजी के समीप प्रतिज्ञा ले ली कि आज से वह गुड़ का त्याग करता है। माँ को बड़ी खुशी हुई । माँ ने कहा- साधु बाबाजी यह बात आप हफ्ते-भर पहले भी कह सकते थे। आपने क्यों नहीं कही ? साधु बाबाजी ने बड़े सहज-सरल भाव से कहा कि माँ! हफ्ते भर पहले तो मैं भी गुड़ खाता था। मैंने हफ्ते भर में पहले स्वयं गुड़ नहीं खाने का अभ्यास किया, तभी इस बच्चे से कहने का साहस कर पाया। बच्चा इसी बात से प्रभावित हुआ कि साधुजी ने स्वयं गुड़ का त्याग कर दिया है। मुझे भी कर देना चाहिए।

भैया! आचरण के द्वारा दी गई शिक्षा प्रभावशाली होती है। बहुश्रुतवान उपाध्याय महाराज अपने व्रतों का निर्दोष पालन करते हैं, रत्नत्रय की आराधना करते हैं इसलिए उनके निर्मल आचरण से सभी को सहज रूप से ज्ञान मिलता रहता है। अपने जीवन की एक घटना याद आ गयी। उन दिनों हम पाठशाला में बच्चों को धर्म पढ़ा देते थे। हम लोगों ने एक साथ कई मन्दिरों में अलग-अलग पाठशालाएँ प्रारम्भ की थीं, जिसमें सभी लोग स्वेच्छा से अपना समय देते थे। पढ़ाने का काम अवैतनिक था। अब तो समय बदल गया। वेतन देकर धर्म की शिक्षा मिलने लगी। तो हमारे ही साथ एक व्यक्ति और भी थे जो बच्चों को धर्म पढ़ाते थे। मैं देखता था उन्हें बहुत मेहनत करनी पड़ती थी। बच्चे उनकी बात सुनते ही नहीं थे। मानते भी नहीं थे। पूरे समय आपस में बातचीत करते रहते थे। बड़ा शोरगुल होता था उनकी कक्षा में।

एक दिन वे व्यक्ति नहीं आए पढ़ाने। मैंने बच्चों को अपनी कक्षा में बुला लिया। सबने शान्त-भाव से धर्म पढ़ा। मैंने कहा-बच्चों! तुम्हें अपने शिक्षक की बात माननी चाहिए। उनका सम्मान करना चाहिए। उनमें से एक बच्चा बोला- हम नहीं मानते उनकी बात, वे रात में पाठशाला आने से पहले, होटल में नमकीन व मीठा खाते हैं। मैं उन बच्चों की बात सुनकर दंग रह गया। हमारे आचरण का असर पड़ता है बच्चों पर। लिखा है नीति में कि 'पर उपदेश देने वाले बहुत हैं, पर उनका असर नहीं पड़ता। बहुश्रुतवान उपाध्याय महाराज जो भी कहते हैं वह उनके आचरण से झलकता है।

उपाध्याय महाराज का ज्ञान, श्रद्धा व चारित्र से समन्वित होता है। चारित्रवान का ज्ञान ही श्रेष्ठ माना गया है। ज्ञान के बिना व्यक्ति अंधे के समान है और चारित्र के बिना व्यक्ति लँगड़े के समान है। दोनों अलग-अलग रहें तो संसार के जंगल में भटकते ही रहते हैं। आपने सुना होगा कि एक जंगल में एक अंधा आदमी और एक लँगड़ा आदमी भटक गये। जंगल में आग लग गई। अंधा आदमी भागना चाहता है, आग से बचना चाहता है पर उसे सही मार्ग नहीं मिलता क्योंकि उसे कुछ दिखता ही नहीं है। लँगड़ा व्यक्ति भी बेचारा परेशान है क्या करे? आग तो सामने दिख रही है पर पैर काम ही नहीं देते, भागे तो कैसे भागे? दोनों का आपस में मिलना हो गया। अंधे व्यक्ति ने लँगड़े व्यक्ति को अपने कंधे पर बिठा लिया। अंधे व्यक्ति के पैर तो सही थे पर दिखता नहीं था सो कंधे पर बैठा व्यक्ति जिसके पैर नहीं थे, पर आँखो में रोशनी थी, वह उस अंधे व्यक्ति को रास्ता दिखाता जाता था। इस तरह दोनों परस्पर मिलकर जंगल से बाहर निकल गए।

आप समझ गए। मजेदार बात है यह। बच्चों के स्कूल में पढ़ाई जाती है। चित्र भी बना रहता है कक्षा में। छोटे-छोटे बच्चे कहानी सुनकर खुश होते हैं। अपने को इस कहानी से शिक्षा लेनी चाहिए कि ज्ञान और चारित्र का एक-साथ होना अपने संसार से पार होने के लिए बहुत जरूरी है। उपाध्याय महाराज का ज्ञान, चारित्र से युक्त होने के कारण सभी को संसार से पार लगाने में सहायक है। उपाध्याय महाराज का यह उपकार महान है। इसलिए उनके इस गुण का स्मरण, चिन्तन और इस गुण को स्वयं प्राप्त करने का पुरुषार्थ ही उनके प्रति सच्ची भक्ति है।

उपाध्याय महाराज सदा परोपकार करने में तत्पर रहते हैं। आचार्य और उपाध्याय में इतना ही अंतर है कि आचार्य महाराज अपने शिष्यों को मोक्षमार्ग में दीक्षित कर सकते है, प्रायश्चित्त आदि के द्वारा दोषों से मुक्त करा सकते हैं और आदेश भी दे सकते हैं लेकिन उपाध्याय महाराज का काम मात्र उपदेश देने का है। योग्य-पात्र को देखकर वे उसे पढ़ाते है, आत्मज्ञान की शिक्षा देते हैं और ज्ञान प्राप्त करने वाला भी उनके प्रति श्रद्धा, विनय और अनुराग रखते हुए ज्ञान हासिल करता है। बड़ा अनोखा ढंग होता है, उपाध्याय महाराज का अपने शिष्यों को सिखाने का। वे हर बात को इतने प्रेम से उदाहरण देकर समझाते हैं जिसमें शिष्य कठिन से कठिन बात को भी समझकर आत्मसात कर लेता है। वे शिष्यों को श्रेष्ठ ज्ञान के साथ-साथ श्रेष्ठ संस्कारों की शिक्षा भी देते हैं।

वे अपने शिष्यों को ऐसा ज्ञान देते हैं जिससे उनका अज्ञान का अँधेरा हटे और ज्ञान की ज्योति जले। राग-द्वेष घटे और वीतराग-भाव आवे तथा प्राणीमात्र के प्रति प्रेम- भाव उत्पन्न हो। एक बार की बात है। गुरुजी ने अपने शिष्य को एक मंत्र दिया और कहा कि यह मंत्र अलौकिक है, इससे जीवों का कल्याण होता है लेकिन इसे गोपनीय रखना। सबको मत बताना। दूसरे दिन गुरुजी ने देखा कि वह शिष्य रास्ते के किनारे बैठकर मंत्र को जोर-जोर से पढ़ रहा है। आने-जाने वाले सभी लोगों को वह मंत्र सुनने में आ रहा है। गुरुजी ने शिष्य को बुलाकर समझाया कि देखो। ऐसा करना ठीक नहीं है। मंत्र को एकान्त में जपना चाहिए। शिष्य बोला कि आपने कहा था कि मंत्र अलौकिक है इससे जीवों का कल्याण होता है तो मैंने सोचा कि सभी सुनेंगे, सो सभी का कल्याण हो जाएगा। शिष्य की भावना देखकर गुरु प्रसन्न हो गए। उन्होंने शिष्य की निःस्वार्थ -प्रेम की भावना और सर्वकल्याण के विचार की प्रशंसा की और समझाया कि ऐसे किसी के भी द्वारा मंत्र सुनने मात्र से कल्याण नहीं होता। विधिवत् श्रद्धा और विनयपूर्वक गुरु से मंत्र सीखकर उसकी साधना करने से अपना और सभी जीवों का कल्याण होता है। उपाध्याय महाराज में जो शिष्य, श्रद्धा और विनय से ज्ञान की आराधना और साधना करते हैं उनके द्वारा ही स्व-पर कल्याण होता है। उपाध्याय महाराज के द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान, स्व-पर कल्याणकारी होता है।

उपाध्याय महाराज की ऐसी महिमा होती है कि उनकी अनुपस्थिति में भी कोई शिष्य उनका स्मरण करके श्रद्धा और विनय भाव से सम्यग्ज्ञान की साधना कर लेता है। असल में, उपाध्याय-महाराज का स्मरण भी हमारे भीतर ज्ञान को बढ़ाने में कारण बन जाता है।भगवान महावीर स्वामी की स्तुति में आता है कि-

यदीया वाग्गंगा विविधनयकल्लोल- विमला,
वृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति।
इदीना-मप्येषा बुधजन मरालैः परिचिता,
महावीर स्वामी नयनपथ- गामी भवतु मे।।

।। महावीराष्ट 6।।

भगवान की वचनामृत रूपी गंगा में जो भी स्नान करता है वह निर्मल हो जाता है। यह तो उस समय की बात है जब भगवान साक्षात् समवशरण में विराजते थे और उनकी वाणी सुनने का सौभाग्य लोगों को प्राप्त होता था। पर आज उनकी अनुपस्थिति में भी जो भव्य जीव हंस के समान विवेकवान होकर उनकी वाणी का अभ्यास करते हैं वह वाणी उन जीवों के कल्याण में निमित्त बनती है।

आचार्य और उपाध्याय में मौलिक अन्तर केवल इतना है कि आचार्य उपाध्याय को अनुशासित करते हैं परहित का लक्ष्य करके। आचार्य का कार्य है आदेश देना। अत: आचार्य, परमेष्ठी प्रिय, कटु और मिश्रित तीनों प्रकार के वचनों का प्रयोग करते हैं किन्तु उपाध्याय परमेष्ठी इनसे बिल्कुल भिन्न होते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी बहुत वात्सल्य भाव से वचनामृत का पान कराते हैं। जैसे माँ अपने बच्चों को बड़े प्रेम से दूध पिलाती है। सभी को संसार की प्रक्रिया से दूर रहने का ढंग बताते हैं। आत्मा की बात करते हैं। उनके पास न पंचेन्द्रिय विषयों की चर्चा होती है और न कषायों की, न आरम्भ और परिग्रह की। विषयों और कषायों में अनुराग, आरम्भ और परिग्रह में आसक्ति ही संसार है और इनसे विमुख होना मोक्ष का कारण है। इसी कारण शिष्यों पर प्रभाव केवल आचरण का ही पड़ता है अथवा पड़ सकता है, वचनों का नहीं। वचनों में भी अद्भुत शक्ति है। किन्तु उन वचनों के अनुरूप कार्य करना चाहिए, वह ही उपदेश तथा आचरण दूसरों को आचरण करवा सकता है।

एक डाक्टर के पास एक रोगी पहुँचा उसे एक के दो दिखाई देते थे। अब आप ही बताओ कि वह डाक्टर क्या इलाज करेगा? ऐसे में निराशा ही हाथ लगेगी। संसार मार्ग का समर्थक कभी मुक्ति मार्ग का उपदेश दे नहीं सकता। उपाध्याय परमेष्ठि मुक्ति मार्ग का उपदेश दे सकते हैं। क्योंकि वे स्वयं उस मार्ग के अडिग, अथक पथिक हैं। उपाध्याय परमेष्ठी एक अनूठे साधक हैं। जो जन्म-जरा-मृत्यु से पीड़ित है इनका उपदेश सुनकर वह दौड़ा चला जाता है और उसे उपाध्याय परमेष्ठी से रोग की औषधि मिल जाती है। रोगी का रोग तो वही ठीक कर सकता है, जो स्वयं पीड़ित न हो।

अगर उपाध्याय परमेष्ठी परोक्ष भी हैं और मन में उनकी भक्ति है तो भी फल मिल जाता है। एक सामान्य प्राणी भी उपाध्याय की भक्ति करने से उपाध्याय बन सकता है, ऐसा नियम है।

एक समय की बात है कि धनुर्विद्या के ज्ञाता आचार्य द्रोणाचार्य के पास एक भील आकर धनुर्विद्या सीखने का आग्रह करता है। परन्तु उसकी हिंसक प्रकृति होने के कारण द्रोणाचार्य उसे सिखाने से मना कर देते हैं। वे जानते थे कि यह धनुर्विद्या का दुरूपयोग करेगा। परन्तु उसकी दृष्टि में तो द्रोणाचार्य गुरु बन चुके थे, भले ही उन्होंने उसे अपना शिष्य स्वीकार न किया हो। वह दृढ़ संकल्प कर द्रोणाचार्य की मिट्टी की प्रतिमा स्थापित करके धनुर्विद्या का अभ्यास करने लगा और वह धनुर्विद्या सीख गया। अगर वह अभिमान से यह सोचता कि आचार्य द्रोण क्या कर लेंगे मैं स्वयं सीख लूँगा तो वह धनुर्विद्या कभी न सीख पाता। एक दिन गुरु

द्रोणाचार्य अपने शिष्यों के साथ घूमने जाते हैं कि रास्ते में एक जगह एकलव्य को विद्या अध्ययन करते देख कुत्ता भौंकने लगा। एकलव्य ने शब्दभेदी बाण से उसके मुख में बाण भर दिये। जब वह कुत्ता गुरुजी के पास पहुँचा तो आश्चर्य चकित हो गये। ऐसा कौन है? जिसने कुत्ते के मुख में बाण भर दिये। जब उसके निकट पहुँचे तो देखा कि एक मिट्टी की मूर्ति के पास एकलव्य बाण चला रहा है। गुरु ने एकलव्य से पूछा, तुम कौन हो? ये विद्या किससे सीखी? उसने कहा मैं भील जाति में जन्मा एकलव्य हूँ, यह विद्या गुरु द्रोणाचार्य से सीखी। उन्होंने कहा, नहीं हमने ये विद्या नहीं सिखाई है। तब गुरु ने कहा- अच्छा तुमने हमें गुरु माना है तो गुरु दक्षिणा भी देनी होगी। एकलव्य से माँगा तो क्या माँगा, उससे भौतिक वस्तुएँ नहीं बल्कि उसके दाहिने हाथ का अंगूठा मांगा और उसने सहर्ष अंगूठे को काटकर दे दिया। अगर आज के शिष्य होते तो हजार बातें सुनाकर गुरु का ही अंगूठा ले लेते। उसके हृदय में विकल्प नहीं था, उसकी दृष्टि में गुरु की भक्ति थी और सच्ची गुरु भक्ति के बल पर उसने विद्या सीख ली।

मुनिसंघ में आचार्य के बाद उपाध्याय का पद होता है। जो अंग-पूर्व आदि के ज्ञाता होने के साथ, चारों अनुयोगों के पारगामी होकर निरन्तर स्वयं परमागम को पढ़ते हैं एवं अन्य शिष्यों को पढ़ाते हैं। वे बहुश्रुती हैं। श्रुतज्ञान ही उनके दिव्य नेत्र हैं। अपना तथा पर का हित करने में ही वे प्रवर्तते हैं। अपने जिन-सिद्धांतों तथा अन्य एकान्तियों के सिद्धान्तों को विस्तार से जानने वाले स्याद्वादरूप, परम विद्या के धारक हैं। उनकी भक्ति करना बहुश्रुत भक्ति है। बहुश्रुतवंत की महिमा कहने को कौन समर्थ है? जो निरन्तर श्रुतज्ञान का दान करते हों, ऐसे उपाध्यायों की जो विनय सहित भक्ति करते हैं वे शास्त्र रूपी समुद्र के पारगामी हो जाते हैं। जितने भी अंग, पूर्व, प्रकीर्णक, जिनेन्द्र देव ने कहे हैं, उन समस्त जिनागमों को जो निरन्तर स्वयं पढ़ते हैं तथा अन्य को पढ़ाते हैं वे बहुश्रुतवंत हैं। वह द्वादशांग के ज्ञाता होते हैं। द्वादश अंग और (12 पूर्व) दृष्टिवाद अंग ये द्वादशांग कहलाता है।

द्वादशांग प्रथम **आचारांग** के अठारह हजार पदों में मुनिधर्म का वर्णन है।

सूत्रकृतांग के छत्तीस हजार पदों में जिनेन्द्र के श्रुत के आराधन करने की विनय क्रिया का वर्णन है।

स्थानांग के बियालीस हजार पदों में छह द्रव्यों के एक, अनेक स्थानों का वर्णन है।

समवायांग के एक लाख चौसठ हजार पदों में जीवादि पदार्थों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की समानता की अपेक्षा से वर्णन है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग के दो लाख अट्ठाईस हजार पदों में जीव अस्ति है या नास्ति है, एक है या अनेक है इत्यादि गणधर द्वारा तीर्थंकर के निकट किये गये साठ हजार प्रश्नों का वर्णन है।

ज्ञातृधर्मकथा अंग के पाँच लाख छप्पन हजार पदों में गणधर द्वारा किये प्रश्नों के उत्तररूप जीवादि के स्वभाव का वर्णन है।

उपासकाध्यनांग के ग्यारह लाख सत्तर हजार पदों में श्रावक के (ग्यारह प्रतिमा) व्रत, शील, आचार, क्रिया, मंत्रादि का वर्णन है।

अंतःकृतदशांग के तेईस लाख अट्ठाईस हजार पदों में एक-एक तीर्थंकर के तीर्थकाल में दश-दश मुनि उपसर्ग सहित होकर संसार का अन्त करके निर्वाण प्राप्त किया, उनका वर्णन है।

अनुत्तरोपपादिकशांग के बानवै लाख चवालीस हजार पदों में एक-एक तीर्थंकर के तीर्थंकाल में दश-दश मुनि भंयकर घोर उपसर्ग सहकर देवों द्वारा पूजित होकर (समाधिकरण करके) विजय आदि अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुऐ, उनका वर्णन है।

प्रश्नव्याकरणांग के तिरानवे लाख सोलह हजार पदों में लाभ, हानि, सुख-दु:ख, जीवन-मरण (हार-जीत चिन्ता) के सम्बन्ध में किये गये प्रश्नों का (भूत, भविष्य, वर्तमान की अपेक्षा से दिये गये उत्तर) का वर्णन है।

विपाकसूत्रांग के एक करोड़ चौरासी लाख पदों में कर्मों का उदय, उदीरणा, सत्ता का वर्णन है (इस प्रकार ग्यारह अंगों का चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार पदों में वर्णन किया है)।

दृष्टिवादप्रवाद नाम के बारहवे अंग के (एक सौ आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पन हजार पाँच पदों में मिथ्यादर्शन को दूर करने का वर्णन है।) दृष्टिवाद अंग के पाँच भेद हैं। **परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।** बारह अंगों में कुल एक सौ बारह करोड़, तिरासी लाख, अट्ठावन हजार पाँच, (1,12,83,58005) पद हैं।

परिकर्मः- दृष्टिवाद अंग के प्रथम भेद परिकर्म के भी पाँच भेद हैं- **चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति।**

चन्द्रप्रज्ञप्तिः- के छत्तीस लाख पाँच हजार पदों में चन्द्रमा की आयु,गति, कला की हानि-वृद्धि, देवी, वैभव, परिवार आदि का वर्णन है।

सूर्यप्रज्ञप्तिः- के पाँच लाख तीन हजार पदों में सूर्य की आयु, गति, वैभव आदि का वर्णन है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः- के तीन लाख पच्चीस हजार पदों में जंबूद्वीप सम्बन्धित क्षेत्र, पर्वत, सरोवर, नदी आदि का वर्णन है।

द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः- के बावन लाख छत्तीस हजार पदों में असंख्यात द्वीप समुद्रों का मध्यलोक के अकृत्रिम जिनमंदिरों का और भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों के आवास का वर्णन है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिः- के चौरासी लाख छत्तीस हजार पदों में जीव पुद्गलादि द्रव्य का वर्णन है। इस प्रकार पाँच प्रकार के परिकर्म का एक करोड़ इक्यासी लाख पाँच हजार पदों में वर्णन है।

सूत्रः- दृष्टिवाद अंग के दूसरे भेद, सूत्र के अठासी लाख पदों में जीव अस्तिरूप ही है, नास्तिरूप ही है, कर्त्ता ही है, भोक्ता ही है इत्यादि क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी, एकान्तवादियों द्वारा कल्पित जीव के स्वरूप का एक पक्ष की अपेक्षा मात्र से ही वर्णन कैसा होता है, वह बताया है।

प्रथमानुयोगः- दृष्टिवाद अंग का तीसरा भेद प्रथमानुयोग के पाँच हजार पदों में विशेष ज्ञान रहित मिथ्यादृष्टि अव्रती को समझाने के लिए तिरेसठ शलाका महापुरुषों के चारित्र का वर्णन है।

पूर्वगत दृष्टिवाद अंग के चौथे भेद में चौदह पूर्व हैं।

उत्पादपूर्वः- के एक करोड़ पदों में जीवादि द्रव्यों के (अनेक प्रकार की नय विवक्षा से क्रमवर्ती-युगपत अनेक धर्मो से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) स्वभाव का (भूतकाल वर्तमानकाल, भविष्य कालों की अपेक्षा से 81-81 भेद करके) वर्णन किया है।

अग्रायणीयपूर्वः- के छियानवे लाख पदों में द्वादशांग का सारभूत ज्ञान सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य, सात सौ नय, दुर्नय आदि(प्रयोजन भूत) का वर्णन है।

वीर्यानुवाद पूर्वः- के सत्तर लाख पदों में आत्मा का स्व-वीर्य, पर। वीर्य, दोनों का वीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, भाववीर्य, तपोवीर्य, द्रव्य-गुण पर्यायों का शक्ति रूप वीर्य का वर्णन है।

अस्तिनास्तिप्रवादपूर्वः- के साठ लाख पदों में जीवादि द्रव्यों का स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति तथा पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप चतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति इत्यादि सात भेद (सप्त भंग) तथा नित्य, अनित्य, एक अनेक आदि का विरोध रहित वर्णन है।

ज्ञानप्रवादपूर्व के एक कम एक करोड़ पदों में मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय, केवल ये पाँच सम्यक्ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत, कुअपधि ये तीन अज्ञान, इनका स्वरूप, संख्या, विषय, फल की अपेक्षा प्रमाण-अप्रमाण रूप भेद सहित वर्णन है।

सत्यप्रवादपूर्व :- के छः अधिक एक करोड़ पदों में वचनगुप्ति,वचन के संस्कार के कारण वक्ता के भेद, बारह भाषा, दश प्रकार का सत्य तथा बहुत प्रकार के असत्य वचनों का वर्णन है।

आत्मप्रवाद पूर्व के छब्बीस करोड़ पदों में आत्मा जीव है कर्त्ता है, भोक्ता है, प्राणी है, वक्ता है, पुद्गल है, वेदक है, व्यापक (विष्णु) है, स्वयंभू है, शरीर सहित है, शक्तिमान है, जन्तु है। मानव है, मानी है, मायावी है, योगी है, संकोच-विस्तार वाला है, क्षेत्रज्ञ है, मूर्तिक है, इत्यादि स्वरूप का वर्णन है।

कर्मप्रवादपूर्व :- के एक करोड़ अस्सी लाख पदों में कर्मो के बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता, उत्कर्षण, अपकर्षण, उपशमन, संक्रमण, निधत्ति, निकाचित आदि अवस्था रूप मूल प्रकृति, उत्तर प्रकृति आदि भेदों का तथा ईर्यापथ, तपस्या, अधः कर्म आदि का वर्णन है।

प्रत्याख्यानपूर्व :- के चौरासी लाख पदों में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा जीवों के संहनन, बल आदि के अनुसार काल की मर्यादा सहित त्याग, पाप सहित पदार्थों का त्याग, उपवास की विधि व भावना, पाँच समिति, तीन गुप्ति इत्यादि का वर्णन है।

विद्यानुवाद :- पूर्व के एक करोड़ दस लाख पदों में अंगुष्ठ, आदि सात सौ अल्प विद्याओं का तथा रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का स्वरूप, सामर्थ्य, साधनभूत मंत्र-यंत्र-पूजा विधान, सिद्ध हो जाने पर उनका फल तथा अंतरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, छिन्न ये आठ प्रकार का निमित्त ज्ञान का वर्णन है।

कल्याणानुवाद :- पूर्व के छब्बीस करोड़ पदों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण (वासुदेव), प्रतिनारायण के गर्भ कल्याणक आदि महोत्सवों, भावनाओं, तपश्चरण आदि क्रियाओं का, चन्द्र, सूर्य व ग्रह, नक्षत्र आदि की गति, ग्रहण, शकुन फल आदि का वर्णन किया है।

प्राणवादपूर्व के तेरह करोड़ पदों में शरीर की चिकित्सा का अष्टांग आयुर्वेद, भूत-प्रेत, विष आदि व्याधि दूर करने के मंत्रादिक का तथा गति के अनुसार दश प्राणों के उपकारक-अनुपकारक द्रव्यों का वर्णन है।

क्रियाविशालपूर्व :- के नौ करोड़ पदों में संगीत, शास्त्र, छंद, अलंकार, शास्त्र, बहत्तर कलाएँ, स्त्री के चौंषठ गुण, शिल्प विज्ञान, गर्भाधान आदि चौरासी क्रियाएँ सम्यक्दर्शन आदि की एक सौ आठ क्रियाएँ, पच्चीस देववंदनादि क्रियाएँ तथा नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं का वर्णन है।

लोकबिन्दुसार :- पूर्व के बारह करोड़ पचास लाख पदों में तीन लोकों का स्वरूप, छब्बीस परिकर्म, आठ व्यवहार, चार बीज आदि गणित, मोक्ष का स्वरूप, मोक्ष गमन की कारणभूत क्रिया तथा मोक्ष सुख का वर्णन है। इस प्रकार पंचानवे करोड़ पचास लाख पाँच पदों में चौहद पूर्वों का वर्णन हैं।

दृष्टिवाद अंग :- के पाँचवे भेद चूलिका के पाँच भेद हैं- **जलगता, स्थलगता, मायागता, आकाशगता, रूपगता।** प्रत्येक चूलिका के दो करोड़ नौ लाख उन्यासी हजार दो सौ पाँच पद हैं। पांचों चूलिकाओं के कुल दश करोड़ अड़तालीस लाख छियानवें हजार पच्चीस पद हैं।

जलगता चूलिका :- में जल को रोकना, जल में गमन करना, अग्नि को रोकना, अग्नि खाना, अग्नि पर बैठना-चलना, अग्नि में प्रवेश करना इत्यादि क्रिया के कारण भूत, मंत्र, तंत्र तपश्चरण आदि का वर्णन है।

स्थलगता चूलिका :- में मेरु आदि पर्वतों में, भूमि में प्रवेश तथा शीघ्र गमन इत्यादि क्रिया के कारण भूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरणादि का वर्णन है।

मायागता चूलिका :- में मायारूप इंद्रजालादि विक्रिया के कारण भूत, मंत्र, तंत्र तपश्चरणादि का वर्णन है। इन रूपगता चूलिका में सिंह, हाथी, घोड़ा, बैल, हिरण, व्याघ्र, खरगोश, मनुष्य, वृक्ष आदि के अनेक रूप बदलने के कारण भूत, मंत्र-तंत्र तपश्चरणादि का तथा चित्र, मिट्टी पत्थर, लकड़ी लेप आदि की कलाकारी तथा धातुवाद, रसवाद, खनिज आदि की चतुराई पूर्वक रचना करने का वर्णन है। द्वादशांग में 18446744073709551616 इतने अपुनरूक्त अक्षर हैं। जो एक बार आने के बाद दूसरी बार नहीं आते हैं उसे अपुनरूक्त अक्षर कहते हैं। इनमें चौसठ संयोग तक के अक्षर हैं। आगम में कहे मध्यम पद में सोलह सौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अपुनरूक्त अक्षर हैं। इन अक्षरों में प्रमाण का भाग देने पर एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच पद आये, उनमें समस्त द्वादशांग है शेष अक्षर आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर अंक रहे। इन अक्षरों का पूर्ण एक पद नहीं होता इसलिए इन्हें अंगबाह्य कहा है। उन अक्षरों के सामायिक आदि चौदह प्रकीर्णक हैं।

सामायिक प्रकीर्णक :- में मिथ्यात्व कषायादि के क्लेश के अभाव रूप नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से छह भेद रूप सामायिक का वर्णन है।

स्तवन प्रकीर्णक :- में चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य, परम औदारिक दिव्य देह, समवसरण सभा धर्मोपदेश आदि तीर्थंकरों के माहात्म्य का प्रकाश रूप वर्णन है।

वंदना प्रकीर्णक :- में एक तीर्थंकर के अवलंबनरूप चैत्यालय प्रतिमा का स्तवन रूप वर्णन है।

प्रतिक्रमण प्रकीर्णक :- में प्रमाद जनित पूर्वकृत दोषों का निवारण करने का वर्णन है उसके सात भेद हैं- दैनिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक (वार्षिक), ईर्यापथिक, उत्तमार्थ (मरण के साथ)

वैनयिक प्रकीर्णक :- में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा उपचार स्वरूप पाँच प्रकार की विनय का वर्णन है।

कृतिकर्म प्रकीर्णक :- में नवदेवताओं, अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिन प्रतिमा, जिनमन्दिर, जिनआगम, जिनधर्म की वंदना के लिए तीन प्रदक्षिणा, चार शिरोनति, तीन शुद्धि, दो नमस्कार बारह आवर्त, इत्यादि नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं का वर्णन है।

दशवैकल्पिक प्रकीर्णक :- में साधु के आचार तथा आहार की शुद्धि का दश विशेष कालों से सम्बंधित वर्णन है।

उत्तराध्ययन प्रकीर्णक :- में चार प्रकार के उपसर्ग तथा बाईस परिषहों के सहने का विधान उनका फल तथा उनसे संबंधित प्रश्नों के उत्तर का वर्णन है।

कल्पव्यवहार प्रकीर्णक :- में साधु के योग्य आचरण का विधान, अयोग्य के सेवन का प्रायश्चित्त का वर्णन है।

कल्प्याकल्प्य प्रकीर्णक :- में साधु को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा क्या योग्य है क्या अयोग्य है ऐसा भेद रूप वर्णन है।

महाकल्पय प्रकीर्णक :- में जिनकल्पी उत्कृष्ट संहनन सहित महामुनियों के योग्य, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के प्रभाव से उत्कृष्ट चर्या से वर्तते प्रतिमा योग, आतापन योग, त्रिकालयोग (वृक्षतल) आदि का आचरण तथा स्थविरकल्पी साधुओं की दीक्षा, शिक्षासंघ का पोषण, यथायोग्य शरीर का समाधान, आत्म-संस्कार, सल्लेखना तथा उत्त्मार्थ को प्राप्त उत्तम आराधना का वर्णन है।

पुण्डरीक प्रकीर्णक :- में भवनवासी व्यंतर, ज्योतिषि, कल्पवासी देवों में उत्पत्ति के कारण दान, पूजा, तपश्चरण, अकाम निर्जरा, सम्यक्त्व, संयम आदि का वर्णन तथा उनके उपजने के स्थान का वैभव आदि का वर्णन है।

महापुण्डरीक प्रकीर्णक :- में मऋद्धिक देवों में जो इन्द्र, प्रतीन्द्र, अहमिन्द्र आदि में उत्पत्ति के कारण तप विशेष आदि का वर्णन है।

निषिद्धिका प्रकीर्णक :- में प्रमाद से उत्पत्र दोषों का त्याग करके विशुद्धता के लिए अनेक प्रकार से प्रायश्चित का वर्णन है ऐसा प्रायश्चित शास्त्र है। ऐसे द्वादशांग शास्त्र का ज्ञान, तप के प्रभाव से होता है जो आप स्वयं पढ़ते हैं, अन्य बुद्धिमान शिष्यों को पढ़ाते है उन बहुश्रुत की भक्ति संसार परिभ्रमण का नाश करने वाली है। शास्त्रों की भक्ति भी बहुश्रुत भक्ति है। गुणों में अनुराग करना वह भक्ति है जो शास्त्रों में अनुराग करके पढ़ते हैं, शास्त्र के अर्थ को अन्य को बतलाते हैं धन खर्च करके शास्त्रों को लिखाते हैं (छपाते हैं) अपने हाथ से शास्त्र लिखते हैं, अक्षरों की हीनता, अधिकता, मात्रा आदि का शोधन करते हैं, पढ़ने वालों-बांचने वालों की आजीविका की स्थिरता करके शास्त्रों के ज्ञानाभ्यास का प्रवर्तन कराते हैं, स्वाध्याय करने के लिए निराकुल स्थान देते हैं, वह ज्ञानावरण कर्म का नाश करने वाली बहुश्रुत भक्ति है। शास्त्रों को बहुमूल्य वस्त्रों में पुट्ठा लगाकर कपड़ा सहित डोरी से इस प्रकार बांधना जिससे देखने, सुनने वाले, पढ़ने वालों का मन प्रसन्न हो जाये, वह सब बहुश्रुत भक्ति है। स्वर्ण से मनोहर गढ़े हुए तथा पाँच प्रकार के रत्नों से जड़ित, सैकड़ो फूलों से शास्त्र की सारभूत पूजा करना, ऐसी श्रुतभक्ति संशय आदि रहित सम्यग्ज्ञान उत्पन्न कराकर क्रम से केवलज्ञान प्रकट करा देती है। जो पुरुष अपने मन को इन्द्रियों के विषयों से रोककर बारम्बार श्रुत देवता (जिनवाणी) के गुणों का स्मरण करके भली प्रकार से बनाये पवित्र अर्घ्य के द्वारा श्रुत देवता की पूजा करता है वह समस्त श्रुत का पारगामी होकर केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त करता है।

इस प्रकार अंगप्रविष्ट आदि और अंगबाह्य रूप पूर्ण श्रुतज्ञान है। अंगबाह्य का परिणाम बहुत थोड़ा है इस कारण श्रुत मुख्य रूप से द्वादश अंग रूप कहा जाता है तथा बारहवें दृष्टिवाद अंग में 14 पूर्वों का मुख्य स्थान है उनका परिणाम भी बहुत बड़ा है।

उपाध्याय परमेष्ठी 11 अंग 14 पूर्वों के ज्ञाता होते हैं। इस कारण 11 अंग 14 पूर्व रूप शास्त्रों की जानकारी के रूप में उनके 25 गुण कहे जाते हैं।

उपाध्याय बहुत श्रुतों (शास्त्रों) के पारंगत विद्वान् होते हैं। इसलिए उनका नाम बहुश्रुत भी है। उपाध्याय की भक्ति करना उनका आदर सत्कार करना विनय आदि करना बहुश्रुत भक्ति है।

बहुश्रुत भक्ति से विविध शास्त्रों का अंग पूर्वों का ज्ञान प्राप्त होता है। यही बहुश्रुत भक्ति तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण हैं। अधोलिखित दृष्टान्तों से बहुश्रुत भक्ति के महत्त्व का पता चलता है। उपाध्याय महाराज के इन श्रेष्ठ गुणों के प्रति हमें अनुराग रखना चाहिए। उनके गुणों का स्मरण, चिंतन और ध्यान करके उनके जैसे गुणों की प्राप्त करने की भावना रखनी चाहिए। उपाध्याय महाराज के प्रति हमारी यह भक्ति हमारे और सभी जीवों के कल्याण में सहायक है। अतः उनकी निरंतर भक्ति करते रहना चहिये।

हिमालय ज्ञान के होते जमाने को लुटाते हैं।
विशद सद्ज्ञान की महिमा जमाने को बताते हैं॥
करें जो भक्ति बहुश्रुत की बने श्रुतवान वह ज्ञानी।
प्राप्त करके सकल संयम स्वयं भी मोक्ष जाते हैं॥

****

13

प्रवचन-भक्ति भावना

षड्-द्रव्य-पञ्च-कायत्वं सप्त-तत्वं नवार्थता।
कर्म-प्रकृति-विच्छेदो यत्रे प्रोक्तः स आगमः ॥१३॥

छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थ और कर्म प्रकृतियों के विच्छेद आदि का जिसमें वर्णन है उस आगम का पढ़ना प्रवचनभक्ति है।

द्रव्य भाव श्रुत के भावों में, तत्पर जो रहते।
घोर तपस्या करने वाले, परिषह भी सहते॥
चेतन का अनुभव जो करते, निर्मल चित्धारी।
चित् को निर्मल करने वाली, वाणी मनहारी॥
सप्त तत्त्व झंकृत होते हैं, जिनवाणी द्वारा।
दिव्य देशना निःसृत होती, जैसे जलधारा॥
जिस वाणी से जागृत होवे, चेतन शक्ती है।
'विशद' ज्ञान में वर्णित पावन, प्रवचन भक्ती है॥

हम सभी लोग पिछले कई दिनों से अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए सोलहकारण भावनाओं पर विचार कर रहे हैं। ये भावनाएँ हमें तीर्थंकर के समान ऊँचाइयों तक ले जाने में सहायक हैं या कहें कि जो भी आत्माएँ तीर्थंकर बनती हैं वे इन्हीं भावनाओं का चिन्तन करती हैं। अर्हत्, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन भक्ति ये चारों भक्तियाँ यदि विशुद्ध अनुराग से भरकर की जाएँ तो हमें मुक्ति दिलाने में सहायक होती हैं। मानिए, भक्ति भी मुक्ति का कारण बन सकती है। सहसा विश्वास नहीं होता, असल में, आज जो भक्ति का रूप देखने में आता है उसे देखकर तो कोई भी नहीं कह सकता कि भक्ति भी मुक्ति दिलाने में सहायक है। भक्ति का कान्सेप्ट (अवधारणा) क्लीयर (स्पष्ट) होना चाहिए। अधिकांश लोग सोचते हैं कि भक्ति तो भगवान को प्रसन्न करने के लिए होती है, भगवान प्रसन्न हो जायेंगे तो हमारे सारे काम आसान कर देंगे। कुछ लोग सोचते हैं भक्ति करने से थोडा मन बहल जाता है, थोड़ा मनोरंजन हो जाता है। थोड़ा धर्म का प्रचार-प्रसार हो जाता है। और भी सबके अपने-अपने विचार हैं।

वास्तव में, पूज्य पुरुषों के गुणों के प्रति अनुराग होना, उनके गुणों का निरन्तर स्मरण करना, उनका गुणगान करना, उनके गुणों का मन ही मन चिन्तन करना और उनके जैसे बनने की भावना होना, यही भक्ति है। ऐसी भक्ति ही मुक्ति का कारण बन सकती है। भगवान जिनेन्द्र की भक्ति करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी अपने भाव व्यक्त करते हैं कि **"न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे। तथापि ते पुण्य गुण स्मृतिर्नः, पुनातु चितं दुरिताञ्जनेभ्यः"** हे भगवन्! आप वीतरागी हैं। आपको पूजा, प्रशंसा या निन्दा से कोई सरोकार नहीं है। पूजा से प्रसन्न होकर न आप किसी को वरदान देते हैं और न ही निन्दा करने वाले से वैर भाव रखते हुए उसे अभिशाप देते हैं। वास्तव में हम आपकी पूजा करके या आपके पवित्र गुणों का स्मरण करके अपने मन का मैल (पाप) धोते हैं, अपना चित्त निर्मल करते हैं।

यही पूजा या भक्ति का सही उद्देश्य है और यही पूजा या भक्ति की उपलब्धि है। हमारे और भगवान के बीच जो अन्तर है, दूरी है या भिन्नता है वह घटती चली जाए, ऐसी होनी चाहिए भक्ति। भगवान वीतरागी हैं या जो हमारे पूज्य हैं वे वीतरागी हैं और हम निरन्तर राग-द्वेष में लगे हुए हैं। यही उनके और हमारे बीच फर्क है। हम भक्ति के माध्यम से उनसे जुडें, उनसे निकटता बनाएँ, उनका सामीप्य प्राप्त करें तो ही भक्ति सार्थक होगी। भगवान से जुड़ना यानी वीतरागता से जुड़ना, अपने वीतराग स्वरूप की ओर रूझान होना है। भगवान को प्राप्त करना, यानी उनके जैसा बनना है। उनके जैसी वीतरागता अपने भीतर प्रकट करना है। अर्हन्त-भगवान की भक्ति हो, आचार्य महाराज की भक्ति हो या बहुश्रुतवान उपाध्याय महाराज की भक्ति हो या प्रवचन भक्ति हो, सभी का लक्ष्य एक ही है, केन्द्र बिन्दु एक ही है, वीतरागता। यही स्व-पर कल्याण का मंत्र है।

आज हम प्रवचन-भक्ति पर विचार करते हैं। प्रवचन का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ वचन या प्रकृष्ट वचन। संसार में तीन ही वक्ता ऐसे हैं जिनके वचन सर्वश्रेष्ठ हैं। एक तो तीर्थंकर, अर्हन्त या केवली भगवान, दूसरे गणधर देव या श्रुतकेवली महाराज और तीसरे परम्परा से जिन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ हो ऐसे आचार्य। इन्हीं तीन के वचन सर्वोत्कृष्ट हैं। तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि के माध्यम से गणधर महाराज द्वादशांग की रचना करते हैं और उसी द्वादशांग को अपने-अपने ज्ञान के क्षयोपशम के अनुसार आचार्य-भगवन्त आगे-आगे की परम्परा को देते चले जाते हैं। जैसे बर्फ का टुकड़ा ही है क्वाँटिटी का फर्क भले ही हो पर क्वालिटी में अन्तर नहीं होता। ऐसी ही यह ज्ञान परम्परा है। वाणी की परम्परा है।

भगवान की वाणी या जिनवाणी की भक्ति ही प्रवचन-भक्ति है और भगवान की वाणी तो तीर्थरूप है। जैसे नदी में घाट बनाए जाते हैं, जहाँ से नदी को आसानी से पार किया जा सकता है ऐसे ही जिनवाणी संसार-सागर से पार कराने वाली है। सब जीवों का उद्धार करने वाली और सब जीवों को दुःख से बचाने वाली है। इसीलिए जिनवाणी सर्वहितकारी या सर्वोदयी है। ऐसी जिनवाणी में अनुराग रखना, उसका सदा अभ्यास करना, चिन्तन-मनन और अध्ययन करना और जिनवाणी के अनुसार आचरण करना ये सारी बातें शामिल हैं। प्रवचन-भक्ति तभी सार्थक होगी। (अपने को जिनवाणी की भक्ति, मात्र उसकी आरती उतारने या अर्घ चढ़ा लेने तक सीमित नहीं करना है उसे अपने जीवन में, अपने आचरण में भी लाना है।

यदि हम अपने जीवन में जिनवाणी में कही गई बातों का अभ्यास करें तो हमारा व्यक्तिगत जीवन, हमारा परिवार, समाज और सारा विश्व अत्यन्त शान्ति से रह सकता है और अपना भला कर सकता है। जिनवाणी में कही गई दो-तीन मौलिक बातों पर हम विचार करें। प्रत्येक आत्मा अपने कर्मों से महान बनता है और वह चाहे तो अपने आत्मविश्वास, विवेक और आत्मबल को जाग्रत करके स्वयं परमात्मा बन सकता है। सभी जीवों में यह क्षमता समान रूप से विद्यमान है। यह आत्म- निर्भरता और आत्म-स्वाधीनता की बात यदि हमारे अंतरंग में आ जावे तो अपने स्वजनों, मित्रों और यहाँ तक कि अपरिचितों, पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों सभी के प्रति सद्भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा। सारी पारम्परिक विषमता और वैमनस्य या मनोमालिन्य दूर हो जाएगी।

दूसरी बात वैचारिक आदान-प्रदान की पद्धति को सुधारने के लिए जरूरी है अनेकान्त और स्याद्वाद की समझ। हमारा ज्ञान अधूरा और अल्प है जबकि सच्चाई तो पूर्ण और व्यापक है। इसलिए हमें अपनी दृष्टि सदा निराग्रही और व्यापक रखनी चाहिए। सत्य के हर पहलू को जानने का प्रयास करना चाहिए। परिवार या समाज में वैचारिक भिन्नता होना संभव है। ऐसी स्थिति में परस्पर टकराहट से बचने के लिए हमें विनयपूर्वक अपनी बात पर पुनः विचार करना चाहिए। दूसरे को भी सोचने का अवसर देना चाहिए। परस्पर विवाद से बचना चाहिए।

तीसरी बात अहिंसा है। अपने मन, वाणी और कर्म से किसी को पीड़ा नहीं पहुँचे, इस बात का ख्याल बना रहे। सभी के प्रति सद्भाव रखना, मिल-जुलकर रहना और सह अस्तित्व की भावना रखना, यह अहिंसा का (प्रेक्टिकल) प्रयोगात्मक रूप है। हमारे मन में दुर्भावनाएँ आना या अपना मन खराब करना भी हिंसा है। जितनी भी निगेटिव (नकारात्मक) फीलिंग्स हैं वे सब हमें हिंसा की ओर ले जाने वाली हैं। उनसे बचना चाहिए। अपनी आवश्यकता भर चीजें अपने पास रखें, ज्यादा संग्रह न करें- यह भी अहिंसा से जुडा परिग्रह का विचार है। गाँधीजी के आश्रम में दातून (दाँत साफ करने की लकड़ी) का उपयोग होता था। पर यदि आधी दातून बचती तो उसे दूसरे दिन के लिए काम में ले लेते थे। उसे व्यर्थ फेंकते नहीं थे। एक बार बापू ने किसी काम से दो पत्तियाँ लाने को कहा, किसी आश्रमवासी ने पूरी डाली तोड़कर बापू को देना चाही। बापू बड़े दुःखी हुए। उन्होंने स्वयं प्रायश्चित किया और उस व्यक्ति को भी कहा कि उतना ही ग्रहण करो जितना काम आए। इसमें अहिंसा और अपरिग्रह दोनों ही बातें आ गई।

ये जिनवाणी में कही गई बड़ी मौलिक बातें हैं जिनका पालन करने से अपना और दूसरे का, सबका भला होता है। केवल किताबी ज्ञान के बल पर या ज्ञान की खूब चर्चा करने मात्र से कल्याण नहीं होता। जिनवाणी का अल्पज्ञान भी हो लेकिन मन में निर्मलता हो, संतोष हो, श्रद्धा-भक्ति हो तो कल्याण हो जाएगा। आचार्यों ने कहा भी है किसी को द्रव्यश्रुत ज्ञान अल्प भी हो लेकिन भावश्रुत रूप आत्म-ज्ञान हो उसका काम आसानी से हो जाएगा। शिवभूति नाम के मुनिराज को थोड़ा ही ज्ञान था। उनके गुरु ने उन्हें णमोकार-मंत्र

सिखाया तो वे उसे भी नहीं सीख पाए, भूल गए। गुरुजी ने '**मा रूषः मा तूषः**' यानी राग-द्वेष मत करो, ऐसा मंत्र दिया। मुनिराज वह भी भूल गए और उसके स्थान पर '**तुष मास भिन्न**' ऐसा बोलने लगे।

एक दिन शिवभूति मुनिराज रास्ते से गुजर रहे थे। उनकी दृष्टि उड़द की दाल साफ करने वाली बूढ़ी अम्मा पर पड़ी। उड़द को 'मास' कहते हैं और उसके छिलके को 'तुष' कहते हैं। मुनिराज सोच में डूब गए। उन्हें लगा कि जैसे दाल से छिलका अलग है ऐसे ही मेरी आत्मा शरीर से भिन्न है। इतनी सी बात भेद-विज्ञान में कारण बन गई। उन्हें आत्मज्ञान हो गया। परिणामों में ऐसी निर्मलता आई कि अन्तर्मुहूर्त में अपने कर्मों का क्षय करके उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

भाई! जिनवाणी की ऐसी महिमा है। अपने को मात्र णमोकार मंत्र आता हो लेकिन आस्था और आचरण में निर्मलता हो तो इतना भी पर्याप्त है। कल्याण हो जाएगा। णमोकार-मंत्र में पूरा द्वादशांग समाया है। पूरी जिनवाणी समायी है। आचार्य वीरसेन स्वामी के चरणों में विनय-भाव से बैठें तो वे बताते हैं कि श्रद्धापूर्वक पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण या ध्यान करने से (आते-जाते, खाते-पीते, सोते-जागते किसी भी अवस्था में) निरन्तर असंख्यातगुनी कर्मों की निर्जरा की जा सकती है।

जिनवाणी तो दीपक है जिसके प्रकाश में हम चाहें तो अपनी खोई हुई अल्प-निधि को ढूँढ़ सकते हैं। उसे प्राप्त कर सकते हैं। आपको याद है बच्चों की कहानी। बच्चे बड़े शौक से पढ़ते हैं उसे। एक बुढ़िया थी। एक बार उसकी सुई खो गई। बुढ़िया ने बहुत ढूँढ़ा, सुई नहीं मिली। लोगों ने समझाया कि बुढ़िया अम्मा ऐसे अँधेरे में खोजने से नहीं मिलेगी, प्रकाश में खोजो। बुढ़िया ने बात मान ली और उजाले में जाकर सुई खोजने लगी। बहुत ढूँढ़ा पर सुई वहाँ भी नहीं मिली। लोगों ने पूछा-बुढ़िया अम्मा सुई गिरी कहाँ थी? बुढ़िया ने फौरन कहा कि भैया! सूई तो घर में गिरी थी। लोगों ने कहा कि प्रकाश में खोजो, उजाले में खोजो, तो मैंने यहाँ उजाले में खोजा तब भी नहीं मिली। लोग हँसने लगे और कहा-अरे बुढ़िया अम्मा! सुई जहाँ खोई है वहीं प्रकाश करो तब मिलेगी।

कहानी तो हम सबके समझ में आती है। पर जीवन में इससे हम शिक्षा नहीं ले पाते। हमारी आत्म-निधि, हमारा आत्म-सुख तो हमारे ही भीतर है। हम उसे वहाँ नहीं खोजतें, उसे हम संसार में खोजते हैं। यही हमारी अज्ञानता है, हमारी भूल है। जिनवाणी हमें प्रकाश देती है, हमें ज्ञान देती है, जिसके सहारे हम ही भीतर झाँके, अपने आत्म-स्वरूप को पहचानें तो हमारा खोया हुआ आत्म-सुख आसानी से हमें प्राप्त हो सकता है। अपना आत्मस्वरूप जिनवाणी में भी नहीं खोजना है, वह जिनवाणी में नहीं, हमारे भीतर है। अपने भीतर ही जिनवाणी का प्रकाश करें और खोजें तो ही मिलेगा।

जिनवाणी की अनेक विशेषताएँ हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने शीतलनाथ भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है कि "**न शीतलाश्चंदन चंद्ररश्मयो, न गाङ्ग मम्भो न च हार यष्टयः। यथा**

मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः, शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम्।।" हे भगवान! संसार में चंदन को शीतल माना है, चाँदनी शीतल मानी गई है, गंगा का जल, मोती की माला और बर्फ के कणों को शीतल माना है पर वास्तव में ये शीतलता देने वाले नहीं है। इनसे आत्मा को शीतलता नहीं मिलती। ये तो मात्र शरीर को क्षणिक शीतलता देने वाले पदार्थ हैं। संसार में एक मात्र आपकी निर्दोष पवित्र वाणी है जो हम सब दु:ख से संतप्त जीवों को शाश्वत शीतलता देने वाली है। जिनवाणी हमें वास्तविक शान्ति और शीतलता देने वाली है।

आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने ही रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सच्चे शास्त्र या जिनवाणी का स्वरूप लिखा है। "आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य मदृष्टेष्टविरोधकम्। तत्त्वोपदेश कृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्।।, "जिनवाणी की छह विशेषताएँ कही हैं। 'आत्तोपज्ञं' - जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी सच्चे देव, अर्हन्त भगवान के द्वारा कही गई है। 'अनुलंघ्य'- जिसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता अर्थात् जिसे कोई गलत साबित नहीं कर सकता। 'अदृष्टेष्टविरोधकम्' - प्रत्यक्ष और परोक्ष (डायरेक्ट एण्ड इनडायरेक्ट) किसी भी तरह से जिसमें कोई विरोध नहीं आता। 'तत्त्वोपदेशकृत' जो आत्मतत्त्व का बोध कराने वाली है, हमारा हमसे ही परिचय कराने वाली है। 'सार्वम् यानी प्राणीमात्र का कल्याण करने वाली है, सर्वोदयी है, सर्वहितकारी है। मन में प्रश्न उठ सकता है कि हम मन वाले जीव तो जिनवाणी का अभ्यास करके अपना कल्याण कर सकते हैं यह उपकार हमारे ऊपर जिनवाणी का तो मान्य है हमें, लेकिन बिना मन वाले एकेन्द्रिय पेड़-पौधे आदि का उपकार जिनवाणी के द्वारा कैसे होगा? आचार्य भगवन्तों ने इसका बड़ा बढ़िया समाधान दिया है कि हम मन वाले जीवों के लिए जिनवाणी का उपदेश है कि जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए। पेड़-पौधे भी जीव हैं। उसको भी पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए। इस तरह जिनवाणी के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करके हम छोटे जीवों की रक्षा करते हैं जिससे उनका भी उपकार होता है। एक और विशेषता है 'कापथघट्टनम्' । जिनवाणी हमें खोटे-मार्ग पर, उन्मार्ग पर जाने से बचा लेती है। वह हमारा सही मार्गदर्शन करती है। हम अपनी अज्ञानता और आसक्ति के कारण संसार में भटक गए हैं इस बात का अहसास जिनवाणी के अभ्यास से ही होता है। हम अपनी अज्ञानता और आसक्ति को हटाकर सच्चे मार्ग पर चल सकते हैं। यह आत्मविश्वास भी जिनवाणी के प्रति अनुराग रखने वाले के भीतर जाग्रत होता है। भैया, अपने स्वभाव और अपनी अनन्त-शक्ति का अनुभव हम जिनवाणी के द्वारा ही कर सकते हैं।

हमारे आचार्य महाराज ने चार लाइनें जिनवाणी की आराधना करते हुए लिखी हैं। जो पूर्वाचार्यों के भाव को ही व्यक्त करने वाली हैं - **"पीयूष है विषय -सौख्य विरेचना है, पीते सुशीघ्र मिटती चिर वेदना है। भाई, जरा-जनम-रोग निवारती है, संजीवनी सुखकरी जिनभारती है।।"** जिनवाणी तो अमृत है। स्वर्गलोक के देव जो अमृतपान करने वाले कहलाते हैं उन्हें भी आयु पूर्ण होने पर मृत्यु को स्वीकार करना पड़ता है परन्तु जिनवाणी तो सचमुच अमृत स्वरूप है जिसका सेवन करने से यानी जिसका अभ्यास

करने से अनादिकाल से चली आ रही संसार की वेदना मिट जाती है। भौतिक-सुखों से विरक्ति हो जाती है और जनम-मरण व बुढ़ापे से छुटकारा सदा के लिए हो जाता है। शाश्वत -सुख की प्राप्ति हो जाती है।

जिनवाणी स्याद्वादमयी है। इसके अभ्यास से सारी उलझनें दूर हो जाती हैं, सारी समस्याएँ सुलझ जाती हैं, सारे बैर-विरोध मिट जाते हैं। आपसी मनो-मालिन्य समाप्त हो जाते हैं। आज जो विषमताएँ दिखाई देती हैं उसके अन्य जो भी कारण हों, पर एक यह भी कारण है कि हम निराग्रही दृष्टि से जिनवाणी की आराधना या अभ्यास नहीं करते। जो जितना निराग्रही और सत्यान्वेषी होकर या कहें आत्मान्वेषी होकर जिनवाणी का चिन्तन-मनन व अध्ययन करता है वह अपने जीवन में उतनी ही निराकुलता और आनन्द महसूस करता है। वह संसार के प्रपंच में नहीं उलझता। संतोष और समतापूर्वक अपना जीवन जीता है।

एक आखिरी बात और कहना चाहूँगा कि जिनवाणी के प्रति अनुराग रखने से, उसका सही-सही अभ्यास करने से हमारा वर्तमान जीवन, सहज, सरल और संवेदनशील बनता है। यही जिनवाणी के अभ्यास की उपलब्धि है। एक युवक अपने गुरु से आज्ञा लेकर एकान्त स्थान में ज्ञान का अभ्यास करने लगा। एक वर्ष तक उसने ग्रंथों का अध्ययन किया, पर मन में संतोष नहीं हुआ। उसने गुरु से आज्ञा लेकर फिर एक वर्ष और गहन अध्ययन किया। ग्रंथों के अर्थ निकालने में वह निष्णात (एक्सपर्ट) हो गया। लेकिन इतने के बावजूद भी मन नहीं भरा। वह जो एक भीतरी तृप्ति (इनर फुलफिलमेंट) मिलना चाहिए था वह नहीं मिला। गुरु के पास खबर पहुँची तो गुरु ने एक वर्ष और अध्ययन करने की स्वीकृति दे दी। इस बार तो वह मानो ग्रंथों में डूब गया। वर्ष कब बीत गया पता ही नहीं चला। गुरुजी ने कहा कि अब लौट आओ। उसने भी सोचा, लौट जाना चाहिए। अकेले ग्रंथों में डूबे रहने से काम नहीं चलेगा। अध्ययन, चिंतन-मनन पर्याप्त नहीं है। जिनवाणी का अभ्यास तो तभी कहलाएगा जब जिनवाणी के अनुरूप हमारा जीवन बन जाए।

वह युवक वापिस लौटने लगा। रास्ते में उसने देखा कि गाय का एक छोटा-सा बछड़ा पीडा से तड़फ रहा है। वह उसके समीप पहुँचा तो मालूम पड़ा कि बछड़े के पैर में घाव हो गया है, उसमें कीड़े पड़ गए है। उस युवक ने अपना दुपट्टा पानी में भिगोकर घाव साफ किया और जड़ी-बूटी पीसकर घाव पर लगा दी, पट्टी बाँध दी। बछड़े को बड़ी राहत मिली। उसने आँख खोली और युवक की ओर कृतज्ञता से देखा। युवक की आँखे भी भर आयीं। उसे अत्यन्त तृप्ति अध्ययन के दौरान नहीं मिली, वह आज मिल गई। जीवन सहज, सरल और संवेदनशील हो जाए, यही तो जिनवाणी का सही अभ्यास है। यही तो अध्ययन की उपलब्धि है।

द्वादश अंग उपांग सदागम, ताकी निरंतर भक्ति करावे।
वेद अनूपम चार कहे शुभ, अर्थ भले मन मांहि ठरावे।।
पढ़ बहु भाव लिखो निज अक्षर, भक्ति करी बड़ि पूज रचावे।
ज्ञान कहे जिन आगम-भक्ती करो सद्बुद्धि बहुश्रुत पावे।।

बारह अंग और उपांगों वाले सच्चे आगम की निरन्तर (प्रतिदिन) भक्ति करना चाहिए, उपमा रहित आगम के चार अनुयोग (प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग) का भली प्रकार (निरतिचार) स्वाध्याय करना चाहिए। विनय पूर्वक, भाव सहित अध्ययन कर उसके अनुसार आचरण करना चाहिए और जिनवाणी की भक्तिपूर्वक पूजा करनी चाहिए। ज्ञानी लोग कहते हैं कि जो आप्त द्वारा कहे आगम की भक्ति करता है, उसको सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है।

प्रवचन - भगति करै जो ज्ञाता, लहै ज्ञान परमानन्द - दाता।

जो प्रवचन भक्ति करता है वह ज्ञान के परम अलौकिक आनन्द को प्राप्त करता है। वचन और प्रवचन में बड़ा ही अन्तर है, वचन तो साधारण बोले जाने वाले शब्द हैं और प्रवचन का संबंध तो आत्मिक ज्ञान है, आत्मा से है। आत्मा के ज्ञान गुण से निकले विशेष शब्द प्रवचन कहलाते हैं। भगवान ऋषभनाथ से महावीर स्वामी तक सभी तीर्थंकरों से खिरे प्रवचन सरस्वती बन गये और श्रुत कहलाये। श्रुत की आराधना एक महान् कार्य है।

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकर स्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते।। र.श्र.8।।

शास्ता जो धर्मोपदेश रूप शिक्षा देने वाले अरहन्त आप्त हैं वे अनात्मार्थ अर्थात् बिना प्रयोजन, शिष्यों के हित रूप शिक्षा देते हैं जैसे वाद्य बजाने वाले के हाथ का स्पर्श मात्र पाकर मृदंग अनेक प्रकार से ध्वनि करने लगता है किन्तु बदले में कुछ नहीं चाहता है और न श्रोताओं से राग करता है।

गुण के दो भेद हैं- (1) द्रव्यश्रुत (2) भावश्रुत

पुदगल द्रव्य स्वरूप अक्षर पदादि रूप से द्रव्य श्रुत है और उनके सुनने से श्रुतज्ञान की पर्याय रूप से उत्पन्न हुआ ज्ञान भावश्रुत है।

प्रवचन का अर्थ जिनेन्द्र सर्वज्ञ, वीतराग द्वारा प्रणीत आगम है जिसमें छह द्रव्यों, पाँच अस्तिकायों, सात तत्त्वों, नौ पदार्थों का वर्णन है तथा कर्मों की प्रकृतियों के नाश का वर्णन है। जिसके प्रदेश बहुत होते है उसे अस्तिकाय कहते हैं। जो निरन्तर गुण पर्यायों को प्राप्त हो, उसका नाम द्रव्य है। वस्तुपना के द्वारा जो निश्चय करते हैं, उसका नाम पदार्थ है। जिसमें स्वभाव रूपपना है, उसका नाम तत्त्व है। जैसे अंधकारयुक्त महल में हाथ में दीपक लेकर देखने पर सभी पदार्थ दिखाई देते हैं उसी प्रकार तीन लोक रूप मंदिर में प्रवचनरूप दीपक द्वारा सूक्ष्म, स्थूल, मूर्तिक, अमूर्तिक सभी पदार्थ दिखाई देते हैं। प्रवचनरूप नेत्रों द्वारा ही मुनीश्वर चेतन आदि गुणों के धारक समस्त द्रव्यों का अवलोकन करते हैं। जिनेन्द्र के परमागम को योग्य काल में बहुत विनय से पढ़ना प्रवचन भक्ति है।

कैसा है प्रवचन, जिसमें छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थों के भेदरूप समस्त गुण पर्यायों का अनन्त भूतकाल, अनंत भविष्यकाल तथा वर्तमानकाल के स्वरूप का वर्णन होता है। जिसमें अधोलोक की सात पृथ्वियों व नारकियों के रहने के उत्पत्ति के स्थानों का, आयु, काय, वेदना, गति आदि, भवनवासी देवों के सात करोड़ बहत्तर लाख भवनों का उनकी आयु, काय, वैभव, विक्रिया, भोग का तथा अधोलोक का वर्णन होता है। जिसमें मध्यलोक संबंधी असंख्यात द्वीप, समुद्रों का उनमें मेरु, पर्वत, नदी, सरोवर आदि का कर्मभूमि के विदेह क्षेत्रों का, भोगभूमि का, छियानवे अन्तर्द्वीप सम्बंधी मनुष्यों का, कर्मभूमि के भोगभूमि के मनुष्यों का कर्तव्य, आयु, काय, सुख-दुःख का तथा तिर्यंचों का, व्यंतरों के निवास वैभव, परिवार आयु काय सामर्थ्य विक्रिया का वर्णन है। ज्योतिषि देव उनके विमान, वैभव, परिवार, आयु, कायादि का, सूर्य, चंद्रमा, ग्रह, नक्षत्रों का चार क्षेत्र संबंधी संयोग आदि का वर्णन है। जिसमें उर्ध्वलोक के श्रेष्ठ पटलों का, स्वर्ग के अहमिन्द्रों का, इन्द्रादि देवों का वैभव, परिवार, आयु, काय, शक्ति, गति, सुखादि का वर्णन है। इस प्रकार सर्वज्ञ द्वारा प्रत्यक्ष देखे, तीन लोकवर्ती समस्त द्रव्यों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यपनादि समस्त प्रवचन में वर्णन आगम में है। संसार से उद्धार करने वाले रत्नत्रय के स्वरूप व रत्नत्रय प्राप्त होने के उपाय का वर्णन परमागम में ही है। गृहस्थ अवस्था में श्रावक धर्म की जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टचर्या का तथा श्रावकों के व्रतसंयमादि व्यवहार परमार्थरूप प्रवृत्ति का वर्णन प्रवचन से ही जानते हैं।

गृह के त्यागी मुनिराजों के महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुण, चौरासी लाख उत्तर गुण, स्वाध्याय ध्यान, आहार-विहार, सामायिक आदि चारित्र चर्या का धर्मध्यान आदि का सल्लेखना मरण की समस्त चर्या का वर्णन प्रवचन में हैं।

चौदह गुणस्थानों का स्वरूप, चौदह जीव समास, चौदह मार्गणाओं का वर्णन प्रवचन से ही जाना जाता है। जीवों के एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख करोड़ कुल, चौरासी लाख जाति के योनि स्थान प्रवचन से ही जाने जाते हैं। चार अनुयोग, चार शिक्षाव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार गतियों के भेद, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का स्वरूप भगवान के कहे आगम से ही जानते हैं।

बारह भावना, बारह तप, बारह अंग, चौदह पूर्व, चौदह प्रकीर्णकों का स्वरूप आगम से ही जाना जाता है। उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का चक्र इसमें छह छह काल के भेदों में पदार्थों की परिणति के भेदों का स्वरूप आगम से ही जाना जाता है। कुलकर, चक्रवर्ती, तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, इत्यादि की उत्पति, प्रवृत्ति, धर्मतीर्थ का प्रवर्तन, चक्री का साम्राज्य, वासुदेव आदि के वैभव, परिवार, ऐश्वर्य आदि आगम से ही जानते हैं। जीवादि द्रव्यों का प्रभाव आगम से ही जानते है।

आगम की भक्तिपूर्वक सेवा के बिना मनुष्य इसी जन्म में ही पशु के समान है। भगवान सर्वज्ञ, वीतराग देव ने समस्त लोक-अलोक के अनंतानंत द्रव्यों को भूत भविष्य, वर्तमान कालवर्ती पर्यायों सहित

एक समय में युगपत् क्रम रहित हस्त की रेखा समान प्रत्यक्ष जाना, देखा है। उसी सर्वज्ञ कथित समस्त वस्तु के स्वरूप को सातऋद्धि व चार ज्ञान के धारी गणधर देव ने द्वादशांगरूप में रचना की है।

यहाँ ऐसा विशेष जानना, जो देवाधिदेव, परमपूज्य, धर्मतीर्थ के प्रर्वतन करने वाले अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्तवीर्य, अनंतसुख रूप अंतरंग लक्ष्मी, समवशरण आदि बहिरंग लक्ष्मी से मंडित इन्द्रादि असंख्यात देवों के समूह से वंदित, चौतिस अतिशय, आठ प्रातिहार्यादि अनुपम ऋद्धि सहित क्षुधा-तृषादि अठारह दोष रहित, समस्त जीवों के परम उपकारक, लोकालोक अनन्तानंत द्रव्यों के गुण पर्यायों के क्रम रहित युगपत ज्ञान के धारक अनंतशक्ति के धारक, संसार में डूबते हुए प्राणियों को हस्तावलंबन देने वाले समस्त जीवों के दयालु, परमात्मा, परमेश्वर, परमब्रह्म, परमेष्ठी, स्वयंभू, शिव, अजर, अरहंत आदि नामों से प्रसिद्ध, अशरण प्राणियों के परमशरण अंतिम परम औदारिक शरीर में विराजमान गणधर आदि मुनियों द्वारा जिनके चरण वंदनीय हैं। कण्ठ, तालु, ओष्ठ, जिह्वा आदि के हलन चलन रहित, इच्छा बिना अनेक प्राणियों के पुण्य के प्रभाव से उत्पन्न, आर्य-अनार्य सभी देशों के प्राणियों की समझ में आने वाली समस्त पाप की घातक दिव्यध्वनि द्वारा भव्य जीवों के मोहान्धकार का नाश करने वाले चौंसठ चमर ढूराये जाते हुए, तीन छत्र आठ प्रातिहार्य के धारक, रत्नमय सिंहासन पर चार अंगुल अधर विराजमान भगवान सकल पूज्य परम भट्टारक श्री वर्धमान देवाधिदेव ने मोक्षमार्ग को प्रकाशित करने के लिए समस्त पदार्थों का स्वरूप सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा प्रकट किया है। उसी समय निकटवर्ती निर्ग्रन्थ ऋषीश्वरों द्वारा वंदनीय, सात ऋद्धियों से समृद्ध, चार ज्ञान के धारक श्री गौतम गाणधर देव ने कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धियों के प्रभाव से भगवान के द्वारा कहे गये अर्थ को विस्मरण नहीं करते हुए, भगवान के द्वारा कहे गये अर्थ को धारण कर द्वादशांग रूप रचना रची है।

जब चतुर्थ काल के तीन वर्ष आठ माह पंद्रह दिन बाकी रह गये थे तब श्री वर्धमान स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुए। पश्चात् बासठ वर्ष तक गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य, जम्बू स्वामी-इन तीन केवलियों ने केवलज्ञान के द्वारा समस्त प्ररूपणा की।

उसके बाद केवलज्ञान होने का अभाव हो गया। उसके बाद क्रम से विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन,भद्रबाहु-ये पाँच मुनि द्वादशांग के धारक श्रुतकेवली हुए। उनका समय क्रम से कुल एक सौ वर्ष का रहा। उनके समय में केवली भगवान के समान ही पदार्थों का ज्ञान और प्ररूपणा रही।

उसके बाद विशाखाचार्य, प्रोष्ठिलाचार्य, क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिमान, गंगदेव, धर्मसेन-ये ग्यारह परम निर्ग्रन्थ मुनीश्वर दशपूर्वों के धारी क्रम से कुल एक सौ तेरासी वर्ष में हुए। उन्होंने भी यथावत् प्ररूपणा की।

उसके बाद नक्षत्र, जयपाल, पांडुनाम, ध्रुवसेन, कंसाचार्य ये पाँच महामुनि ग्यारह अंग के ज्ञान के पारगामी अनुक्रम से दो सौ बीस वर्ष में हुए उन्होंने भी यथावत् प्ररूपणा की। उसके बाद सुभद्र, यशोभद्र, महाश्य, लोहाचार्य आदि ये पाँच महामुनि एक अंग के ज्ञान के पारगामी अनुक्रम से एक सौ अठारह वर्ष में हुए।

इस प्रकार भगवान महावीर जिनेन्द्र के निवार्ण प्राप्त करने के पश्चात छह सौ तिरासी वर्ष तक अंगों का ज्ञान रहा। उसके पश्चात इस काल के निमित्त से बुद्धि, वीर्य आदि की मंदता हो जाने पर श्री कुंदकुंद आदि अनेक निर्ग्रन्थ वीतरागी मुनि अंग की वस्तुओं के ज्ञानी हुए। उन्हीं की परम्परा में श्री उमास्वामी हुए। ऐसे पाप से भयभीत, ज्ञान विज्ञान सम्पत्र, परमसंयम गुण मंडित, गुरुओं की परिपाटी से श्रुत के अविच्छिन्न अर्थ के धारक, वीतरागियों की परम्परा चली आई।

उनमें श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, अष्टपाहुड़ आदि अनेक ग्रंथ बनाये हैं, जो आज प्रत्यक्ष पढ़े जा रहे हैं। इन ग्रन्थों की विनयपूर्वक आराधना करना प्रवचन भक्ति है।

श्री उमास्वामी ने दस अध्यायों में तत्त्वार्थसूत्र बनाया है। उस तत्त्वार्थसूत्र पर श्री पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि नाम की टीका बनाई है। तत्त्वार्थसूत्र पर ही श्री अकलंकदेव ने सोलह हजार श्लोकों में राजवार्तिक टीका बनाई है। श्री समन्तभद्र स्वामी ने एक सौ पंद्रह श्लोकों में देवागम स्तोत्र बनाया है, उसे आप्तमीमांसा भी कहते हैं। श्री अकलंक देव ने देवागम स्तोत्र पर अष्टशती नाम की टीका बनाई है उसी देवागम अष्टशती पर श्री विद्यानंदि जी ने अष्टसहस्त्री नाम की टीका बनाई। श्री विद्यानंदि स्वामी ने आप्तपरीक्षा नाम का ग्रन्थ बनाया है। श्री माणिक्यनंदि आचार्य ने परीक्षामुख ग्रन्थ बनाया है। परीक्षामुख की बड़ी टीका भी श्री प्रभाचंद आचार्य ने प्रमेयकमलमार्तण्ड नाम से बनाई है। उसी की छोटी टीका श्री अनन्तवीर्य आचार्य ने प्रमेयचंद्रिका नाम से बनाई है। श्री अकलंकदेव आचार्य ने लघीयस्त्रय ग्रन्थ बनाया है उस पर भी श्री प्रभाचंद आचार्य ने सोलह हजार श्लोकों में न्यायकुमुदचन्द्र नाम का ग्रन्थ बनाया है तथा और भी न्याय के कई ग्रन्थ प्रमाणपरीक्षा, प्रमाणनिर्णय, प्रमाणमीमांसा, बालप्रबोधिनी, न्यायदीपिका इत्यादि जिनधर्म के स्तंभ, प्रमाण से द्रव्यों के निर्णय कराने वाले अनेकांत से भरे हुए द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ जयवंत प्रवर्तते हैं।

करणानुयोग के गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसारादि अनेक ग्रन्थ हैं। चरणानुयोग के मूलाचार, आचारसार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, भगवतीआराधना, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, आत्मानुशासन, पद्मन्दिपञ्चविंशतिका, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ज्ञानार्णव इत्यादि अनेक ग्रन्थ हैं। जैनेन्द्र व्याकरण अनेकांत से भरा हुआ है। प्रथमानुयोग के श्री जिनसेनाचार्य कृत आदिपुराण, श्री गुणभद्राचार्यकृत उत्तरपुराण इत्यादि अनेक ग्रन्थ हैं उनको बड़ी भक्ति से पठन करना, श्रवण करना, व्याख्यान करना, वंदना करना, लिखना, शोधना वह सब प्रवचन भक्ति है।

जिसका शास्त्र के अभ्यास में दिन जाता है वह धन्य है। परमागम के अभ्यास बिना जिसका समय जाता है, वह वृथा है। स्वाध्याय बिना शुभ ध्यान नहीं होता है। शास्त्र के अभ्यास बिना पाप से नहीं छूटता है। कषायो की मंदता नहीं होती है। शास्त्र के सेवन बिना संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य उत्पन्न नहीं होता है। श्रुत के सेवन से जगत में मान्यता, उच्चता, उज्ज्वल यश, आदर सत्कार प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान ही परम बांधव है, उत्कृष्ट धन है, परम मित्र हैं। सम्यग्ज्ञान अविनाशी धन है। स्वदेश में, परदेश में, सुख अवस्था में, दुख अवस्था में, आपदा में परम शरण सम्यग्ज्ञान ही है। स्वाधीन अविनाशी धन ज्ञान ही है।

इसलिए शास्त्रों के अर्थ का ही सेवन करो, अपनी आत्मा को नित्य ज्ञान दान ही करो, अपनी संतान को तथा शिष्यों को ज्ञान दान ही करो। ज्ञानदान देने के समान अन्य कोई दान नहीं है। धन तो मद उत्पन्न करता है, विषयों में उलझाता है, दुर्ध्यान कराता है, संसार रूप, अंधकूप में डुबोता है। अतः ज्ञानदान प्रमुख दान है।

जो नित्य एक श्लोक, आधा श्लोक, एक पद, मात्रा का भी अभ्यास करता है वह शास्त्रों के अर्थ का पारगामी हो जाता है। विद्या ही परम देवता है। जो माता-पिता ज्ञानाभ्यास कराते हैं उन्होंने मानों करोड़ों का धन दिया है। जो सम्यग्ज्ञान के दाता गुरु हैं उनके उपकार के समान तीन लोक में कोई दूसरा उपकार नहीं है। जो ज्ञान के देने वाले गुरू के उपकार का लोप करता है उसके समान कृतघ्नी दूसरा पापी नहीं है। अतः प्रवचन भक्ति ही परम कल्याण है। प्रवचन के सेवन बिना मनुष्य पशु समान है। यह प्रवचन भक्ति हजारों दोषों का नाश करने वाली है। इस भक्ति का भक्तिपूर्वक अर्घावतरण करो। इसी से सम्यग्दर्शन की उज्ज्वलता होती है।

द्रव्यश्रुत एक चाबी की तरह है जिससे मोह रूपी ताले को खोला जा सकता है। चाबी मिलने पर ताला खुल ही जाय यह बात नहीं, उस चाबी का प्रयोग यदि दूसरे ताले में करेंगे तो ताला कभी नहीं खुलेगा। आज तक हमने यही किया है अन्यथा कल्याण हो जाता। इसका महत्त्व तो तभी है जब आप इसके सहारे अपनी अलौकिक निधि को प्राप्त कर लें। इस शुद्ध, बुद्ध निरंजन, निराकार, आत्माराम का अनुभव कर लें। दूध में घी है परन्तु घी निकालने के लिए दूध को मथना पड़ेगा। इसी प्रकार भावश्रुत की उपलब्धि के लिए द्रव्यश्रुत की सहायता से मंथन करना होगा। द्रव्यश्रुत रस्सी और मथनी की तरह है। सरस्वती की उपमा दीपक से दी गयी है जो हमारे मार्ग को प्रशस्त करती है। मार्ग की बाधाओं को दिखाती है परन्तु जिसके हाथ में लालटेन(दीपक) है और मद में मदहोश हो तो किसी बाधा से बाधित हो जाये। इसी प्रकार इन्द्रियों के अधीन होकर अथवा कषायों के वशीभूत होने के कारण हम बाधाओं से बाधित हो रहे हैं। जो वचन, कषायों का शमन न कर सकें, वे वचन व्यर्थ हैं। कषायों के शमन से ही भाव श्रुत की उत्पत्ति होती है। अविनाशी जीव के लिए जितना भावश्रुत लाभदायक, कार्यकारी, श्रेयस्कर है शाब्दिक अक्षर ज्ञान नहीं। जैसा कि शिवकुमार मुनि का उदाहरण है-

भेद ज्ञान होते ही शिवकुमार मुनि तपस्या में लग गये और केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष चले गये। प्रत्येक प्राणी को भेद विज्ञान की कला में पारंगत होना चाहिए। भावश्रुत की प्राप्ति के लिए अथक प्रयास करना चाहिए। शरीर में कालिमा और आत्मा में प्रकाश है जिस क्षण यह भेद ज्ञान हो जायेगा उस समय न शरीर की लालसा रहेगी और न भोगों की। मोह भी विलीन और दु:ख भी विलीन हो जायेगा। जिस प्रकार सूर्य के उदित होते ही अंधकार समाप्त हो जाता है। परन्तु आजकल विचारधारा ऐसी हो गयी है कि शरीर अलग और आत्मा अलग। शरीर को खूब खिलाओं, पिलाओ आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, भेद विज्ञान का अर्थ यह लगाया जा रहा है।

पं. बनारसीदास जी कहते हैं कि –

ज्ञान कला जिनके घट जागी, ते जग मांहि सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषै सुख मांही, यह विपरीति संभवै नांही।।

भेद विज्ञान की महिमा बड़ी विचित्र है। आज प्राणियों की दशा उस बुढ़िया के समान है जिसकी सुई खो गई है और सुई पास में पड़ी है परन्तु ढूँढ़ कहीं और रही है। इसी प्रकार वह अनमोल निधि हमारे अन्दर है परन्तु ढूँढ़ हम बाहर रहे हैं।

द्रव्यश्रुत तो ढाल की तरह है और भावश्रुत तलवार की तरह है परन्तु ढाल और तलवार लेकर रण में उतरने वाला योद्धा अगर होश में नहीं हो तो वह उनका प्रयोग नहीं कर पायेगा। रक्षा करने के बजाय घातक बन जायेगा। इसी प्रकार द्रव्यश्रुत से अपनी रक्षा करके प्राणी भावश्रुत में रहने का प्रयास करे, यही कल्याण मार्ग है।

बहुत से लोग कहते हैं कि पंचम काल में तो मुक्ति नहीं होती। ठीक है कदाचित सही है लेकिन द्रव्यमुक्ति भले ही नहीं हो परन्तु भाव मुक्ति तो अवश्य हो सकती है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन, धनादि में जिनका भाव लगा है उनका विमोचन कर दो, तो छुटकारा पा जाओगे उन पदार्थों से जिनको आप पकड़े बैठे हो। अपने परिणामों में उन महान तीर्थंकरों, तपस्वियों के वचनों को जीवन में उतारना ही सच्ची प्रवचन भक्ति है।

एक गाँव में चार अंधे बड़े ही गुणवान और परस्पर में मित्र थे। चारों मित्र काम की तलाश में घूमते हुए एक राज्य में पहुँच गये। राजा ने पूछा, तुम लोग क्या काम कर सकते हो ? तब उन्होंने कहा कि महाराज ! हम चारों में एक अश्व परीक्षक, दूसरा रत्न परीक्षक, तीसरा स्त्री परीक्षक और चौथा पुरुष परीक्षक है। तब राजा ने उनके गुणों को जानकर प्रत्येक को एक सेर आटा, एक छटांक दाल, एक तोला घी और एक तोला मसाला प्रतिदिन देने की आज्ञा दे दी और राज्य की सेवा में रख लिया। अब चारों सूरदास आनन्द मनाते उस देश में रहने लगे।

संयोग से एक जौहरी बहुमूल्य रत्न बेचने आया, तब राजा ने रत्न परीक्षक से रत्नों की परीक्षा करने को कहा। रत्न परीक्षक ने मूल्यांकन के आधार पर रत्नों का बंटवारा कर दिया । राजा ने उससे पूछा कि सत्यता

कैसे आंकी तब उसने कहा जो असली रत्न हैं वे चोट पड़ने पर नहीं टूटेंगे तथा नकली रत्न टूट जायेंगे। परीक्षण किया गया तो सत्य पाने पर राजा ने उस रत्न परीक्षक सूरदास की घी की मात्रा बढ़ा दी।

इसी प्रकार एक घोड़ों का व्यापारी घोड़े बेचने आया तब राजा ने अश्व परीक्षक से घोड़े पहचानने के लिए कहा। परीक्षक ने एक घोड़ा अलग किया और कहा कि यह घोड़ा पानी में प्रवेश करते ही बैठ जायेगा तब उस घोड़े को जल में प्रवेश कराया तो घोड़ा जल में प्रवेश करते ही बैठ गया। राजा ने पूछा तुमने कैसे अनुमान लगाया तो परीक्षक बोला मैंने घोड़े की नाड़ियाँ और अंगों को टटोलकर देखा तो मुझे इसके पेट की एक नस ऐसी मिली जो सामान्य से अधिक मोटी थी तब मैंने अनुमान लगाया कि इतनी मोटी नस तो भैंस की पायी जाती है। इस प्रकार अनुमान लगाया कि इस घोड़े की माँ ने भैंस का दूध पिया है जिसकी गर्मी का अंश इस घोड़े में भी आ गया है। इस प्रकार राजा ने प्रसन्न होकर इस सूरदास की भी घी की मात्रा बढ़ा दी।

कुछ समय राजा ने स्त्री परीक्षक से रानी की परीक्षा करवाई। तब वह बोला हे राजन! तुम्हारी रानी क्षत्राणी नहीं है अर्थात् रानी की माता पिता एक वर्ण के नहीं है अथवा यदि पिता क्षत्रिय है तो माता कोई और है।

तब राजा ने कहा तुमने कैसे जाना? तब सूरदास बोला मैंने उसके चलने, उठने, बैठने की आवाज सुनकर अनुमान लगाया कि इसकी क्रियाएं क्षत्राणी से मेल नहीं खाती। तब राजा रानी के पास पहुँचा और प्रश्न किया कि तुम अपनी वास्तविकता सही -सही ब्यान कर दो इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं तुम्हें मैं कोई दण्ड नहीं दूँगा।

तब रानी ने कहा कि मैंने बांदी की कोख से जन्म लिया है। जिस कन्या से आपका विवाह होना था वह ठीक विवाह के समय मृत्यु को प्राप्त हो गयी तब उसकी मृत्यु की बात छिपाकर आपका विवाह मेरे साथ कर दिया गया। तब राजा ने सारी बात शान्तिपूर्वक सुनी और दरबार में जाकर उस सूरदास की घी की मात्रा भी बढ़ा दी।

अन्त में पुरुष परीक्षक से अपने बारे में पूछा तब वह बोला हे राजन्! आप परीक्षा न करवायें तो अच्छा है। अगर आप नहीं मानते तो जितना मैं बताऊँ उसी पर संतोष कर लेना। वैसे तो मैंने आपका परीक्षण पहले ही कर लिया था।

इसके बाद परीक्षक ने परीक्षा करके कहा कि आपके अन्दर बनियों जैसा स्वभाव है। इतना सुनकर राजा के मन में उथल-पुथल मचने लगी। राजा अपने मन में विचार करने लगा कि सच है अग्नि, जल, नदी, सर्प, सिंह, स्त्री, जुआरी, चोर और जार (पर स्त्रीगामी) आदि कुटिल स्वभाव वालों का क्या विश्वास? यह विचारता राजा राजमाता के पास पहुँचा और बड़ी नम्रता से पूछा कि माता भविष्य बड़ा बलवान है समय की

चपेट मे बड़े-बड़े बलवान, देव, चक्रवर्ती आदि भी आ जाते हैं। यदि इसी प्रकार आप भी किसी चपेट में आ गई हों तो कोई असम्भव नहीं। सच-सच बयान करना कि मेरे स्वभाव में क्षत्रियोचित गुण क्यों नहीं हैं?

राजमाता ने कहा हे पुत्र! एक दिन मैं छत पर बैठी श्रृंगार कर रही थी। उसी समय कल्याणराय सेठ अपनी छत पर बैठा हुआ सुन्दर रागिनी गा रहा था। अचानक उससे मेरी नजर टकरा गई। समय पाकर दुर्भावना ने जन्म लिया और उसी रात्रि तू मेरे गर्भ में आया। हो सकता है इस प्रकार आई दुर्भावना का असर तेरे ऊपर पड़ गया हो। मुझ पर विश्वास करो इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार राजा सभी बातों की जानकारी हासिल कर दरबार में आया और इस पुरुष परीक्षक सूरदास का वेतन भी बढ़ा दिया और चारों सूरदास आनन्द से राजा के दरबार में रहने लगे।

उन चारों ने भली भाँति अपनी विद्याएं ग्रहण कीं थीं, यही कारण रहा कि राजा के परीक्षा करने पर वे खरे उतरे। हमें भी शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, अधूरा नहीं। अधूरा ज्ञान खतरनाक होता है।

बन्धुओ, इस प्रकार मात्र छोटी-छोटी घटनाएं अगर जीवन में परिवर्तन ला सकती हैं तो जिन वाणी माता की भक्ति हमें अवश्य जन्म-मरण रूपी दु:ख से हमेशा-हमेशा के लिए छुटकारा दिला सकती है और जिनवाणी माता की भक्ति ही प्रवचन भक्ति भावना कहलाती है। इसलिए यदि जन्म-जरा-मृत्यु रूपी रोगों से छुटकारा पाना चाहते हो तो जिनवाणी माता की विनयपूर्वक भक्ति करके अपना नर जीवन सफल बनावें।

महामिथ्यात्व के कारण, भटकते जीव अज्ञानी।
मोह से ही विशद व्याकुल, नहीं सुनते हैं जिनवाणी॥
जगा श्रद्धान अंतर में करें जो भक्ति से प्रवचन।
बने उनके लिए पावन, देशना जिन की कल्याणी॥

******

14

आवश्यकापरिहाणि भावना

प्रतिक्रमस्तनूत्सर्गः समता वन्दना स्तुतिः।
स्वाध्यायः पठ्यते यत्र तदावश्यकमुच्यते॥१४॥

प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, समता, वन्दना, स्तुति और स्वाध्याय, छह आवश्यक जहाँ किये जाते हैं उसे आवश्यकापरिहाणि भावना कहते हैं।

नहीं कभी सत् कर्म किया है, जीवन व्यर्थ गया।
भूले हैं कर्त्तव्य स्वयं के, आती बड़ी दया॥
श्रावक के गुण क्या होते हैं, जाने नहीं कभी।
पाप व्यसन जो होते जग में, करते रहे सभी॥
होते क्या कर्त्तव्य हमारे, उनको पाना है।
व्रत संयम से जीवन अपना, हमें सजाना है॥
कर्त्तव्यों के पालन हेतु, भावों से भरना।
आवश्यक परिहार भावना, सम्पूरण करना॥

आवश्यकापरिहाणि भावना, गृहस्थ और श्रमण दोनों को अवश्य भाना चाहिए। यहाँ पर इसी भावना का विचार किया जायेगा। विद्वानों ने कहा है-

भाव धरे समता सब जीव सु, स्तोत्र पढ़े मुख से मनहारी।
कायोत्सर्ग करे मन प्रीत सु, वंदन देव-तणों भव तारी।।
ध्यान धरी मद दूर करी, दोउ बेर करे पड़कम्मन भारी।
ज्ञान कहे मुनि सो धनवन्त जु, दर्शन ज्ञान चरित्र उधारी।।

सभी जीवों पर समता भाव धारण करें और मुख से मन को अच्छा लगने वाले स्तोत्र पढ़ें। मन से भवसागर को पार उतारने वाली देव-वन्दना करे, कायोत्सर्ग करें। अहंकार त्यागकर ध्यान करें। दो बार प्रतिक्रमण करें। ज्ञानी जन कहते हैं कि ऐसे मुनि धन्य हैं, जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को धारण करते हैं।

षट्आवश्यकाल जो साधै, सो ही रत्न-त्रय आराधै।

जो प्रतिदिन छह आवश्यक का पालन करता है, वही रत्नत्रय अर्थात् तीन रत्न (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) की आराधना करता है।

आवश्यकापरिहाणि दो शब्दों से मिलकर बना है। आवश्यक+अपरिहाणि, आवश्यक अर्थात् अवश्य करने योग्य, अपरिहाणि- न छोड़ने योग्य अर्थात् आवश्कापरिहाणि न छोड़ने योग्य आवश्यक। आवश्यक छह हैं जिनकों यथाकाल प्रतिदिन स्वाभाविक क्रम से करते रहना जरूरी होता है। इन आवश्यक कार्यो को समयोचित करने के लिए ज्ञान होना आवश्यक है।

अन्तिम कुलकर ऋषभनाथ ने कर्मभूमि के प्रादुर्भाव होने पर सभी को छह कार्य करने की शिक्षा दी।

(1) असि (2) मसि (3) कृषि (4) वाणिज्य (5) शिल्प और (6) विद्या।

इन छह कार्यो के आधार पर समाज का तीन भागों में विभाजन हुआ।

असि अर्थात् तलवार चलाकर दूसरों की रक्षा करके आजीविका करने वाले क्षत्रिय कहलाये। मसि (लेखन कार्य), कृषि (खेती करना), वाणिज्य (व्यापार करना) द्वारा आजीविका करने वाले वैश्य कहलाये। शिल्प (दस्तकारी अर्थात् हाथ की कारीगरी से वस्तुएँ बनाना) और विद्या (गायन, वाद्य, नृत्य, चित्रकारी तथा नटों के व्यायाम आदि) द्वारा आजीविका करने वाले शूद्र कहलाये।

बाद में भरत चक्रवर्ती ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की।

शूद्र के दो भेद हो गये। (1) जो शिल्प से आजीविका करते थे वे कारू और जो विद्या से आजीविका करने वाले थे वे अकारू कहलाये। स्पृश्य और अस्पृश्य के भेद से भी उनके दो भेद हो गये। ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय ही मुनिधर्म के पात्र बताए गए।

इस प्रकार कर्मभूमि होने पर ऋषभनाथ ने आजीविका को चलाने का उपदेश दिया। इसके अरिरिक्त आत्मकल्याण के लिए उपदेश देते हुए दो धारायें बताई। (1) श्रमण धर्म (2) गृहस्थ धर्म। दोनों के छह-छह आवश्यक बताये जिनके करने से प्राणी मोक्षमार्ग में आगे बढ़ता है।

आइए, हम एक-एक करके उन सारी बातों को समझने की कोशिश करें जिसके माध्यम से जीवन स्वाधीन बनता है, जीवन निर्मल बनता है और जिसके करने में ही जीवन की सार्थकता है। श्रावक और साधु दोनों के लिए दिन भर में छह 'आवश्यकों (इशेन्शियल्स) का पालन करना अनिवार्य है। श्रावक के लिए देवपूजा, गुरुपास्ति, शास्त्र-स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ये छह आवश्यक हैं। साधुजनों के लिए सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, वंदना, स्तुति और कायोत्सर्ग, ऐसे छह आवश्यक कहे गये हैं।

मुनि के छह आवश्यक-

समता सम्हारे थुति उचारे, वन्दना जिनदेव को।
नित करै श्रुति रति, करे प्रतिक्रम तजें तन अहमेव को।।

सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ये मुनि के छह आवश्यक कर्त्तव्य हैं।

सामयिक - देह से भिन्न जो ज्ञानमय ही हैं, ऐसे परमात्म स्वरूप कर्म रहित, चैतन्यमात्र शुद्ध जीव का एकाग्रतापूर्वक ध्यान करने वाले मुनि सर्वोत्कृष्ट निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

निर्विकल्प शुद्ध आत्मा के गुणों में जिनका मन स्थिर नहीं होता है, ऐसे तपस्वी मुनि छह आवश्यक क्रियाओं को अच्छी तरह अंगीकार करें तथा आते हुए अशुभ कर्मो के आस्रव को टाले (रोकें)

प्रथम तो सुन्दर-असुन्दर वस्तु में तथा शुभ-अशुभ कर्म के उदय में रागद्वेष नहीं करो। आहार वसतिकादि के लाभ-अलाभ में समभाव करो। स्तुति-निंदा में, आदर-अनादर में, पाषाण-रत्न में, जीवन-मरण में, शत्रु-मित्र में, सुख-दुख में, श्मशान-महल में, राग-द्वेष में अपने परिणाम समभाव रखो। जो साम्यभाव के धारक हैं वे बाह्य पुद्गलों को अचेतन व अपने से भिन्न तथा अपने आत्म स्वभाव में हानि-वृद्धि के अकर्ता जानकर राग-द्वेषादि विकार रहित रहते हैं उनके समभाव होता है। यही सामयिक है।

सामायिक के छह भेद - शुभ-अशुभ नाम को सुनकर रागद्वेष नहीं करना, वह नाम सामायिक है। कोई स्थापना प्रमाण आदि से सुन्दर है, कोई प्रमाणदि से हीनाधिक होने के कारण असुन्दर है, उनमें रागद्वेष का अभाव, स्थापना सामायिक है। सोना-चाँदी, रत्न-मोती, इत्यादि तथा मिट्टी, लकड़ी, पत्थर, काँटें, राख,धूल इत्यादि में राग द्वेष रहित समभाव देखना, द्रव्य सामायिक है। महल उपवनादिक रमणीक, श्मशानादि, अरमणीक क्षेत्र में राग-द्वेष नहीं करना, क्षेत्र सामायिक है। हिम, शिशिर, बसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद ऋतुओं तथा रात्रि-दिन, शुक्ल पक्ष, कृष्णपक्ष इत्यादि काल में रागद्वेष नहीं करना, काल सामायिक है। सभी जीवों को दुःख नहीं हो ऐसा मैत्री भाव करते हुए अशुभ परिणामों का अभाव करना, भाव सामायिक है। इस प्रकार सामायिक के छह भेद कहे हैं।

स्तवन - नामक आवश्यक में यह चिन्तन करना चाहिए कि कर्मरूप शत्रुओं को जीतने से आपका नाम जिन है। आपको किसी ने नहीं बनाया है तथा आप स्वयं ही अपने स्वरूप में रहते हैं। अतः स्वयम्भू हैं। आप केवलज्ञानरूप नेत्रों द्वारा त्रिकालवर्ती पदार्थो को जानते हो। अतः आप त्रिलोचन हो। आपने मोहरूप अन्धासुर को मार दिया है। अतः आप अन्धकान्तक हो, आपने आठ कर्मो में से चार घातिया कर्मों रूप आधे बैरियों का नाश करके ही अद्वितीय ईश्वरपना पाया है। अतः आप अर्द्धनारीश्वर हैं। आप शिव पद अर्थात् निर्वाण पद में विराजमान हैं। अतः आप शिव हैं। पापरूप बैरी का आप संहार करते हैं। अतः आप हर हैं। लोक में आप सुख के कर्ता हो। अतः आप शंकर हो। शं अर्थात् परम आनन्द रूप सुख, उसमें आप रहते हैं।

अत: आप शंभू हैं। वृष अर्थात् धर्म उससे आप शोभित हैं। अत: आप वृषभ हैं। जगत के सम्पूर्ण प्राणियों में गुणों के द्वारा आप बड़े हैं। अत: आप जगत्ज्येष्ठ हैं। स्वसुख चैतन्य द्वारा आप सभी जीवों का पालन करते हो। अत: आप कपाली हो। जन्म जरा मरणरूप त्रिपुर का आपने अंत कर दिया है। अत: आप त्रिपुरांतक हो। इस प्रकार से इन्द्र ने आपका एक हजार आठ नामों द्वारा स्तवन किया है। गुणों की अपेक्षा आपके अनन्त नाम है। इस प्रकार भावों में चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का चिन्तन करके स्तवन करना, वह स्तवन नाम का आवश्यक है।

वंदना - चौबीस तीर्थंकरों में से किसी एक तीर्थंकर तथा अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु में से किसी एक को मुख्यकर स्तुति करना, वंदना आवश्यक है।

प्रतिक्रमण - सम्पूर्ण दिन में प्रमाद के वश होकर, कषायों के वश होकर, विषयों में रागीद्वेषी होकर, किसी एकेन्द्रिय जीव का घात किया हो, निरर्थक प्रवर्तन किया हो, सदोष भोजन किया हो, किसी जीव के प्राणों को कष्ट पहुँचाया हो, कर्कश-कठोर-मिथ्या वचन कहा हो, किसी की निंदा, बदनामी की हो, अपनी प्रशंसा की हो, स्त्री कथा, भोजन कथा, राज्य कथा की हो, अदत्तधन ग्रहण किया हो, पर के धन में लालसा की हो, ये सब खोटे पाप हैं, बंध के कारण हैं। अत: अब ऐसे पापरूप परिणामों से भगवान पंच परमगुरु हमारी रक्षा करें। ऐसे परिणाम मिथ्या होवे, पंच परमेष्ठी के प्रसाद से हमारे पापरूप परिणाम नहीं होवे ऐसे भावों की शुद्धता के लिए पंचनमस्कार मंत्र की नौ बार जाप करना चाहिए।

इस प्रकार सम्पूर्ण दिन की प्रवृत्ति को संध्याकाल चिंतन करके पाप परिणामों की निंदा करना दैवसिक प्रतिक्रमण है। रात्रि सम्बन्धी पापों को दूर करने के लिए प्रभात में प्रतिक्रमण करना रात्रिक प्रतिक्रमण है। मार्ग में चलने में दोष लग गया हो उसकी शुद्धि के लिए जो प्रतिक्रमण है, वह ईर्यापथिक प्रतिक्रमण है। एक पखवाड़े के दोषों के निवारण के लिए पाक्षिक प्रतिक्रमण है। एक वर्ष के दोषों के लिए सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है। समस्त पर्याय-जीवन भर के दोषों के निराकरण के लिए अंत्यसन्यास मरण के पहले जो प्रतिक्रमण है, वह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। ऐसा सात प्रकार का प्रतिक्रमण है।

जब सौ-पचास रूपये का व्यापार करने वाला भी शाम को लाभ-हानि देखता है तो इस मनुष्य जन्म की, जिसकी एक-एक घड़ी करोड़ों धन से भी दुर्लभ है, चली जाने के बाद मिलती नहीं है। उसका विचार भी अवश्य करने योग्य है। आज मेरा परमेष्ठी की पूजन में, स्तवन में कितना समय गया स्वाध्याय में, पंच परमगुरु की जाप में, शास्त्र श्रवण में, तत्त्वार्थ की चर्चा में, धर्मात्मा की वैयावृत्ति में कितना समय गया। घर के आरम्भ में, कषाय में, विकथा करने में, विसंवाद में, भोजनादि में, इन्द्रियों के विषयों में, प्रसाद में, निद्रा में, शरीर के संस्कार में, हिंसादि पाँच पापों में कितना काल गया? इस प्रकार विचार कर पाप में बहुत प्रवृत्ति हुई तो अपने को धिक्कार देकर पाप बंध के कारणों को घटाकर, धर्म कार्य में आत्मा को युक्त करना योग्य है। पंचम काल

में प्रतिक्रमण ही परमागम में धर्म कहा है। आत्मा के हित-अहित के विचार में निरन्तर उद्यमी रहना योग्य है। यह प्रतिक्रमण आत्मा को सावधान करने वाला तथा पूर्व में किये पापों की निर्जरा करने वाला है।

प्रत्याख्यान - आगामी काल में पाप का आस्रव रोकने के लिए पापों का त्याग करना कि मैं भविष्य में ऐसा पाप मन-वचन-काय से नहीं करूँगा, वह प्रत्याख्यान नाम का आवश्यक है, जो सुगति का कारण है।

प्रत्याख्यान के छह भेद - अयोग्य पाप के कारण जो नाम है उनके उच्चारण करने का त्याग कर देना, नाम प्रत्याख्यान है। अयोग्य मिथ्यात्वादि में प्रवर्तन कराने वाली स्थापना करने का त्याग करना, स्थापना प्रत्याख्यान है। पापबंध के कारण सदोष द्रव्य व तप के निमित्त निर्दोष द्रव्य का भी मन-वचन-काय से त्याग कर देना, द्रव्य प्रत्याख्यान है। असंयम का कारण क्षेत्र का त्याग कर देना क्षेत्र प्रत्याख्यान है। असंयम का कारण काल का त्याग कर देना वह काल प्रत्याख्यान है। मिथ्यात्व, असंयम, कषायादि का त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है। इस प्रकार प्रत्याख्यान के छह भेद कहे हैं।

कायोत्सर्ग - चार अंगुल के अन्तर से दोनों पैर बराबर कर खड़े होकर दोनों हाथों को नीचे की ओर लम्बे लटकाकर, देह से ममता छोड़कर, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, देह से भिन्न, शुद्ध आत्मा की भावना करना कायोत्सर्ग है। निश्चल पद्मासन से तथा खड़े होकर भी कायोत्सर्ग किया जा सकता है। दोनों ही अवस्थाओं में शुद्ध ध्यान के अवलम्बन से ही सफल कायोत्सर्ग होता है।

कायोत्सर्ग के छह भेद - अयोग्य पाप के कारण जो हैं उनके उच्चारण करने का त्याग कर देना तथा कठोर कटुक नामादि से उत्पन्न दोष को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग करना नाम कायोत्सर्ग है। पापरूप स्थापना के द्वारा आए अतिचार को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग करना, स्थापना कायोत्सर्ग है। सदोष द्रव्यों के सेवन से तथा सदोष क्षेत्र, काल कायोत्सर्ग है। मिथ्यात्व, असंयम आदि भावों द्वारा किये दोष दूर करने के लिए कायोत्सर्ग करना, भाव कायोत्सर्ग है। इस प्रकार मुनियों के कायोत्सर्ग के छह भेद हैं।

ये छह आवश्यक परम धर्मरूप हैं। इनकी पूजा करके पुष्पों की अंजुलि क्षेपना, अर्घ उतारना। इन छह आवश्यकों के परमागम में छह-छह भेद कहे हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये छह प्रकार से जानना।

स्तवन के छह भेद - चौबीस तीर्थंकरों का अर्थ सहित एक हजार आठ नामों द्वारा स्तवन करना, नाम स्तवन है। तीर्थंकरों के, अर्हन्तों के, अनेक कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिबिम्बों का स्तवन स्थापना स्तवन है। समवशरण में स्थित अर्हन्तों की देह, प्रभा, प्रातिहार्य आदि सहित का स्तवन, द्रव्य स्तवन है। कैलाश, सम्मेदाचल, ऊर्जयन्त, (गिरनार) पावापुर, चंपापुर आदि निर्वाण क्षेत्रों का तथा समवशरण में धर्मोपदेश के क्षेत्र का स्तवन, क्षेत्र स्तवन है। गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण कल्याण के काल का स्तवन है। केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्ट्य भावों का स्तवन भाव स्तवन है। इस प्रकार स्तवन के छह भेद हैं।

वन्दना के छह भेद - तीर्थंकर व सिद्ध तथा आचार्य, उपाध्याय, साधु इनमें एक-एक का नाम उच्चारण करके वन्दना करना नामवंदना है। अरहन्त, सिद्ध आदि में एक-एक के प्रतिबिम्ब आदि की वन्दना करना स्थापना वंदना है। अर्हंतादि में उनके शरीर की वंदना करना, द्रव्य वन्दना है। तीर्थंकर के, सिद्ध के, आचार्य के, उपाध्याय के, साधु के, आत्मा के, गुणों की वंदना करना भाव वंदना है। ये वंदना के छह भेद हैं।

प्रतिक्रमण के छह भेद - नाम के अयोग्य उच्चारण में कृत, कारित, अनुमोदनारूप मन, वचन, काय से उत्पन्न दोष का निवारण करने के लिए प्रतिक्रमण करना, नाम प्रतिक्रमण है। किसी शुभ-अशुभ स्थापना के निमित्त से मन-वचन-काय से उत्पन्न दोष से आत्मा को निवृत्त करना, स्थापना प्रतिक्रमण है। आहार, पुस्तक, औषधि आदि के निमित्त से मन-वचन-काय से उत्पन्न दोष के निवारण के लिए प्रतिक्रमण करना द्रव्य प्रतिक्रमण है। किसी क्षेत्र में गमन करना क्षेत्र प्रतिक्रमण है। दिन, रात्रि, पक्ष, ऋतु, शीत, उष्ण, वर्षा काल के निमित्त से उत्पन्न अतिचार को दूर करने के लिए प्रतिक्ररण करना भाव प्रतिक्रमण है। इस प्रकार प्रतिक्रमण के भेद कहे हैं।

गृहस्थ के छह आवश्यक -

देवपूजा गुरुपास्ति, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने-दिने॥

(1) देवपूजा (2) गुरु भक्ति (3) स्वाध्याय (4) संयम (5) तप और (6) दान ये गृहस्थ के छह आवश्यक कर्त्तव्य हैं।

1. देवपूजा - जो श्रावक तीर्थंकर भगवान की पूजा करता है और शक्ति अनुसार दान करता है वह श्रावक है, वही मोक्षमार्ग में लगा हुआ है।

श्रावक के आवश्यकों में 'देवपूजा' सबसे पहले है। श्रावक के जीवन में दिन की शुरुआत जिनदर्शन व पूजन से होनी चाहिए, बाकी काम बाद में। आत्मध्यान में लीन भगवान की वीतराग, निर्विकार और शान्त मुद्रा का दर्शन करने से हमारा मन पवित्र और शान्त हो जाता है। मन्दिर एक ऐसा पवित्र स्थान है जहाँ बैठकर हम भगवान की उपस्थिति का अहसास करते हैं। जहाँ बैठकर हम अपने भीतर सोई हुई भगवान बनने की सामर्थ्य को प्रकट करने का मन बना सकते हैं। मन्दिर तो नदी के घाट की तरह हैं जहाँ बैठकर हम अपनी मलिनताओं को धो लेते हैं। साफ-सुथरे और उज्ज्वल हो जाते हैं। 'दर्शन' के बारे में कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने लिखा है कि बचपन में हम माँ का हाथ पकड़कर जैसे नदी में स्नान करने का आनन्द लेते हैं ऐसा ही है भगवान की मूर्ति का दर्शन। हम भगवान की मूर्ति का दर्शन करते हैं तो मानो माँ का हाथ पकड़कर गंगा-स्नान करते है।

हमारे भीतर इस नश्वर देह में चेतना की धारा मानो नदी के प्रवाह की तरह निरन्तर बह रही है, पर हम अपनी देह के सुख और बाहर फैली सुख की सामग्री में ही डूबे रहते हैं। चेतना की निर्मलता का आनन्द ही नहीं ले पाते। जब हम अपने मन को बाहर की मौलिकता से हटाकर भगवान की मूर्ति में स्थिर करते हैं तब चेतना की निर्मलता का जरा-सा अहसास हो पाता है। यही तो दर्शन है और दर्शन की उपलब्धि भी है। दर्शन करने से मन में जितनी निर्मलता आती है उतने ही खोटे कर्मों की, अपनी मलिनता दूर होती है। आचार्य भगवन्तों ने लिखा है कि जिनबिम्ब के दर्शन करने मात्र से हमारे आत्मा से चिपके हुए निधत्ति और निकाचित कर्म भी झर जाते हैं। निधत्ति व निकाचित कोई अलग से कर्म नहीं होते, असल में हमारे ही परिणामों के द्वारा कुछ कर्म-प्रकृतियाँ इतनी प्रगाढ़ रूप से आत्मा के साथ बँध जाती हैं कि उत्कर्षण, अपकर्षण या संक्रमण आदि करना संभव नहीं हो पाता, ऐसे कर्म तो नियम से उदय में आकर अपना फल चखाते हैं। उन्हें ही निधत्ति व निकाचित कर्म कहते हैं। ऐसे कर्मों का क्षय या समाप्ति भी जिनबिम्ब के दर्शन से सहज में हो जाती है। पहले तो घर के बड़े-बूढ़े और माता-पिता भी बच्चों से, दर्शन करने जाने के बाद ही दूध-चाय मिलेगी, ऐसा कहकर उन्हें मन्दिर भेजते थे। शायद यही भाव मन में रहता होगा कि ये जिनबिम्ब का दर्शन करेंगे तो इनके कर्म सहज ही कट जाएँगे। कैसी सद्भावना मन में रहती थी, कैसा कल्याण का भाव रहता था, संस्कार डालने का भाव रहता था। अब तो सब बदल गया। क्या कहें? भौतिकता का इतना प्रभाव है कि ये सब बातें रूचिकर नहीं लगतीं। आप ही बताओ भैया। कैसी दशा हो गई हमारी कि हमें अपने कल्याण की बात अच्छी नहीं लगती, बल्कि कष्टप्रद जान पड़ती है।

अपनी रुचि जाग्रत करनी चाहिए और रुचिपूर्वक जिनदर्शन और पूजन करनी चाहिए। यह हमारा कर्त्तव्य है। देखो, हम मन्दिर में मात्र मूर्ति की पूजा नहीं करते, हम तो मूर्ति का आलम्बन लेकर उन मूर्तिमान की पूजा करते हैं जो हमारे आदर्श हैं, जो आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं। मूर्ति के दर्शन-वंदन और पूजन से हमें भी आदर्श बनने की प्रेरणा मिलती है। अपने आदर्श की परम वीतराग छवि हमारे मन पर अंकित हो जाती है जो निरन्तर हमें वीतरागता की प्रेरणा देती रहती है। हमारी मलिनता को हटाती है। आचार्य भगवन्तों ने लिखा कि श्रावक के दिन भर के पाप कर्मों को धोने का सहज, सरल उपाय जिनेन्द्र भगवान की पूजा ही है। स्वाध्याय करने बैठों, माला फेरने या जप करने बैठो, तो ज्यादा देर नहीं बैठ सकते, पर यदि मिल जुलकर पूजा करो तो समय का पता ही नहीं लगता। तो पूजा, धर्मध्यान करने का आसान उपाय है।

भगवान की पूजा और अभिषेक दोनों ही भगवान के निकट आने के उपाय है। भगवान के निकट आने का मतलब वीतरागता के निकट आने से है। श्रावक के द्वारा पूजा और अभिषेक करने की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। अकृत्रिम जिनालयों में तो देवों के द्वारा पूजा और अभिषेक निरन्तर चलता रहता है। कई लोग कहने लगे हैं कि अपन ने पूजा अभिषेक की पद्धति की नकल औरों की देखा-देखी कर ली है। भैया,

ऐसा मत कहो। अपन ने किसी की नकल नहीं करी। अपन तो पूजा अभिषेक पर अलग से किसी दिन विस्तार से चर्चा करेंगे। अपन अभी तो ज्यादा बहस में न पड़कर पूजा की महिमा पर विचार कर लेवें और जल्दी से अपने जीवन में यथाशक्ति पूजा करने का भाव बना लेवें, इतना ही पर्याप्त है।

पूजा की महिमा बहुत है। पूजा विकारी-भावों से मुक्त होने की प्रक्रिया है। यह व्यर्थ को हटाकर सारभूत तत्त्व को ग्रहण करने की प्रक्रिया है। पूजा हमारी आंतरिक पवित्रता को उद्घाटित करने का एक अनुष्ठान है। पूजा करते समय व्यक्ति पाँच पापों से विमुख होकर पंचपरमेष्ठी के गुणगान में लीन हो जाता है इसलिए इसको 'सामायिक' कहा गया है। पूजा करते समय हम एकाग्रचित होकर पंचपरमेष्ठी वाचक पदों (मंत्रों) के माध्यम से भगवान के स्वरूप का स्मरण करते हैं इसलिए पूजा को स्वाध्याय भी कहा गया है। बहुत-सी विशेषताएँ हैं पूजा की। इसलिए श्रावक का मन धर्मध्यान में लगाए रखने और उसे अशुभ प्रवृत्ति से बचाए रखने के लिए पूजा बड़ी उपकारी है।

श्रावक को आरोग्य, इन्द्रियों के भोग, उपभोग की सामग्री की तृष्णा के कारण असि, मसि, कृषि, वाणिज्य (व्यापार) आदि जीविका के साधनों में प्रयत्न करता रहता है तथा भोज्य सामग्री तैयार करने में एवं गृह को शुद्ध रखने में उसे चक्की, चूल्हा, ऊखल, मार्जनी आदि का आरम्भ करना पड़ता है। इस आरम्भ जनित पाप की शुद्धि, जिनपूजन और पात्रदान से हो जाती है। इसलिए जो श्रावक जिनपूजन, पात्रदान एवं गुरुभक्ति करता है, वह श्रावक अपने आरंभ दोषों से उत्पन्न हुए पापों की शुद्धि करके पुण्यबंध को प्राप्त करता है, इसलिए वह प्रशंसनीय धर्मात्मा है एवं जो जिनेन्द्रभक्ति और पात्रदान किये बिना भोजन करता है, वह पाप रूपी अंधेरे को ही खाता है, क्योंकि उसके पाप की शुद्धि कदापि नहीं हो सकती।

2. गुरुपास्ति - पुण्य योग से मनुष्य भव को पाकर शमत्व को प्राप्त होकर और भोगों को रोग तुल्य जानकर तथा वन में जाकर समस्त परिग्रह से रहित होकर, जो यतीश्वर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में स्थित होते हैं, जो कि वचनागोचर गुणों सहित हैं, उन मुनियों की स्तुति करना गुरुपास्ति है?

वैसे तो लोक व्यवहार में माता-पिता और शिक्षक को गुरु माना जाता है। पर मोक्षमार्ग में आचार्य, उपाध्याय और साधु-ये तीनों गुरु कहलाते हैं। अपने यहाँ गुरुता, महानता या पूज्यता, वीतरागता के होने पर ही आती है। वीतरागता कसौटी है पूज्यता की। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने गुरु का स्वरूप बताते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है-

"विषयाशावशातीतो, निरारम्भो परिग्रहः। ज्ञान ध्यान तपोरक्तः, तपस्वी सः प्रशस्यते॥"

जो विषयों (भौतिक सुखों) की आशा के वशीभूत नहीं होते हैं, जो पाँच-पापों से विरक्त हैं या सारे सांसारिक पाप कार्यों से विरक्त रहते हैं, जो अपरिग्रही हैं और सदा ज्ञान, ध्यान व तप में लीन रहते हैं, ऐसे गुरु प्रशंसनीय हैं।

ऐसे गुरुजनों की उपासना करना गुरुपास्ति कहलाता है। उपासना के अन्तर्गत बहुत सारी बातें आ जाती हैं। आराधना, पूजा, वंदना, सेवा आदि सभी इसी में सम्मिलित हैं। वैसे उपासना का अर्थ होता है निकटता (नियरनेस या प्रॉक्सीमिटी)। गुरुजनों के सदा निकट रहना। निकट रहने का मतलब यह नहीं है कि हमेशा उनके पास बैठे रहो। अपने अंतरंग में उन्हें अपने निकट महसूस करना ही सच्ची निकटता है। जब हम लोगों को पहली बार हमारे आचार्य महाराज ने धर्म-प्रभावना के लिए भेजा तो हम बड़े दु:खी हुए। अपने श्रीगुरु के चरणों से दूर जाने की कल्पना भी हमें दु:खदायी थी। आचार्य महाराज ने अपने पास बैठाकर समझाया कि देखो, जो हमारी आज्ञा में है वह हमारे निकट, हमारे हृदय में है, भले ही शरीर से दूर भी क्यों न हो और जो हमारी आज्ञा में नहीं है वह हमारे समीप रहकर भी हमसे बहुत दूर है। दिन भर हमारा काम करने से या हमारे पास बैठे रहने से वह देखने में तो नजदीक नजर आता है किंतु वास्तविकता में वह बहुत दूर है। हमारा मन स्थिर हो गया, प्रसन्न हो गया। हम गुरु की आज्ञा में उनके बताए अनुसार चलेंगे तो यही उनसे निकटता है। गुरुजनों से ऐसी निकटता सदा बनाए रखना भी श्रावक का कर्त्तव्य है।

3. स्वाध्याय - भगवान तीर्थंकर अरहन्त के द्वारा कहे गये चार अनुयोगों-प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के शास्त्रों को यथार्थ रूप से पढ़ना और पढ़ाने का नाम स्वाध्याय है। काल शुद्धि पूर्वक शास्त्रों का अध्ययन करने या कराने का नाम स्वाध्याय है।

4. संयम - जिस शक्ति के द्वारा पाँचों इन्द्रियों एवं छठे मन की प्रवृति को रोका जाये उसे संयम कहते हैं। हिरण, हस्ति, पतंगा, भ्रमर और मछली क्रम से केवल कर्ण, स्पर्शन, नेत्र, नासिका और जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत है, वह कैसे न मारा जावे? अवश्य मारा जायेगा।

5. तप - जिसके द्वारा दु:ख रूप संसार छूट जावे एवं जो मोह रूपी अंधकार को दूर करे उसे तप कहते हैं। वह तप निर्मल, अनन्त सुख का प्रधान कारण है और दु:ख रूप अग्नि के लिए मेघ के समान है। उस तप के जिनेन्द्र भगवान ने बाह्य और अभ्यन्तर भेद से दो प्रकार और प्रत्येक के छह-छह भेद बताये हैं।

6. दान - जिससे स्व पर का कल्याण होता है उसे दान कहते हैं। दान चार प्रकार का होता है।

1. ज्ञानदान - जिस प्रकार से जीव की ज्ञान वृद्धि हो ऐसे कार्य करने को तथा उसके साधनों को जुटाने को ज्ञान दान कहते हैं। विद्या पढ़ाना, विद्यालय खोलना, पुस्तकें देना, छात्रवृत्ति देकर छात्रों का उत्साह बढ़ाना आदि सभी ज्ञानदान हैं। मंदिरों में तथा मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाओं को शास्त्र दान देना केवलज्ञान का कारण होता है। इसमें कौण्डेश नाम का ग्वाला प्रसिद्ध हुआ।

2. अभयदान - जिस कारण से जीव का भय दूर हो जावे ऐसे कारणों का योग करना अभयदान अर्थात् दूसरों को भय से बचाने का नाम अभय है। एकेन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय तक की दया पालना अभयदान है।

3. आहारदान – उत्तम योग्य पात्रों को दान देकर अर्थात् आहार देकर उनकी क्षुधा की निवृत्ति करने का नाम आहारदान है।

4. औषधिदान – मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविकाओं को शुद्ध औषधिदान करना, औषधालय खुलवाना, जिससे अन्य प्राणियों के रोग दूर होकर स्वस्थता प्राप्त हो, ऐसे साधन जुटाने का नाम औषधिदान है इससे निरोग शरीर प्राप्त होता है। इन चार दानों को करना गृहस्थ का पहला कर्त्तव्य है।

यह जीवन योग साधना के लिए मिला है, भोग के लिए नहीं। श्रावक गृहस्थावस्था में गृहस्थ के छह आवश्यक मन, वचन, काय से पालन करता है तो उसके भावों में विशुद्धि और निर्मलता आती है, जिससे वह कषायों का शमन कर सम्यक्त्व उत्पन्न करता है। सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद भावों की विशुद्धि और बढ़ती है। अणुव्रत धारण कर श्रावक मुनिधर्म अंगीकार करता है और मुनि के छह आवश्यक नौ कोटि (समरंभ, समारम्भ, आरम्भ, मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना) से पालन कर मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार भावों में विशुद्धि को बढ़ाते हुए छह आवश्यकों का पालन करते हुए मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ना आवश्यकापरिहाणि भावना होती है। नर पर्याय का मिलना ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार हाथ में आया रत्न समुद्र में गिर जाय और उसका फिर प्राप्त होना। इस तरह कठिनाई से प्राप्त नर पर्याय को भोगों में व्यतीत कर दिया तो क्या होगा? इस पर आप स्वयं विचार कीजिए।

बादशाह अकबर के दरबार की बात है। एक व्यक्ति आया, उसने सबसे प्रश्न किया कि 27 में से 10 घटाने पर क्या बचेगा? सबने उत्तर दिया कि 17 बचेंगे परन्तु बीरबल ने उत्तर दिया कि कुछ नहीं बचेगा। सबको आश्चर्य हुआ कि बीरबल को जोड़-घटाना भी नहीं आता। फिर प्रश्न हुआ कि कैसे? तब बीरबल बोला कि नक्षत्र 27 होते हैं और उनमें 10 नक्षत्र ऐसे होते हैं जिनको अगर निकाल दिया जाय तो फसल होगी ही नहीं, भले ही पौधे बड़े हो जायें और बाकी 17 नक्षत्रों में जो पानी बरसेगा वह फसल को नष्ट कर देगा और अनाज का एक भी दाना घर नहीं जा पायेगा। अकाल की स्थिति बन जायेगी। इसी प्रकार अगर त्रस पर्याय में से मनुष्य भव को निकाल दिया जाय तो बाकी भव शून्य के समान हैं उनमें जीव अपना कल्याण नहीं कर सकता।

भोगभूमि का मनुष्य बनकर भी कल्याण नहीं है क्योंकि वहाँ भी जीवन भोगों में व्यतीत हो जाता है। जबकि उत्तम भोगभूमि में तीन पल्य, मध्यम में दो पल्य तथा जघन्य भोगभूमि में एक पल्य का समय मिलता है वह सारा समय भोगों में ही व्यतीत होता है। एक सिर्फ कर्मभूमि ही ऐसी है जिसमें भोगों का अभाव हो सकता है और योग साधना करके जीव अपना कल्याण कर सकता है। वृषभनाथ से लेकर महावीर स्वामी तक सभी 24 तीर्थंकरों ने यही किया। भोगों को छोड़कर योग को अपनाया। छह आवश्यक कार्य करके दिखाये और अपना जीवन सफल बनाया। परन्तु अगर हमने अपनी प्रकृति कुत्ते की दुम जैसी बना ली तो तीन काल में तीन

लोक की कोई भी शक्ति हमारे कल्याण के मार्ग में सहायक नहीं हो सकती अर्थात् हम आत्मा का कल्याण नहीं कर सकते। नर पर्याय को व्यर्थ गँवाकर वापस निगोद की यात्रा करनी पड़ेगी।

काल अनन्त निगोद मंझार, बीत्यो एकेन्द्रिय तन धार।
एक श्वास में अठ दस बार, जन्म्यो मर्‌यो भर्‌यो दुख भार।

तो बन्धुओ, निगोद आदि के कष्टों का विचार कर मानव जीवन को व्यर्थ मत जाने दो, आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन कर अपने भावों की विशुद्धि को बढ़ाओं और अपना जीवन सार्थक करो, तभी यह आवश्यक अपरिहाणि भावना की सार्थकता सिद्ध होगी।

आवश्यक के साथ 'अपरिहाणि' शब्द जुड़ा है। यह शब्द इसलिए जोड़ा गया है कि यथायोग्य आवश्यकों का पालन प्रतिदिन करना है, निर्धारित समय पर करना है और एडर्वस सिचुएशन (विपरीत परिस्थिति) निर्मित होने पर भी अपने आवश्यक को नहीं छोड़ना है। सो ठीक ही है, जो ईमानदारी से अपने आवश्यकों का दिन-भर मेहनत करके पालन करता है उसके सारे आवश्यक, निर्मल या पावन ही होते हैं। 'आवश्यक' का एक अर्थ और है जो 'अवश' या अवशी' के द्वारा किया गया हो उसे आवश्यक कहते हैं। जो अपने इन्द्रिय और मन के 'वश' में नहीं है यानी इन्द्रिय व मन को जिसने 'वश' में कर लिया है। उसे 'अवश' कहते हैं। आचार्य महाराज एक मजेदार उदाहरण सुनाते हैं कि एक गाँव में किसी के घर नयी बहू आयी थी। वह कम पढ़ी-लिखी थी। एक दिन सासूजी ने कहा की बहू तुम जाकर पड़ौसी के वहाँ सांत्वना दे आओ, उनके यहाँ कोई मर गया है। बहू पड़ौसी के घर जाकर न रोई, न दुःख व्यक्त किया, मात्र सांत्वना देकर आ गई। सासू ने समझाया कि बहू वहाँ तो रोना चाहिए था, आगे से ध्यान रखना। दो-चार दिन में फिर किसी के घर जाने का अवसर आया तो सासू ने बहू से कहा कि जाओ उनके यहाँ बधाई देकर आओं बहू गई और जोर-जोर से रोने लगी और कहा कि आपको बधाई। सारे लोग बहू की अज्ञानता पर हँसने लगे। पर वह क्या करे, वह तो अनपढ़ थी बेचारी। सासू ने फिर समझाया कि बहू ऐसे में तो गीत गाकर खुशी जाहिर करनी चाहिए। तुमने गड़बड़ कर दी। तीसरी बार जब पडौ़सी के यहाँ आग लगी तो बहू जाकर गाना गाने लगी, खुशी जाहिर करने लगी।

आप सारी बात समझ गए। बात इतनी ही है कि जो काम जिस समय करना है उसे नहीं किया जाए तो सब अव्यवस्थित हो जाता है। हमारा जीवन क्यों अव्यवस्थित है? क्यों अस्त-व्यस्त हो जाता है? हम क्यों अपना जीवन अच्छा नहीं बना पाते, अपना कल्याण नहीं कर पाते? सबका एक ही उत्तर है कि हम करने योग्य आवश्यक कार्य समय पर नहीं करते। हर बार चूक जाते हैं। हम 'अवश' नहीं बन पाए, तभी तो हम विवश है। जो अपने इन्द्रिय व मन पर नियंत्रण नहीं रख पाता वही विवश है। विवश होकर संसार में भटकता रहता है। जीवन की आपाधापी में उलझा रहता है। सारा जीवन यूँ ही बीत जाता है। अगर जीवन-यापन करते समय एक छोटी-सी चीज भी कम हो जाए तो हम कितने विवश हो जाते हैं। उस समय हमारी विवशता देखते ही बनती है। सारा ज्ञान, सारी पढ़ाई-लिखाई, सारी समझदारी जाने कहाँ चली जाती है। वह बहू तो बेचारी अनपढ़ थी

इसलिए जैसा कह दिया वही करने के लिए विवश थी पर हम तो पढ़े-लिखे हैं, समझदार हैं। हम अपना कर्त्तव्य समय से नहीं कर पा रहे हैं।

हमें समय रहते सचेत होकर अपने इन्द्रिय व मन की ग्रिप से, नियंत्रण से बाहर निकल आना चाहिए। तभी हम अपने आवश्यक कार्यों को ठीक से कर पाएँगे। इन्द्रिय और मन की पकड़ से बाहर आने का सीधा-सा उपाय है कि हम इन्द्रिय व मन का सदुपयोग करें। जो व्यक्ति इन्द्रिय और मन का सदुपयोग करना सीख लेता है वह व्यक्ति स्वयं ही इन्द्रिय और मन की पकड़ से बाहर निकल जाता है। वह अपने इन्द्रिय और मन को नियंत्रित कर लेता है। इन्द्रिय और मन का सदुपयोग करने का मतलब है उन्हें धर्मध्यान में लगाए रखना। जिसने अपने इन्द्रिय और मन को विषय-भोग में लगा रखा है मानिए वह उनका दुरूपयोग कर रहा है और स्वयं इन्द्रिय व मन के आधीन है। वह इन्द्रिय व मन की पकड़ में है। अपन यदि अपने मन, वाणी और शरीर को स्व-पर कल्याण में लगाते हैं तो यही तो जीवन का सदुपयोग कहलाएगा। स्व-पर कल्याण में लगे हुए मन, वाणी और शरीर अपने आप नियंत्रित हो जाते है। ऐसे आत्म -नियंत्रित (सेल्फ-कंट्रोल्ड) व्यक्ति के द्वारा जो भी किया जाता है वह आवश्यक कहलाता है। ऐसा व्यक्ति अनावश्यक कार्यों में अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करता।

हम विचार करें कि हमारा जीवन सुबह से शाम तक किस महत्वपूर्ण काम में व्यस्त रहता है? क्या अपनी सुख- सुविधा की सामग्री जुटाना महत्त्वपूर्ण है? क्या मात्र दो जून का भोजन कमाने के लिए दौड़-धूप करना, संक्लेश करना, महत्त्वपूर्ण काम है? क्या किसी पद प्रतिष्ठा की होड़ में दौड़ना महत्त्वपूर्ण काम है? ऊँची पढ़ाई, ऊँचा जॉब (नौकरी), आलीशान मकान, परिवार, पद प्रतिष्ठा और ढेर सारा सांसारिक-वैभव पाकर भी क्या हम यह कह सकते हैं कि हमने जीवन में जो महत्त्वपूर्ण था उसे पा लिया? क्या मात्र यह सब पा लेना ही जीवन की सार्थकता है? कभी मन अच्छा हो, थोड़ा-सा आपके पास अपने लिए समय हो और आप अकेले हों तब छाती पर हाथ रखकर जरूर इस बात पर विचार करिएगा? यह बहस का मुद्दा नहीं है। यह अपने इस जीवन का मामला है। बहुत गम्भीरता से, पूरी सावधानी और सजगता से अपने जीवन का निर्णय हमें स्वयं लेना होगा।

सचमुच, जीवन की सार्थकता तो हर परिस्थिति में मन की प्रसन्नता है। वाणी की मृदुता में जीवन की सार्थकता है। वाणी सदा हितकारी हो और मीठी हो तो लगता है जैसे हमने कुछ पा लिया है। शरीर से जितना परोपकार हो सके, जितनी त्याग-तपस्या बन सके, उतनी ही जीवन की सार्थकता है। मेरी दृष्टि में तो स्व-पर कल्याण में ही इस मनुष्य जीवन की सार्थकता है। यही जीवन में महत्त्वपूर्ण है।

वर्णीजी के जीवन की घटना है। वे नैनागिरि तीर्थ पर वंदना करने जा रहे थे। उन दिनों पक्की सड़क नहीं थी। धूल भरे रास्ते में ताँगे से जाना पड़ता था। एक ताँगे में बैठकर वर्णीजी जा रहे थे। रास्ता लम्बा था। ताँगा धीरे-धीरे जा रहा था। वर्णीजी ने सोचा कि गन्तव्य तक पहुँचने में तो देर हो जाएगी, चार पेड़े (मावा की मिठाई) पास में हैं, रास्ते में ही खाकर निवृत्त हो जाना चाहिए,फिर शाम हो जाएगी तो भूखे रहना पड़ेगा। भइया,

ये पुराने जमाने की बात है, अब तो नया जमाना आ गया, दिन-रात सब बराबर हैं, जब चाहे तब खाओं। क्या नये जमाने का मतलब विवेक शून्य होकर जीना है? क्या रात्रि-भोजन करना आधुनिकता की निशानी है? जो भी हो, अपने जीवन का निर्णय सबको स्वयं लेना चाहिए। तो वर्णीजी ने चार में से दो पेड़े निकालकर ताँगे वाले को खाने के लिए बड़े प्यार से दिए और दो स्वयं खा लिए। ताँगे वाला कृतज्ञता से भर गया। अभी थोड़ी ही दूर चले थे कि पैदल जाती हुई चार सवारियाँ मिल गई। वर्णीजी ने बड़े दया-भाव से कहा कि भैया, इन्हें भी बिठा लो। चार सवारियाँ और बैठ गई। उन्होने ताँगे वाले से बार-बार कहना शुरू किया कि जरा जल्दी चलाओ। आप देख रहे हैं इस संसार की दशा। जो थोड़ी देर पहले पैदल जा रहे थे, जिन्हें कृपा करके ताँगे में बैठा लिया अब वही लोग बड़े अधिकारपूर्वक ताँगे वाले को जल्दी चलने के लिए कह रहे हैं। सिर्फ अपना जीवन, अपनी सुख-सुविधा का ही जिन्हें ख्याल है और जिनके जीवन में दूसरे का जरा भी ख्याल नहीं है। दूसरे की सुविधा-असुविधा का जरा भी विचार नहीं है। बताईए, उसका जीवन क्या सार्थक माना जाएगा? कदापि नहीं। ऐसा व्यक्ति अपने जीवन में और चाहे जो भी प्राप्त कर ले लेकिन सच्चा सुख, शान्ति और मुक्ति तो प्राप्त नहीं कर पाएगा।

अचानक तेज़ हवा आई और धूल उड़ने लगी। वर्णीजी को थोड़ी परेशानी महसूस हुई। ताँगे वाले ने ताँगा थोड़ा तेज-रफ्तार से चलाना शुरू कर दिया ताकि धूल कम लगे वर्णीजी को। उन चार सवारियों में से एक व्यक्ति ताँगे वाले से थोड़ा गुस्से में बोल पड़ा कि देखो! इस आदमी (वर्णीजी) के लिए तुमने ताँगे की रफ्तार तेज कर दी और इतनी देर से हम जल्दी चलने की कह रहे थे तो हमारी बात नहीं सुनी। पैसे तो हम भी देंगे। ताँगे वाले की आँखो में आँसू आ गए, उसने हाथ जोड़ लिए और कहा- "आप लोग नाराज न हों। पैसा ही सब कुछ नहीं है। पैसे तो हमें सबसे मिलते हैं। पर इन्होंने (वर्णीजी ने) जो दो पेड़े प्यार से दिए हैं वह कोई नहीं देता।"

बात जरा-सी है पर बहुत महत्त्वपूर्ण है। यही बात जीवन को ऊँचा उठाती है। जीवन को सार्थकता देती है। हम मात्र इन्द्रिय-सुख और मन की इच्छाओं की पूर्ति के लिए जीवन भर दौड़ते रहते हैं। पर कभी पूर्ति नहीं हो पाती। झोंपड़ी में रहो या आलीशान बँगले में, आप बहुमूल्य वस्त्र पहनो या साधारण सी खादी पहनो, इन सबसे ज्यादा फर्क नहीं पड़ता। जीवन की सार्थकता तो स्व-पर कल्याण की भावना भाने में ही है। अपना और प्राणीमात्र का कल्याण चाहने वाला ही तीर्थंकर-पद को पाता है। अपने जीवन को सार्थक करता है।

आवश्यक पालते मुनिवर, साधना नित्य करते हैं।
दोष चारित्र के सारे, पूर्णतः आप हरते हैं॥
अपरिहार्य आप आवश्यक भावना नित्य भाते हैं।
मोक्ष के आप राही बन पुण्य से कोष भरते हैं॥

******

15

सम्यक्प्रभावना भावना

जिन-स्नानं श्रुताख्यानं, गीत-वाद्यं च नर्तनम्।
यत्र प्रवर्तते पूजा सा, सन्मार्गप्रभावना॥१५॥

जिनदेव का अभिषेक, श्रुत का व्याख्यान, गीत, वाद्य तथा नृत्य आदि पूजा जहाँ की जाती है वह सन्मार्ग-प्रभावना है।

सम्यक् दर्शन ज्ञान चरण यह, सम्यक् धर्म कहा।
काल अनादी से यह बन्धू, मोक्ष का मार्ग रहा॥
मोक्ष मार्ग पर आगे चलकर, और चलाना है।
मंजिल को जब तक न पाया, बढ़ते जाना है॥
महिमा अगम है जिन शासन की, कैसे उसे कहें।
संयम तप श्रद्धा भक्ती में, हरपल मगन रहें।
मोक्ष मार्ग औ जैन धर्म की, महिमा जो गाई।
पथ प्रभावना सत् संतों ने, जग में फैलाई॥

मार्गप्रभावना के विषय में पूजन में आया है-

धरम-प्रभाव करै जे ज्ञानी, तिन-शिव-मारग रीति पिछानी।

जो ज्ञानी जन धर्म की प्रभावना करते हैं वे मोक्षमार्ग को भली-भाँति जानते हैं अर्थात् जो धर्ममार्ग की प्रभावना करते हैं वे मोक्षमार्गी होते हैं। जिसके द्वारा खोज की जाये उसे मार्ग कहते हैं। जिस मार्ग द्वारा अनादि से छूटी वस्तु का ज्ञान होता है उस मार्ग की यहाँ पर चर्चा है। धन प्राप्ति का मार्ग तो लौकिक है परन्तु यहाँ जो चर्चा की जायेगी वह रत्नत्रय प्राप्ति का मार्ग है। जिस मार्ग का अनुसरण करने से आत्मा कुन्दन बनती हैं।

वैसे तो आत्मा स्वभाव से शुद्ध होती है परन्तु राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के द्वारा अनादि से मलिन होकर संसार में भटक रही है। परम आगम शरण ग्रहण कर रत्नत्रय को उज्ज्वल करना ही मार्ग प्रभावना श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने की। सम्यक्चारित्र की प्रभावना ऋषभनाथ ने की, उन्होंने छह माह तक योग

धारण किया और उन्हें छह माह तक आहार नहीं मिला। इस प्रकार एक साल तक निराहार रहे। उन्हीं के पुत्र बाहुबलि एक साल तक ध्यान में खड़े रहे, लताएँ चढ़ गयीं, सर्पों ने बांबी बना ली। उन्होंने अपने चरित्र को उज्ज्वल बनाया। इतिहास में उनका नाम अमर हो गया। सेठ सुदर्शन ने शील की महिमा दिखलाई। सीता, मनोरमा एवं द्रौपदी आदि ने शील की महिमा दिखाकर धर्ममार्ग की प्रभावना की। वर्तमान में भी अगर कोई चारित्र का पालन कर धर्ममार्ग पर आगे बढ़ता है तो उससे प्रभावनाएं होती हैं। अगर कोई धर्ममार्ग पर आरूढ़ होकर चारित्र पालन नहीं कर पाता अथवा विपरीत क्रियाएं करता है तो उससे धर्ममार्ग की प्रभावना नहीं होती। आजकल जन्म-दिवस, दीक्षा-दिवस आदि मनाते हैं, गोष्ठियाँ करते हैं, जिसमें एकत्रित होकर विद्वान एक-दूसरे की चापलूसी कर देते हैं और समाज का धन व्यर्थ में व्यय कर देते हैं और कहते हैं कि धर्म की प्रभावना होती है। इस प्रकार प्रभावना नहीं होती। प्रभावना तो अपना आचरण उत्तम बनाने से होती है। रचनात्मक कार्य करने से होती है। गिरतों को उठाने से होती है। गरीबों पर दया करने से होती है। यहाँ सन्मार्ग है, मोक्ष का सत्यार्थ मार्ग है। उसका प्रभाव प्रकट करना, सन्मार्ग प्रभावना है, सन्मार्ग रत्नत्रय है। रत्नत्रय आत्मा का स्वभाव है। उसे मिथ्यात्व, राग द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ ने अनादि से मलिन (विपरीत) कर रखा है। अब परमागम की शरण लेकर हमें मिथ्यात्वादि दोषों को दूर करके रत्नत्रय स्वभाव को उज्ज्वल करना है।

यह मनुष्य जन्म, इन्द्रियों की पूर्णता, ज्ञानशक्ति, परमागम की शरण, साधर्मियों का समागम, रोग रहित अवस्था, क्लेश रहित आजीविका, इत्यादि पुण्यरूप सामग्री प्राप्त करके भी यदि आत्मा को मिथ्यात्व , कषाय, विषयों से नहीं छुड़ाया तो अनन्तानन्त दुखों से भरे संसार समुद्र से निकलना अनन्तकाल में भी नहीं होगा। जो सामग्री आज मिली है वह अनन्तकाल में भी मिलना अतिदुर्लभ है। अन्तरंग-बहिरंग सकल सामग्री पाकर भी यदि आत्मा का प्रभाव प्रकट नहीं करेगा तो काल अचानक आकर समस्त संयोग नष्ट कर देगा। इसलिए अब राग-द्वेष दूर करके जैसे अपना शुद्ध वीतराग स्वरूप अनुभवगोचर हो, उस प्रकार ध्यान स्वाध्याय में तत्पर होना है।

बाह्य प्रवृत्तियों को उज्ज्वल करके मुझे अंतरंग धर्म का प्रभाव प्रकट करके ऐसी मार्ग प्रभावना करना है, जिसे देखकर अनेक जीवों के हृदय में धर्म की महिमा प्रवेश कर जाये। जिनेन्द्र के अभिषेक का उत्सव ऐसा करना, जिसे देखकर हजारों लोग अपने जन्म को उसी प्रकार सफल बनाये जैसे इन्द्रादिक देवों ने अभिषेक करके अपना जन्म सफल किया। जय-जयकार शब्दों द्वारा हमारे स्तवन के उच्चारण से लोग अपने को कृतार्थ मानकर तन-मन से प्रफुल्लित हो जायें।

जिनेन्द्रभक्ति करना - जिनेन्द्र देव की भक्ति, विनय और निश्चल ध्यान से ऐसे पूजन करो जिसे करते हुए देखकर शुद्ध भक्ति के पाठ पढ़ते तथा सुनते हुए हर्ष के अंकुर प्रकट हो जायें। आनन्द हृदय में नहीं समाये बाहर उछलने लग जाये। जिन्हें देखकर मिथ्यादृष्टियों के भी ऐसे परिणाम हो जायें कि अहो ! जैनियों की

भक्ति आश्चर्य रूप है। निर्दोष, उत्तम, उज्ज्वल प्रामाणिक सामग्री, उज्ज्वल सोने-चाँदी, कांसा, पीतल के मनोहार पूजन के बर्तन, भक्ति रस से भरे अर्थ सहित कानों में अमृतरस का सिञ्चन करने वाले शुद्ध अक्षरों का उच्चारण, एकाग्रता से विनय सहित उज्ज्वल द्रव्यों का अर्पण, परमशांत मुद्रारूप वीतराग के प्रतिबिम्ब, प्रातिहार्यों सहित पूजन, स्तवन करना, नमस्कार करना ये सभी धन्य पुरुषों द्वारा ही होता है। धन्य इनकी भक्ति, धन्य इनका जन्म, धन्य इनका मन-वचन-काय और धन्य इनका धन जो निर्वाहक होकर ऐसे सन्मार्ग में लगाते हैं। ऐसा प्रभाव व्याप्त हो जाता है।

भक्ति ही संसार समुद्र में डूबते हुए लोगों को हस्तावलम्बन देने वाली है। हमारे लिए भवभव में जिनेन्द्र की भक्ति ही शरण हो इस प्रकार जिनेन्द्र का नित्य पूजन करना, अष्टाह्निका, षोडशकारण, दशलक्षण व रत्नत्रय पर्वों में सभी पाप के आरम्भ छोड़कर जिनपूजन करना, आनन्द सहित नृत्य करना, कर्णप्रिय वाद्य बजाना तथा स्वरताल, भजनादि सहित जिनेन्द्र के गुणगान करना, ये सभी सन्मार्ग प्रभावना है। जिनके हृदय में सत्यार्थ धर्म निवास करता है, उनसे प्रभावना होती ही है।

शास्त्र प्रवचन की प्रेरणा तथा व्याख्यान का स्वरूप - जिनेन्द्र प्ररूपित चारों अनुयोगों के सिद्धान्तों का ऐसा व्याख्यान करना जिसे सुनने से एकान्त का हठ नष्ट हो जाये, हृदय में अनेकान्त रच जाये, पापों से काँपने लगें, व्यसन छूट जायें, दया रूप धर्म में प्रवर्तन हो जाये, अभक्ष्य भक्षण का त्याग हो जाये, जिसे सुनने से हजारों मनुष्यों का कुदेव, कुगुरु, कुधर्म के आराध्य का त्याग हो जाय तथा वीतराग देव, दयारूप धर्म, आरम्भ, परिग्रह, सहित गुरु के आराध्य में सत् श्रद्धान हो जाये। ऐसा व्याख्यान करना जिसे सुनकर मनुष्य रात्रि भोजन, अयोग्य भोजन, अन्याय के विषय, परधन में राग छोड़कर, व्रतों में, शील में, संयम भाव में, सन्तोष भाव में लीन हो जावे।

ऐसा उपदेश करना जिससे देहादि पर द्रव्यों से भिन्न अपनी आत्मा का अनुभव हो जाये, शरीर में एकत्व बुद्धि छूट जाये, जीव, अजीवादि द्रव्यों का प्रमाण-नय-निक्षेपों के द्वारा निर्णय होकर संशय रहित द्रव्य गुण, पर्यायों का सत्यार्थ स्वरूप प्रकट हो जाये। मिथ्या अहंकार दूर हो जाये ऐसे आगम के व्याख्यान से सन्मार्ग की प्रभावना होती है।

ऐसा घोर तपश्चरण करना जो कायरों से धारण नहीं किया जा सके, उसमें प्रभावना होती है। विषयानुराग छोड़कर निर्वाहक होने से भी आत्मा का प्रभाव प्रकट होता है तथा धर्म का मार्ग चमकता है। तप दुर्गति के मार्ग को नष्ट करने वाला है। तप बिना कामादि विषय, ज्ञान-चारित्र को नष्ट कर देते हैं। तप के प्रभाव से काम का नाश होता है। रसना इन्द्रिय की चपलता नष्ट हो जाती है। लालसा का अभाव होता है। रत्नत्रय की प्रभावना में तप से ही दृढ़ता होती है।

जिनमन्दिर और जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा कराना - जिनेन्द्र देव के प्रतिबिम्ब की प्रतिष्ठा कराना, जिनेन्द्र देव का मन्दिर बनवाना-इनसे सन्मार्ग की प्रभावना होती है। क्योंकि जब तक जिनबिम्ब रहेगा तब तक दर्शन, स्तवन, पूजनादि करके अनेक भव्य जीव पुण्योपार्जन करेंगे। जो जिनमन्दिर बनवायेंगे उन गृहस्थों का ही धन प्राप्त करना सफल होता है। पूजन, रात्रि जागरण, शास्त्रों का व्याख्यान, श्रवण, पठन, जिनेन्द्र का स्तवन, सामायिक, प्रतिक्रमण, अनशनादि तप, नृत्यगान-भजन और उत्सव आदि जिनमन्दिर होने पर ही होते हैं। जिनमन्दिर बिना धर्म का समस्त समागम होता ही नहीं है। इसलिए अधिक क्या लिखे अपने तथा पर के उपकार का मूल जिनबिम्ब प्रतिष्ठा कराना तथा जिनमन्दिर बनवाना है।

धन से आसक्ति घटाने की प्रेरणा - धर्म का उत्कृष्ट मार्ग समस्त परिग्रह छोड़कर वीतरागता अंगीकार करना है, परन्तु जिसके प्रत्याख्यान व अप्रत्याख्यान कषायों का उपशम नहीं हुआ उससे गृह सम्पदा नहीं छोड़ी जाती है।

धन सम्पदा बहुत हो तो जिनका आपने अन्याय से धन लिया हो उनके पास जाकर क्षमा मांगकर उनका धन लौटा देना। यदि आपके पास धन बहुत हो, तो धन के उर्पाजन करने का त्याग करना। तीव्र राग के बढ़ाने वाले इन्द्रियों के विषयों की लालसा छोड़कर स्वरूप की ओर ध्यान देना। जो शेष धन रहे उसमें से अपने मित्र, हितचिन्तक, पुत्री, बहिन में से जो निर्धन रोगी दुखी सम्बन्धी हो तथा अनाथ, विधवा हो उनको यथायोग्य देकर सन्तोष धारण करना। अपने आश्रित सेवकादि व जो समीप में रहने वाले हों उनको यथायोग्य सन्तुष्ट करें। तत्पश्चात् स्त्री को उनका हिस्सा अलग दे देना। पश्चात् जो धन बचे उसे जिनमंदिर बनवाने में, जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा कराने में तथा जिनेन्द्र के धर्म का आधार, जिनसिद्धान्तों को लिखवाने में (छपवाने में) कृपणता छोड़कर उदार मन से पर के उपकार करने की बुद्धि से धन लगाना, प्रभावना है।

बाह्य आचरण में शुद्धता बढ़ाने की प्रेरणा - जो मन्दिर प्रतिष्ठा तो कराये किन्तु अनीति से पराया धन रख ले, अन्याय का धन ग्रहण कर ले तो उसकी समस्त प्रभावना नष्ट हो जाती है। प्रतिष्ठा कराने वाला, मन्दिर बनवाने वाला यदि खोटा व्यवहार करता है, जिनकी हिंसादि महापापों में, अयोग्य निंद्य वचनों में, तीव्र लोभ में प्रबलता है, कुशील है तथा अतिकृपणता करके परिणामों में संक्लेश रूप होकर धन खर्च करता है, उसकी समस्त प्रभावना नष्ट हो जाती है। इसलिए जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा कराने वाले की, जिनमंदिर बनवाने वाले की बाह्य प्रवृत्ति भी शुद्ध होना आवश्यक है। उससे प्रभावना होती है। मन्दिर में शिखर, कलश, घण्टा, कपड़े का चंदोवा, सिंहासन आदि उत्तम उपकरण देना तथा स्वाध्याय में प्रवृत्ति की वृद्धिमूलक कार्यो से होने वाली प्रभावना दुःख का नाश करने वाली होती है।

प्रभावना शुद्ध आचरण द्वारा होती है- जो जिनवचनों का श्रद्धानी होता है, वही धर्म की प्रभावना करता है। जैनियों का गाढ़ प्रेम देखकर अन्य मिथ्यादृष्टियों के हृदय में भी जैन धर्म की बड़ी महिमा आती है। देखो जैनियों का धर्म, ये जैनी प्राण जाने पर भी अभक्ष्य भक्षण नहीं करते हैं। तीव्र रोग वेदना होने पर भी रात्रि में

दवाई, जलादि भी नहीं लेते हैं। धन, अभिमानादि नष्ट होने पर भी असत्य वचनादि नहीं बोलते हैं, महान् आपदा आने पर भी पराये धन में चित्त नहीं लगाते हैं। अपने प्राण जाने पर भी अन्य जीव का घात नहीं करते हैं। इस तरह शील की दृढ़ता, परिग्रह परिमाणता, परम सन्तोष धारण करने से आत्मा तथा सन्मार्ग की प्रभावना होती है।

पद्मपुराण में रावण द्वारा जिनमंदिर बनवाने की महिमा का कथन आया है, परन्तु उससे प्रभावना नहीं हुई, क्योंकि रावण ने वह मन्दिर धन के मद में बनवाया और उसमें सोलह दिन तक ध्यान किया, जो मिथ्यात्व को पोषण करने वाला है। ध्यान बगुला भी करता है, परन्तु वह ध्यान नहीं है क्योंकि मछली पकड़ने के लिए ध्यान, ध्यान नहीं होता। उसी प्रकार विषय भोगों की पूर्ती के लिए किया गया ध्यान, ध्यान नहीं है और वह धर्म की वृद्धि नहीं, ह्रास करता है, जिससे प्रभावना नहीं होती। प्रभावना तो गिद्ध पक्षी ने की। वह जानता था कि रावण से लड़कर अपने प्राणों का हनन करेगा, फिर भी सीता की करुण पुकार सुनकर रावण से लड़ता रहा। उस पक्षी ने मांसाहारी होते हुए भी करुणावश एक दुखियारी को बचाने का संकल्प किया और माया, मिथ्या, निदान शल्य रहित पालन किया और अपने प्राणों की परवाह नहीं की।

किन्तु आज का मानव चाहे गृहस्थ हो अथवा श्रमण सभी पैसे के पीछे भाग रहे हैं। उन्हें न पद की गरिमा का ध्यान है और न ही नीति-अनीति का विचार है। सम्पूर्ण विपरीत क्रियाओं को धर्म मार्ग की प्रभावना का नाम देकर पर्दा डाल रहे हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि ऐसी क्रियाओं से मार्ग की प्रभावना नहीं होती। हाँ उनकी विषय वासना की पूर्ती हो जाती है। आश्चर्य है हम आस्था की ओट में उनका पोषण भी कर रहे हैं। वस्तुतः मार्गप्रभावना सोमशर्मा ने की। एक देश के मंत्री सोमशर्मा ने एक मुनिराज का प्रवचन सुना। मुनिराज ने अपने प्रवचन में अहिंसा का उपदेश दिया। उन्होंने प्रवचन में कहा, कि हिंसा दो प्रकार की होती है द्रव्य-हिंसा और भाव हिंसा। भाव हिंसा प्रधान होती है क्योंकि भाव हिंसा से ही द्रव्य हिंसा होती है। यदि मन में हिंसा के भाव ही नहीं आयेंगे तो किसी के प्राणों का हनन भी नहीं होगा। इस प्रकार हिंसा का व्याख्यान सुनकर सोमशर्मा के भाव दया के बन गये और उसने उन मुनिराज से भाव हिंसा न करने का नियम ले लिया। फलस्वरूप उन्होंने काष्ठ की तलवार मात्र दिखाने के लिए रखनी शुरू कर दी। एक दिन मंत्री के खिलाफ, चुगलखोर ने राजा से चुगली कर दी कि आपका मंत्री सोमशर्मा काष्ठ की तलवार रखता है। वह वक्त पड़ने पर आपकी क्या मदद करेगा।। दुर्जन और विश्वासघाती बड़े पापी होते हैं। राजा के मन में बात बैठ गयी। एक दिन दरबार में राजपुत्रों ने आकर राजा को नमस्कार किया। राजा ने आदेश दिया सभी अपनी-अपनी तलवार निकाल कर दिखायें सबने अपनी-अपनी तलवार दिखाई तब राजा ने सोमशर्मा मंत्री से कहा तुम भी अपनी तलवार म्यान से निकालकर दिखाओ। मंत्री सोमशर्मा ने म्यान सहित तलवार राजा के सामने रख दी और कहा-हे राजन्! आप स्वयं निकाल कर देख लें। तलवार सूर्य की किरणों के समान चमकती हुई लोहे की निकली। तब राजा ने तीखी नजरों से चुगलखोर की तरफ देखा। मंत्री समझ गया और बोला महाराज! इसमें इसका दोष नहीं है यह तलवार काष्ठ की है तब राजा ने कहा -कैसे? मंत्री ने कहा कि आप तलवार म्यान में

डालकर मुझे दें। राजा से तलवार लेकर मंत्री ने म्यान से तलवार निकाली तब वह काष्ठ की निकली। यह देख राजा ने आश्चर्य चकित होकर पूछा- यह कैसे हुआ? मंत्री ने कहा-यहा नियम का प्रभाव है। इतना सुनते ही राजा को वैराग्य हो गया। इसको कहते हैं। मार्ग की प्रभावना।

प्रश्न है कि मार्गप्रभावना कैसे करे, तब गुरुवर उत्तर देते हैं कि चारित्र में दाग लग जाना अप्रभावना है। बस ऐसी प्रभावना न होने देना ही सच्ची मार्ग प्रभावना है। मुनिमार्ग एक सफेद चादर है। उस पर दाग न लगने देना। ग्रहण किये हुए व्रतों का निर्दोष पालन करना। भगवान महावीर के उपदेशों के अनुसार अपने जीवन को बना लेना ही सबसे बड़ी धर्म मार्ग की प्रभावना है। रावण ने आर्य होकर भी अनार्य कार्य किये और अन्त में मिथ्यामार्ग का पोषण किया। कुमार्ग को सच्चा मार्ग बताया इसलिए रावण राक्षस कहलाया। रावण द्वारा किये कुकृत्यों के कारण राक्षस नाम पड़ने से आज कोई भी अपने बच्चे का नाम रावण नहीं रखता, यह है अप्रभावना।

कहा है - **मेरी है सो खरी है, खरी है सो मेरी है।** इस पंक्ति में मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी का पूर्ण विवेचन है। पंक्ति के प्रथम भाग के अनुरूप जिनका जीवन है वे कुमार्गी तथा दूसरे भाग के अनुरूप जीवन वाले सन्मार्गी हैं। अगर हम दूसरे के हित के प्रति सजग रहते हैं तो वह प्रभावना होगी।

सबसे बड़ी मार्ग प्रभावना अपनी आत्मा के प्रति सजग रहने में हैं। अपनी आत्मा की गरिमा संभालने में है। अपनी आत्मा को विषय कषायों से मुक्त करके विभावों में मलिन होने से बचाकर स्वभाव में लाने से मार्ग प्रभावना होगी।

हम लोग रोज अपने जीवन को अच्छा बनाने का विचार करते हैं। रोज भावना भाते हैं कि हमारा जीवन अच्छा बने। अच्छी या बुरी दोनों तरह की भावनाएँ हमारे जीवन पर प्रभाव डालती है और यदि कोई भावना निरन्तर मन के भीतर चलती रहे तो उसका असर अपेक्षाकृत अधिक पड़ता है। पिछले कई दिनों से हम लगातार अपने जीवन को अच्छा बनाने की भावना भा रहे हैं। अपने आत्मकल्याण की बातों में रुचि ले रहे हैं, इस बात का असर थोड़ा ही सही लेकिन अपने जीवन पर अवश्य पड़ा है। हमने अनुभव किया है कि हमारा एटीट्यूड (नजरिया) बदला है। वह पहले से ज्यादा सकारात्मक हो गया है और हमारी कषायों में मंदता भी आयी है। कषायों की इंटेन्सिटी (तीव्रता) और ड्यूरेशन (समयावधि) में पहले की अपेक्षा कमी आयी है। हमारा पुरुषार्थ अपने कल्याण के प्रति थोड़ा जाग्रत हुआ है। भैया, संस्कार कषायों का गहरा है इसलिए थोड़ी देर तो लगेगी पर यदि हमारे मन में लगन लग गयी है कि हमें अपना जीवन अब खुद आगे बढ़कर सँभाल लेना है और उस मार्ग पर चलना है जिस मार्ग पर महान आत्माओं ने चलकर अपना कल्याण किया है। **"महाजनः येन गता सः पंथाः"**। यह नीति वाक्य है कि मार्ग तो वही सच्चा है जिस मार्ग से महापुरुष मोक्ष गए है। ऐसे मोक्ष के मार्ग की ओर बढ़ने की हमारी भावना हो, हम भी मोक्षमार्ग पर चलें और इस मार्ग की महिमा का अहसास स्वयं करें, औरों को कराएँ, यही मार्ग प्रभावना कहलाती है।

आज अपन 'मार्ग-प्रभावना' नाम की भावना को समझने का प्रयास करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के चरणों में बैठें और देखें की मार्ग-प्रभावना के बारे में वे हमें क्या बताते है-

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमदि जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी, सम्मादिठ्टी मुणेदव्वो।।?

जिनेन्द्र भगवान के बताए मार्ग की प्रभावना करने में वह मुनि श्रेष्ठ है जो विद्या के रथ पर यानी आत्मज्ञान के रथ पर आरूढ़ होकर अपने इन्द्रिय व मन को वश में करके अपने जीवन को उज्ज्वल बनाने में लगा हुआ है। वास्तव में सम्यग्दर्शन से सम्पन्न मुनिराज ही जिनेन्द्र भगवान के मार्ग की सच्ची प्रभावना करते हैं। मोक्षमार्ग की महिमा को प्रकटाते है। उन्हें देखकर के लोग भी मोक्षमार्ग पर चलने को उत्सुक हो जाते हैं। सच्चा मार्ग वही है और सच्चे मार्ग की महिमा भी वही है जिस पर चलने वाला स्वयं जीवन को निरन्तर उज्ज्वल और निर्मल बनाता है। साथ ही जिसे देखकर दूसरा भी अपने जीवन को पवित्र बनाने के लिए उत्साहित और लालायित हो जाता है।

सन्मार्ग की प्रभावना दो तरह से होती है बाह्य में भी और अंतरंग में भी । वर्तमान में भले ही हमने बाह्य प्रभावना को ही प्रभावना मान लिया हो पर वास्तव में, सच्ची प्रभावना तो वह कहलाएगी जिसमें बाह्य और अंतरंग दोनों का अच्छा सामंजस्य हो, अच्छा समन्वय हो। अपना अंतरंग भी निर्मल बनता जाए और अंतरंग की खुशबू बाहर भी फैलती जाए। यही प्रभावना सही है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखा है कि-

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सततमेव।
दान तपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः।।

रत्नत्रय के तेज से अपनी आत्मा को प्रभावनायुक्त करना चाहिए और यथाशक्ति दान देकर, तप धारण करके, जिनेन्द्र भगवान की पूजा करके या ज्ञान आदि की महिमा के द्वारा जिनधर्म की, सच्चे मार्ग की प्रभावना करनी चाहिए। देखिए, बाह्य और अंतरंग का कितना बढ़िया समायोजन इसमें किया गया है। स्वयं रत्नत्रय धारण करके अपने अंतरंग को निर्मल बनाना और बाह्य में जो निर्मलता के साधन हैं उनके माध्यम से जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए। बाह्य में दिखाई देने वाले जप-तप, दान-पूजा, व्रत-नियम और ज्ञान-ध्यान आदि सभी अंतरंग को निर्मल बनाने के सशक्त साधन हैं।

दान देने से प्रभावना होती है लेकिन संक्लेशपूर्वक या अहंकारवश, यश, ख्याति की आकांक्षा से दिए गए दान से प्रभावना मानना ठीक नहीं है। दान तो ऐसा दिया जाए जिससे स्व-पर कल्याण हो। जिसे देने से मन प्रसन्न हो, निर्मल हो। **"दान देय मन हरष विशेखे"** दान देकर मन हर्षित हो जाए। दान देने वाले और लेने वाले का मोक्षमार्ग प्रशस्त हो जाए। श्रेयांस राजा ने सबसे पहले दान दिया था। भगवान ऋषभदेव के हाथों में

आहार देकर अपने हाथ पवित्र कर लिए। हाथ ही क्या पर्याय ही पवित्र हो गयी, मनुष्य जीवन सार्थक हो गया। दान-तीर्थ की स्थापना हो गई। आज भी अक्षय तृतीया का पवित्र दिन उस अपूर्व दान का स्मरण करा देता है। कैसा बढ़िया दान है। ऐसा दान अपन को भी देने को मिले, ऐसी भावना भानी चाहिए। एक बात और मजे की कहूँ कि ऐसा दान देने वाले ही क्यों, ऐसा दान लेने वाले बनें, ऐसी भावना रखनी चाहिए।

इतिहास में भामाशाह का दान प्रसिद्ध है। भामाशाह जैनधर्म के अनुयायी थे। गाँधीजी ने देश की आजादी के लिए अपनी चादर दे दी थी। वर्णीजी ने विद्यालय की स्थापना के लिए अपनी चादर दे दी थी। ऐसा दान आज के हजारों-लाखों रूपए के दान से श्रेष्ठ माना गया है। मैंने सुना है कि एक बुढ़िया ने अपनी एक दिन की पूरी कमाई जो कुल एक रूपया थी दान में दे दी थी। वह दान बहुत प्रशंसनीय माना गया था क्योंकि वह मात्र एक रूपया नहीं था, वह तो बुढ़िया ने अपना सर्वस्व दान में दे दिया था भैया, आप समझ रहे हैं ना, दान से प्रभावना कैसे होती है? जब दान से अपने भाव निर्मल हो जाएँ, निर्लोभ-वृत्ति आए और दूसरे का भी उपकार हो।

तपस्या से प्रभावना होती है। चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी महाराज महान तपस्वी थे। अपने जीवन में उन्होंने लगभग दस हजार उपवास किए। नीरस भोजन करने की साधना की। अनेक उपसर्ग और परीषहों को जीता। सिंह आकर उनके समीप बैठा रहा, सर्प उसके शरीर से घंटों लिपटा रहा पर वे अपने आत्म-ध्यान में लीन रहे। आचार्य शान्तिसागरजी महाराज ने अपनी निर्दोष मुनिचर्या और तपस्या के द्वारा जैन मुनि की वीतराग दिगम्बर छवि की महिमा सारे देश में फैलाई। आज अपन सभी लोग उनके इस उपकार के कारण वर्तमान में शान्तिपूर्वक अपना धर्मध्यान कर पा रहे हैं, वरना उस समय मुनिराज का विहार आदि भी कहीं-कहीं बहुत मुश्किल से हो पाता था।

आज कल दसलक्षण-पर्व में दस-दस दिन उपवास करने वालों की संख्या बहुत है पर महाव्रतों का पालन करते हुए बिना किसी मान-सम्मान की लालसा के उपवास आदि तप करना आसान नहीं है। आज कितना भी त्याग करो उपवास आदि करने वाले के मन में मान-सम्मान मिले ऐसी भावना आ ही जाती है। भावना तो कर्म-निर्जरा और मोक्षमार्ग की प्रभावना की होना चाहिए, जिससे दूसरे को भी सच्चे मार्ग पर चलने का उत्साह जाग्रत हो।

जिनेन्द्र भगवान की पूजा से भी धर्म की प्रभावना करने वाले लोग हुए हैं। सिद्धचक्र मण्डल विधान करके मैनासुंदरी ने अपने असाता कर्मों की निर्जरा की। श्रीपाल के भी परिणाम निर्मल होने से व जिनपूजा के प्रभाव से असाता कर्म नष्ट हो गए। पुण्य का संचय हुआ। व्याधि शान्त हो गई। सब ओर जिनधर्म की जय-जयकार हुई। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने, आचार्य मानतुंग स्वामी ने, आचार्य वादिराज महाराज ने जिनेन्द्र भगवान की ऐसी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक स्तुति की जिससे कि स्वयं उनका ही नहीं, अनेकों जीवों का

कल्याण हुआ है और वर्तमान में हो रहा है। भैया, अपन से तो भगवान का गुणगान, उनकी स्तुति जो पहले से लिखी हुई है वही ठीक से करते नहीं बनती, इन महान आचार्यों ने स्वयंभूस्तोत्र, भक्तामर-स्तोत्र, एकीभाव स्तोत्र आदि की स्वयं रचना करके भगवान जिनेन्द्र का गुणगान किया है कि आगामी जीवन में अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति और स्तुति के फलस्वरूप वे तीर्थंकर पदवी प्राप्त करेंगे। सचमुच, अपने को ऐसी ही प्रभावना करने का मन बनाना चाहिए।

एक चीज और है वह है सम्यग्ज्ञान की आराधना। सम्यग्ज्ञान के माध्यम से भी मार्ग की प्रभावना होती है। सारा संसार दुखी है और दुख का प्रमुख कारण है अज्ञान। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस अज्ञान के अंधकार को हटाएँ और सम्यग्ज्ञान का प्रकाश फैलाकर वीतराग-मार्ग की प्रभावना करने में सदा तत्पर रहें। समीचीन-ज्ञान के माध्यम से आचार्य समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव और आचार्य विद्यानंदी महाराज ने धर्म की ध्वजा फहराई। संसार में फैले हुए विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच सत्य को स्थापित किया। आचार्य अकलंक देव इतने कुशाग्र बुद्धि के धनी थे कि एक बार पढ़ने से उन्हें ग्रन्थ के ग्रंथ कंठस्थ हो जाते थे। वीतराग-भाव की रक्षा के लिए अपने छोटे भाई निकलंक के साथ बहुत मुसीबतें उठाकर ज्ञान अर्जित किया। एक दिन छोटे भाई को राजा के सैनिकों ने पकड़ कर, सदा के लिए सुला दिया, तब बहुत दुखी मन से लेकिन अत्यन्त धैर्य और साहस का परिचय देते हुए आपने अपने प्राण बचाए और शेष जीवन जिनवाणी की आराधना करके वीतराग-मार्ग की महती प्रभावना की।

आज हम इन महान आत्माओं के द्वारा होने वाली मार्ग की प्रभावना पर विचार करें तो लगेगा कि हम क्या कर रहे हैं? धर्मध्यान के स्थान पर मनोरंजन कर रहे हैं। हमारे आचार्य महाराज ने बहुत पहले कहा था कि हमारे धार्मिक आयोजन भी अब मार्ग-प्रभावना के लिए नहीं हैं मात्र धन और नाम कमाने का मार्ग बन गए हैं। आज भेद-विज्ञान के स्थान पर सामाजिक मतभेदों में लोगों की रुचि ज्यादा है। आज नयी पीढ़ी धर्म की सही, तर्कसंगत और वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करने में उतनी उत्साहित नहीं है जितना उत्साह धर्म के नाम पर फैन्सी ड्रेस, रंगोली, झाँकी और फूहड़ फिल्मी तर्जों पर बनाए गए भजनों में ले रही है। दसलक्षण पर्व जो आन्तरिक निर्मलता, निराकुलता और वीतरागता का पाठ सिखाने प्रतिवर्ष आते हैं वही पर्व अब मन्दिरों में तेज रोशनी, कान-फोड़ संगीत और टेलीविजन की नकल करते हुए आयोजनों में बीत रहे हैं। भीड़ इकट्ठी करना इन आयोजनों की सफलता और प्रभावना का क्राइटेरिया (मापदंड) है।

अब तो धार्मिक नाटकों में मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, ऐलक व ब्रह्मचारी के पूज्य पदों को कुछ देर धारण करके पुनः अपने पूर्व वेष में आने का मिथ्या प्रयास होने लगा है। जिस वेष को एक बार धारण करके छोड़ा नहीं जाता उसी वेष की ऐसी अवमानना देखकर पीड़ा होती है। क्या इसी का नाम धर्म-प्रभावना है? भैया, इन सब बातों को कहकर किसी की निंदा करने की हमारी भावना नहीं है। क्या करें। पीड़ा होती है देखकर सो कह दिया। सच्ची प्रभावना तो वह है जिसके माध्यम से हमारा, हमारे समाज का, हमारी युवा पीढ़ी

और समूचे मानव समाज का नैतिक उत्थान हो, हृदय से अज्ञान हटे और हृदय में वीतरागता का, वीतराग-विज्ञानता का प्रकाश फैले।

एक बात और करना चाहता हूँ कि मोक्षमार्गी की छोटी-छोटी उपलब्धियों को लेकर बिना वजह ज्यादा प्रशंसा मत करना। यह प्रंशसा उस साधक के लिए हानिकारक हो सकती है, दूसरे साधक के भीतर ईर्ष्या का भाव जागृत कर सकती है और उसकी प्रगति को रोकने में निमित्त बन सकती है। अपने यहाँ व्यक्ति की नहीं उसके गुणों की प्रशंसा की जाती है जिससे औरों को भी गुणवान बनने की ललक पैदा हो। प्रशंसा करो श्रद्धा की, सच्चे सम्यग्ज्ञान की और सदाचरण की जिससे मार्ग के प्रति अनुराग बढ़े। आचार्य महाराज कहते है प्रशंसा करनी है, प्रभावना देखनी है तो जटायु को देखो। उस पक्षी की प्रशंसा करो जो अपने नैतिक बल के सहारे सीताजी को बचाने बलशाली रावण से लड़ा। अनीति के प्रति उसने संघर्ष किया। व्रतों का पालन करते हुए, पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण करते हुए उसने प्राण त्यागे। हमें उसके जीवन से शिक्षा लेनी चाहिए।

भैया, दान, पूजा, उपवास आदि से मार्ग की प्रभावना होती है। इन्हें सबको करना चाहिए और सावधानीपूर्वक करना चाहिए। मैं दान दूँगा मेरा नाम होगा, मैं पूजा- विधान रचाऊँगा लोग मेरा नाम याद रखेंगे, मैं उपवास आदि के द्वारा तपस्या करूँगा इससे मेरी प्रशंसा होगी, मैं खूब ज्ञान प्राप्त करूँगा तो मेरी ख्याति फैलेगी। भैया, ये सब दान, पूजा आदि अपनी महिमा फैलाने या अपनी प्रसिद्धि बढ़ाने के लिए नहीं हैं। हमारे भीतर दान, पूजा आदि के समय, भाव तो यह आना चाहिए कि इससे मेरी कर्म-निर्जरा होगी, सब जीवों का कल्याण होगा और वीतराग-मार्ग की महिमा फैलेगी।

हम सभी लोग आज ऐसी भावना भाएँ कि हमारे आचरण से, हमारी श्रद्धा और ज्ञान के माध्यम से मोक्षमार्ग की प्रभावना हो। हम अपना जीवन जितना उज्ज्वल बनाएँगे उसे देखकर दूसरे को भी अपना जीवन उज्ज्वल बनाने का भाव उत्पन्न होगा और इस तरह वीतराग-मार्ग की स्वयं प्रशंसा होगी। अपना जीवन हम जितना आडम्बर-रहित होकर जिएँगे, जितना सादगीपूर्वक जिएँगे, उतना ही अपना और दूसरे का उपकार होगा। असल में, धर्म हमारी साँसों में समा जाए तो हर साँस धर्म का संदेश देने वाली होगी। हमारे मन, वाणी और शरीर के द्वारा सहज ही धर्म प्रकट होगा। यही सच्ची वीतराग मार्ग की प्रभावना है।

मैंने अभी किसी पत्रिका में पढ़ा कि विदेश में आप अगर आहार करते समय आलू-प्याज से रहित भोजन मँगाएँगे तो आपसे बैरा कहेगा कि आपको अभी 'जैन थाली' देता हूँ। 'जैन थाली' के मायने हैं जिसमें अंडा तो दूर की बात है, आलू प्याज भी नहीं रहेगा। आप अगर सांयकाल भोजन करने की उतावली करते हैं तो देखने वाला फौरन पूछेगा कि क्या आप जैन हैं? बताइए, जैन आदमी है तो रात में नहीं खाएगा, पानी छानकर पिएगा, आलू-प्याज नहीं खाएगा, यह पहचान कैसे बनी होगी? कितनी पीढ़ी-दर-पीढ़ी से यह पहचान चली आ रही है। कितनी मेहनत से यह पहचान हमारे अपने लोगों ने आचरण की निर्मलता से बनाई

होगी। धर्म की यह महिमा वास्तविक है। शेष सारा आडम्बर, ताम-झाम तो दो-चार दिन का है। अपने को बाहरी दिखावे में नहीं पड़ना। अपने को तो धर्म-धारण करके प्रभावना करनी है।

जिस मार्ग रूप अन्वेषण से जो गुमी निधी भी मिल जावे।
श्री देव शास्त्र गुरू माध्यम से आत्मिक प्रभावना बढ़ जावे।।
है यही सत्य शिव मोक्ष मार्ग जिसमें दृग ज्ञान चारित्र कहें।
आत्मिक प्रभावना करके ही ''शुभ मार्ग प्रभावना'' भव्य लहें।।

श्री देव, शास्त्र, गुरु के माध्यम से जिनपूजा, दान, तप, ऋद्धि आदि द्वारा अतिशय रूप से सद्धर्म का प्रकाश करना "मार्ग प्रभावना" है इससे तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। इसी प्रभावना हेतु अकलंक देव ने 6 माह तक तारा देवी से शास्त्रार्थ कर धर्म ध्वजा को ऊँचा उठाया था। इसी तरह अनेकों ऋषियों एवं श्रावकों ने विधान प्रतिष्ठा द्वारा खूब प्रभावना की है।

मथुरा के राजा प्रतिगंध की रानी बुद्धिदासी बौद्धधर्मी थी और उर्विला रानी जैनधर्मी थी। अठाई में रथ निकालने की बात आई। जब बुद्धिदासी ने पहले बौद्ध धर्म का रथ निकालने को कहा। यह सुनकर रानी उर्विला ने चतुराहार त्याग कर वज्रकुमार मुनि के निकट पहुँची। मुनि की सहायता से उसने इस संकट को दूर करके प्रथम जैनधर्म का रथ निकालकर खूब धर्म की प्रभावना की। इसी तरह अनेकों उदाहरण हैं- क्योंकि जैनधर्म से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।

किसी गाँव में एक सेठ रहता था। उसके श्रीमती नाम की कन्या थी, उसे शुरु से धार्मिक संस्कार पड़ने से धर्म में बड़ी रुचि थी। अधिक समय धर्म में बिताती थी। जब श्रीमती विवाह के योग्य हो गई, माता-पिता उसका सम्बन्ध किसी अच्छे घर में करना चाहते थे पर विधि का विधान कुछ और ही था। क्योंकि होनहार बड़ा बलवान होता है।

फलत: श्रीमती का विवाह उसकी इच्छा के प्रतिकूल एक धनी विजातीय व्यक्ति के साथ हुआ। जिसके कारण उसे कष्ट झेलना पड़ा। भारतीय कन्यायें लज्जा के आवरण में इतनी कड़ी रहती थी कि वे कुछ बोल नहीं सकती थी। पशुओं के खरीदने बेचने में भले ही सलाह लें, पर कन्या के विवाह के समय कन्या से नहीं पूछा जाता था। क्योंकि पूर्व की कन्यायें बड़ी लज्जा शील रहती थी, अर्थात् मर्यादा में रहती थी।

जब बहू घर में आई तो सास बोली-बेटी अब जैनधर्म छोड़कर गायत्री मंत्र का अनुष्ठान करो एवं बटुक भैरव की पूजा करो। यह सुनकर श्रीमती ने बड़े विनम्र शब्दों में कहा-माता जी! मैंने रात्रि भोजन का त्याग एवं देव दर्शन का नियम गुरु के समक्ष लिया है अत: मुझे देवदर्शन एवं धर्म कार्य करने की आज्ञा दीजिये। ऐसी आपसे प्रार्थना है।

सास-बेटी ! आपकी मनमानी यहाँ पर कुछ नहीं चलेगी । लो गले में कंठी पहनो और तुलसीदल मुँह में डालो।

डॉक्टर साहब जब घर में आये तो श्रीमती ने रो रो कर अपनी कथा सुनाई और प्रतिदिन जिन दर्शन की और रात्रि भोजन न करने की स्वतंत्रता मांगी और बोली मुझे धर्म में कोई भी रोक नहीं लगा सकता है।

डॉक्टर-श्रीमती ! तुम्हें आश्चर्य होगा कि मैं इंग्लैण्ड का रिटर्न हूँ तुम्हारे प्रति मेरी सहानुभूति है पर मैं माँ के विपरीत एक शब्द भी नहीं कह सकता हूँ। यद्यपि मुझे उनका पक्ष अन्याय का प्रतीत हो रहा है पर मैं उनसे कुछ भी नहीं कह सकता हूँ । तुम उनसे ही पुन: अनुरोध करो, यदि वे स्वीकृति दे दें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मैं अपनी ओर से तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि तुम खूब धर्म ध्यान करो।

श्रीमती ने साहस बटोर कर सास से पुन: निवेदन किया "माता-जी ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाइये। मैं तो आपकी आज्ञा का पालन सिर झुकाकर करती हूँ आप मेरी बचपन की प्रतिज्ञा को भंग न होने दीजिए। मैं आपके चरणों में गिरकर क्षमा चाहती हूँ, आप क्षमा कर दीजिये। आप मुझे अपनी बेटी समझिये ?"

सास- " श्रीमती ! तुम भूल कर रही हो। मैं इस घर में बटुक भैरव के अतिरिक्त अन्य किसी भी देवता की पूजा नहीं होने दूंगी। यदि तुम्हें मेरा आदेश स्वीकार नहीं है, तो तुम अपने पति को लेकर मुझसे अलग रह सकती हो। तुम इच्छा से रात्रि भोजन न करोगी तो बलपूर्वक करना पडेगा।" उसकी सास मिथ्यादृष्टि थी। धर्म को नहीं मानती थी। सास के इस अन्तिम निर्णय को सुनकर श्रीमती को आंतरिक व्यथा हुई और वह रूदन करती हुई णमोकार मन्त्र का जाप करने लगी। उसने अन्न, जल, ग्रहण करना छोड़ दिया, पंचपरमेष्ठी के चरणों में ध्यान लगाकर मौन साधना करने लगी। क्योंकि वह प्रतिज्ञा में दृढ़ थी।

जब सास को श्रीमती के सत्याग्रह का समाचार मिला तो वह हाथ मटकाती हुई कहने लगी- कितने दिन भूखी रहती है। दो, चार, आठ, दस दिन आखिकार तो उसे भोजन करना ही पड़ेगा। मेरे यहाँ यह ढ़ोंग चलने का नहीं है। सास ने ऐसे दुष्ट मिथ्या भरे वचन कहे।

श्रीमती को णमोकार मन्त्र का चिन्तन करते हुए तीन दिन बीत गये। रात्रि को स्वप्न में सास को किसी ने कहाँ-देवि ! इस सावित्री बहू को क्यों कष्ट दे रही हो ? यदि तुम इसे धर्म कार्य करने की आज्ञा नहीं दोगी, तो तुम्हारे शरीर में कुष्ठ हो जायेगा। सास ने जिद स्वभाव के कारण स्वप्न पर कुछ ध्यान नहीं दिया, संध्या समय वह दीपक जलाकर बटुक भैरव की आरती करने लगी। एकाएक मूर्ती के बीच से आवाज आई " कुष्ठी हो जाओ" । क्योंकि पाप कर्म का फल अवश्य मिलेगा।

आश्चर्य कि उसके शरीर में तत्काल कुष्ठ हो गया । तब वह बोली, बेटी श्रीमती ! मुझे अपने पाप का फल मिल गया मैंने व्यर्थ में तुम्हें कष्ट दिया, कृपया मुझे क्षमा करो। मेरा जीवन बर्बाद हो गया। प्रात:काल श्रीमती फौरन देवदर्शन, पूजन करके घर आई तो सास को कुष्ठ रोग से व्याप्त देखा। तुरन्त भगवान के

अभिषेक के जल के छीटे डाले, आश्चर्य कि फौरन सास का कुष्ठ रोग दूर हो गया। इस प्रकार धर्म का चमत्कार देखकर घर में प्रसन्ता एवं शांति का वातावरण छा गया। सास, ससुर, पतिदेव सभी जैन धर्मानुयायी बन गये। अर्थात् मिथ्यात्व को छोड़कर सच्चे सम्यग्दृष्टी बन गये। यह है सच्ची धर्म प्रभावना। इसी का नाम है मार्ग प्रभावना'' । इस प्रकार आज भी है देर है पर अंधेर नहीं है। करनी का फल सब भोगते हैं।

शीलक्षमा ममता की आकर, विश्व प्रेम की है आधार।
तेरी करुण साधनाओं, में है मातृत्व स्वयं उपहार।।

यदि वह कोई विशेष कार्य (महिला आश्रम आदि) करती है तो वह आदर्श महिला कहलाती है। एवं लज्जाशील मर्यादायुक्त होने के कारण ''सत्यवती नारी'' कहलाती है। इत्यादिक गुणों के कारण वह अनेक नामों से पुकारी जाती है। ज्ञान-दान देने से वह ''विदुषी'' कहलाती है। आज हमारी महिलायें धर्म कार्य में, मैं तो ''अबला'' बन रही हैं और विषय वासनाओं में पति कि साथ ''सबला'' बन रही हैं, यह उनकी कितनी भूल है। हमारा जीवन सीतासती, चंदना, अंजना, मनोरमा, चेलना सती आदि के समान होना चाहिये। घर की नारी चाहें तो वे घर को स्वर्ग बना देवें चाहे तो घर को नरक बना देवें। रावण की करतूत को सीता ने कितना सहन किया पर वह अपने शीलव्रत से नहीं डिगी। जिस नारी के अन्दर शील धर्म नहीं है, हजारों गुण हैं, वे गुण मिट्टी के समान हैं। स्त्रियों का भूषण अपने शीलव्रत में दृढ़ रहना है। कितनी ही नारियाँ आज अपने पुरुषार्थ के बल पर विद्वत्ता प्राप्त कर धर्म का प्रचार करती हुई अनेकों का उद्धार कर रही हैं। कितनी ही नारी ''आर्यिका'' के व्रत लेकर स्त्रीपर्याय को छेद रही है। इसी प्रकार हमें भी आदर्श नारी बनना चाहिये। जो नारी धर्म कार्य में पति का अनुकरण करती है उन्हें पतिव्रता ''लक्ष्मी'' नाम से कहा है और जो कायर है उन्हें ''अबला'' जो कुमार्ग गामी है उन्हें ''व्यभिचारिणी'' तथा जो घर को स्वर्ग बनाती हैं उन्हें ''गृहिणी'' यह संज्ञा है। इसी तरह पति पत्नी में झगड़ा एक बहु सास को ठीकरे में भोजन देती थी। इत्यादि अनेकों दृष्टांत हैं। देव, शास्त्र, गुरु पर सच्ची श्रद्धायुक्त ही सच्ची आदर्श नारी हैं और जो अपने जैन धर्म पर दृढ़ रहती हैं वहीं आदर्श नारी महिला रत्न हैं। वही जैनधर्म की प्रभावना कर सकती है।

इसके विपरीत जो नारी विषय भोग में मस्त रहती हैं। धर्म कार्य को नहीं करती वे जीवन को बर्बाद करती हैं।

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग-नग तल में।
पीयुष स्त्रोत सो बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।।
एक पति पत्नी को ''लक्ष्मी'' कह पुकारते हैं तो पत्नी कहती है।
जो नीच ऊँच घर जाय वो लक्ष्मी, मैं न दियो पग एक धरती।।

अर्थात् मैं लक्ष्मी के समान चँचल नहीं हूँ। किसी कवि ने नारी को चन्द्रमा की उपमा दी है, किसी नारी को धूल में मिला दिया। यदि सुशील नारी है वही प्रशंसनीय हैं। वही धर्म प्रभावना भी कर सकती है और जो कुलटा स्त्री है वह नरकगामिनी है। आगम में ऐसी स्त्री की निंदा की है।

आर्यिका के रूप में नारी का महत्त्व

लौकिक पारस लोह को, स्वर्ण करें इक जान।
गुरू रूपी पारस रतन, सबको करे समान।।

अलौकिक गुरू महिमा – गुरु की महिमा अपरंपार है, गुरु ही बन्धु तरण है। **"न धर्मो धार्मिकैबिना"** धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं, इसी प्रकार गुरु बिना सत्ज्ञान एवं चारित्र नहीं, चारित्र बिना मुक्ति नहीं। इस कलिकाल में चतुर्थकाल सम गुरु श्री 108 आचार्य रत्न शांतिसागरजी, वीरसागरजी, शिवसागरजी, धर्मसागर जी, श्री महावीरकीर्ति जी, देशभूषणजी आदि जो उच्च कोटी में गर्भित आदर्श, ऐसे कितने अपूर्व रत्न विलीन हो गये। उन रत्नों की पूर्ति होना महान् दुर्लभ है। मैं भगवान महावीर को शत्-शत् बार वंदन करता हूँ जिन्होंने आदर्श नारी को प्रमुख स्थान दिया।

आर्यिका दीक्षा दाता गणिनी – प्रमुख रूप में योग्य आचार्य द्वारा ही आर्यिका दीक्षा होती है। पर चिरकाल दीक्षित सम्पूर्ण गुणों से सम्पन्न योग्य गणिनी आर्यिकाओं को भी स्वगुरु की आज्ञा अनुसार आर्यिका या क्षुल्लिका दीक्षा देने का अधिकार है।

आर्यिकाओं का दीक्षा ग्रहण और रक्षण – दीक्षित आर्यिकायें अपने गुरु के सानिध्य में रहकर व्रत, संयम, चारित्र की रक्षा करती हुई वात्सल्य भाव से परस्पर में रक्षा करें अर्थात् गुरु शिष्य की, त्यागी और त्यागी वर्ग की परस्पर में रक्षा करते हुये धर्म प्रभावना करें। यही परम धर्म है।

आर्यिका और शिक्षा – "आर्यिका" का पद मुनि के समान है। मात्र वस्त्र होने से उपचार से "महा व्रत" संज्ञा दी गई है। पर सम्पूर्ण क्रियायें मुनियों के समान ही आगम में कही हैं। अत: आर्यिका पद, ऐलक, क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं की अपेक्षा उच्च पद माना है। ऐसी योग्य सुशिक्षित विदुषी आर्यिकाओं के पास सभी को शिक्षा लेनी चाहिये। एवं मुनि के समान ही इनकी भक्ति करनी चाहिये।

धर्म ध्वजा की प्रतीक नारी – जिस प्रकार नारी बिना कोई भी सांसारिक कार्य शोभित नहीं होता। उसी प्रकार नारी बिना कोई भी धार्मिक कार्य एक पहिये की गाड़ी के समान है। अत: धर्म ध्वजा की प्रतीक नारी को सीता सती, मनोरमा, अंजना, चंदना आदि के समान ही धर्म में दृढ़ रहकर आदर्श जीवन बनाना चाहिए। क्योंकि आदर्श नारी ही धर्मध्वजा फहरा सकती हैं और कल्याण मार्ग में सबको लगा सकती है।

जैनधर्म में नारी का स्थान – जैन धर्म में पुरुष के समान नारी का भी प्रमुख स्थान है। पर आज के भौतिक वादी युग में मानव ने नारी को मात्र भोगों की मशीन समझ रक्खा है। प्राय: करके आज की समाज

नारी को घृणा की दृष्टि से देख रही है। पर याद रखिये आदर्श नारी धर्म की भी मशीन है। जिस नारी रूपी भूमि पर बड़े-बड़े महापुरुष एवं तीर्थंकर ने भी जन्म लिया। ऐसी नारी को भगवान महावीर ने प्रथम उच्च स्थान दिया। आज भारतवर्ष में आदर्शनारी का गौरव है, जो नारी आर्यिका पद से शोभित है ऐसी तपस्वी ज्ञानमती माताजी आदि सभी मातायें घोर तप एवं ज्ञान ज्योति द्वारा धर्म प्रभावना करके भारतवर्ष में नाम कर रही है। नारी के अंदर इतनी शक्ति है कि वह सब कुछ कर सकती है। कहा भी है-

वही धन्य है जो जीवन में, जगमग ज्योति जगाता है।
नारी से नारायण बनकर, शाश्वत सुख दर्शाता है।।

इसी का नाम है "मार्ग प्रभावना"। इसी तरह दान के माध्यम से धर्म प्रभावना होती है। पंच कल्याणक, वेदी प्रतिष्ठा आदि कराना इससे विशेष धर्म प्रभावना होती है और हमें क्रम-क्रम से मोक्ष पद मिलता है। जो श्रवक श्राविकाए दान देती है उनके द्वारा भी धर्म की प्रभावना होती है।

लोक में प्रसिद्ध ऐसा सेठ सुकेतु सत्पात्र दान के प्रभाव से देवकृत उपसर्ग को सहन करके अन्त में घोर तप करके मुक्ति को प्राप्त हुआ। इसलिये सभी श्रावकों का कर्त्तव्य है कि मुनि के लिये दान देवें। इसकी कथा इस प्रकार है इसी जंबूद्वीप में वसुपाल नाम का राजा था वहीं पर जैनधर्म प्रेमी एक सुकेतु नाम का वैश्य रहता था। एक दिन उसने नागदत्त के नागभवन के समीप उद्यान के भीतर चारणऋषि को आहारदान दिया, जिससे वहाँ पर रत्नों की वृष्टि हुई। यह देखकर ईर्ष्यावश नागदत्त ने कहा- यह रत्न मेरे भवन के आगे गिरे हैं यह मेरे हैं? ऐसा कहकर सभी रत्नों को उठाकर घर में रख लिया, पर सुकेतु के पुण्य से सभी रत्न वापस वहीं चले गये। पुन: कई बार उसने रत्नों को उठाया पर सब व्यर्थ हुआ। अन्त में उसने राजा को भड़काया राजा ने भी सभी रत्नों को महल में लाकर रख लिया, पर सभी रत्न सुकेतु के घर पर पहुँच गये, यह चमत्कार देखकर राजा समझ गये कि यह सुकेतु के दान का फल है। राजा ने नागदत्त की निंदा करके सुकेतु से क्षमा मांगी। अब तो राजा अपनी सभा में सेठ सुकेतु के दान की प्रशंसा प्रतिदिन करते थे। यह जिनदेव सेठ को सहन नहीं हुआ वह बोला हे राजन्! जिसकी आप प्रशंसा करते हो वह तो मेरे धन के आगे कुछ भी नहीं है आप इसका निर्णय सभा में करें जिसकी विजय होगी वह सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी होगा। अन्त में निर्णय करने पर दानवीर सेठ सुकेतु की विजय हुई जिससे लज्जित होकर जिनदेव सेठ ने गुरु से जिन दीक्षा ले ली। सेठ सुकेतु जिनदेव के पुत्र को सभी धन देकर श्रावक धर्म पालन करते हुये सुखपूर्वक रहने लगे। इधर नागदत्त सेठ ने मंत्र को सिद्ध करके उत्पल नामक देव को बुलाया और कहा तुम किसी तरह से सेठ सुकेतु को मार डालो। इस पर देव ने कहा कि वह सेठ जिनधर्मी निर्दोष है मैं उसे मार नहीं सकता। पर बार-बार आग्रह करने पर उस देव ने सेठ को मारने की एक युक्ति निकाली। वह देव बंदर का रूप लेकर सेठ सुकेत के पास आया और बोला मैं पुण्य देवता हूँ मैं तुम्हें अपना स्वामी समझता हूँ, तुम मुझे काम करने की आज्ञा दीजिए नहीं तो तुम्हें मैं मार डालूंगा। सेठ ने कहा अनेक जिनालय से शोभित यहाँ पर एक सुन्दर नगर का निर्माण करो, उस देव ने फौरन अद्भुत नगर का

निर्माण कर दिया। फिर आज्ञा मांगी- सेठ ने कहा मुझे स्त्री पुत्र सहित उस नगर के भीतर बड़ी धूमधाम के साथ प्रवेश कराओ, उसने वैसा ही कर दिया। पुनः सेठ जी ने कहा- कि तुम फौरन गंगा का जल लाकर मेरी पत्नी सहित मेरा अभिषेक करके राज्यपट्ट बांधो, उसने वैसा ही कर दिया। चौथी बार सेठ ने कहा कि नागदत्त आदि के घरों में अक्षयनिधि को भरकर शीघ्र वापस आओ, वह ऐसा करके वापस आ गया। अब सेठ ने कहा कि मेरे भवन के आगे एक खंभा खड़ा करके उसमें एक लोहे की सांकल उसी के बराबर तैयार करो उसी सांकल से तुम उतरो, चढ़ो, जब तक मैं रोकूँ नहीं तब तक तुम यही करना। अन्त में वह देव हार मानकर चला गया। इस प्रकार दान के प्रभाव से सेठ की खूब रक्षा हुई।

पुनः सेठ जी ने सत्पात्र (मुनि) के दान के प्रभाव से एवं घोर तप करके मुक्ति को प्राप्त किया और सभी, तप करके स्वर्ग चले गये। इस प्रकार सेठ ने दान तप द्वारा खूब धर्म प्रभावना की "इसी का नाम है मार्ग प्रभावना।" इससे तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता हैं तथा खूब जोरों से धर्मचक्र, इन्द्रध्वज आदि पाठ कराना इससे भी विशेष प्रभावना होती है।

सबसे बड़ी मार्गप्रभावना अपनी आत्मा के प्रति सजग रहने में है। अपनी आत्मा की गरिमा संभालने में है। अपनी आत्मा को विषय कषायों से मुक्त करके विभावों में मलिन होने से बचाकर स्वभाव में लाने से मार्ग प्रभावना होगी। राग से अप्रीति वीतरागता से प्रीति करना, भगवान महावीर के बताये मार्ग पर चलना, इन सभी से मार्गप्रभावना होगी। मार्गप्रभावना रचनात्मक कार्य करने से होती है जैसे विद्यालय खुलवाना, औषधालय खुलवाना, पक्षियों के अस्पताल खोलना या खुलवाना, गरीबों को मुफ्त दवा वितरण करना, गरीब छात्रों को पुस्तकें उपलब्ध कराना, रास्ता चलते असहाय व्यक्तियों की सहायता करना आदि से मार्गप्रभावना-धर्म प्रभावना होती है। इस प्रकार की गई प्रभावना ही वास्तविक मार्ग प्रभावना है जो कि कल्याणकारी है, श्रेयस्कर है और परम्परा से मोक्ष का कारण है।

करें श्रद्धान तत्त्वों में वे सम्यक्ज्ञान पाते हैं।
परम आराध्य श्री जिन को सदा वे जीव ध्याते हैं॥
हो मुक्ती मार्ग के राही जो प्रवचन वात्सल्य धारें।
भावना भव्य भाते जो 'विशद' वे मोक्ष जाते हैं॥

****

16

प्रवचनवात्सल्य भावना

चारित्र-गुण-युक्तानां मुनीनां शील-धारिणाम्।
गौरवं क्रियते यत्र तद्वात्सल्यं च कथ्यते॥१६॥

चारित्र गुण के धारी शीलवान मुनियों का जहाँ आदर किया जाता है उसे वात्सल्य कहते हैं।

गाय का ज्यों बछड़े के प्रति, स्नेह अटल होता।
काय वचन अरु मन से शुभ, अनुराग विमल होता॥
स्वार्थ रहित साधर्मी जन से, जो अनुराग रहा।
श्री जिनेन्द्र ने जैनागम में, ये वात्सल्य कहा॥
द्वेष भाव के द्वारा हमने, कितने कष्ट सहे।
मद माया की लपटों में हम, जलते सदा रहे॥
सदियाँ गुजर गयीं हैं लेकिन, धर्म नहीं पाया।
चेतन की यह भूल रही, अरु रही मोह माया॥

प्रवचन-वात्सल्य भावना कैसे और किससे करना चाहिए तथा इसका फल क्या होता है यह निम्न पद्य में दृष्टव्य है-

गौरव भाव धरो मन से, मुनि-पुंगव को नित वत्सल कीजे।
शील के धारक भव्य के तारक, तासु निरंतर स्नेह धरीजे।।
धेनु यथा निज बालक के, अपने जिय छोड़ि न और पतीजे।
ज्ञान कहे भवि लोक सुनो, जिन वत्सल भाव धरे अघ छीजे।।

गौरव सहित भाव धारण करके मन से, विद्वान-मुनियों से प्रतिदिन वात्सल्य कीजिये। जिस प्रकार गाय अपने हृदय के प्रिय बालक के अतिरिक अन्य के लिए दूध नहीं उतारती, यह वात्सल्य होने का प्रतीक है। उसी प्रकार शील के धारी, भव्य जीवों के तारक (मुनिराजों) से निरन्तर स्नेह रखना चाहिए। ज्ञानी जन कहते हैं कि हे संसारी भव्य प्राणी! जो ऐसा वात्सल्य भाव रखता है, वह समस्त पापों का विनाश करता है।

प्रवचन वात्सल्य का अर्थ है-साधर्मियों के प्रति प्रेम भाव। साधर्मियों में गाय और बछड़े के सदृश प्रेम करना ही प्रवचन वात्सल्य है। प्रवचन वात्सल्य भावना का भी उतना ही महत्त्व है जितना की दर्शन विशुद्धि भावना का। आचार्य महाराज कहते हैं कि जिसके अन्दर प्राणी मात्र के प्रति वात्सल्य प्रेम भाव, करुणा भाव होगा वही भावों की वृद्धि करके तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करेगा। जिसके अन्दर प्राणी मात्र के लिए ममता, करुणा नहीं होगी, जिसका हृदय करुणा से ओत-प्रोत नहीं होगा वह भावों की वृद्धि भी नहीं कर पावेगा और उसके अन्दर ऊपर उठने की कला भी नहीं आयेगी। प्राणी मात्र के लिए नम्रता, करूणा का भाव होना ही प्रवचनवात्सल्य भावना कहलाती है। प्रवचन अर्थात् देव, गुरु-धर्म, इनमें वात्सल्य अर्थात् प्रीतिभाव, कहलाता है। जो चारित्रगुण सहित हैं, शील के धारी हैं, परम साम्य सहित हैं। बाईस परिषहों के साथ देह में निर्ममत्व, समस्त विषयों से रहित, आत्महित में उद्यमी, पर का उपकार करने का ऐसे साधुजनों के गुणों में प्रीतिरूप परिणाम वात्सल्य है।

वात्सल्य अंग सदा जो ध्यावै, सो तीर्थंकर पदवी पावै।

जो वात्सल्य अंग को धारण करता है वह तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है। अर्थात् वात्सल्य भाव तीर्थंकर पद को दिलाने वाला है। कहा गया है-

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भाव, सनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं, वात्सल्यमभिलप्यते।। र.।।?

वीतरागी मतावलम्बी मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका और सम्यग्दृष्टि की सरलता से माया रहित यथायोग्य स्तुति, नमस्कार, दान, उच्चस्थान, प्रशंसा उपकरण आदि के द्वारा आदर सत्कार करना आदि वात्सल्य अंग कहलाता है।

''**वत्से धेनुवत् साधर्मणि स्नेह : प्रवचन वात्सल्यत्वम्**'' जैसे गाय अपने बछड़े के प्रति स्नेह रखती है ऐसा ही साधर्मियों के प्रति स्नेह रखना ''प्रवचन वात्सल्य कहलाता है बिना स्वार्थ के बिना किसी संसारीक अपेक्षा के जो परस्पर प्रेम का भाव है उसे वात्सल्य कहा गया है। गाय और बछड़े का जो प्रेम है वह निस्वार्थ है इसलिए उदाहरण गाय और बछड़े के प्रेम का दिया है गाय कभी अपने बछड़े से ऐसी अपेक्षा नहीं करती कि मेरा बछड़ा हमें खाने को घास या पानी लेकर लाये। बीमार हो तो डॉ. को बुलाकर लाए और न किसी बछड़े ने आज तक अपनी माँ को घास खिलायी है न पानी भरकर पीने को रखा है और न अस्वस्थ होने पर गाय की सेवा की है। अपने बेटे से अपेक्षा रहती है माता पिता को, पर गाय को बछड़े से किसी प्रत्युत्कार की आकांक्षा नहीं रहती है यह निस्वार्थ प्रीति ही वात्सल्य कहलाती है ऐसा वात्सल्य भाव हमारा साधर्मी के प्रति होना चाहिए।

व्रतों के धारी, पाप से भयभीत, न्यायमार्गी, धर्म में अनुराग के धारक, मंद कषायी, सन्तोषी श्रावक तथा श्राविका के गुणों में, उनकी संगति में अनुराग धारण करना, वात्सल्य है।

जो स्त्री पर्याय में व्रतों की सीमा को प्राप्त करके, समस्त गृहादि परिग्रह को छोड़कर कुटुम्ब का ममत्व छोड़कर, देह में निर्ममता धारण करके, पाँच इन्द्रियों के विषयों को छोड़कर एक वस्त्र मात्र परिग्रह का अवलम्बन लेकर भूमिशयन, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्णादि परिषह सहन कर, संयम सहित ध्यान-स्वाध्याय सामायिक आदि आवश्यकों सहित होकर आर्यिका की दीक्षा ग्रहण कर, संयम सहित काल व्यतीत करती है, उनके गुणों में अनुराग वात्सल्य भाव है।

मुनिराज के समान वन में रहते हुए, बाईस परीषह सहते हुए, उत्तम क्षमादि धर्म के धारक देह में निर्मत्व, अपने निमित्त बनाया औषधि, अन्न, दानादि ग्रहण नहीं करने वाले, एक वस्त्र कोपीन बिना समस्त परिग्रह के त्यागी उत्तम श्रावकों के गुणों में अनुराग, वात्सल्य है। देव, गुरु, धर्म के सत्यार्थ स्वरूप को जानकर दृढ़ श्रद्धानी, धर्म में रुचि के धारक अव्रत सम्यग्दृष्टि में भी वात्सल्य करना चाहिए।

इस संसार में अनादिकाल से ही अपने स्त्री, पुत्र कुटुम्बादि में, देह में, इन्द्रिय विषयों के साधनों में राग लगा चला आ रहा है। पिछला अनादि संस्कार ही ऐसा है कि तिर्यंच भी अपने स्त्री-पुत्रों में, विषयों में अति अनुरागी होकर उनके लिए कट जाता है, मर जाता है, अन्य को मार देता है। ऐसा मोह विचित्र है। वे पुरुष धन्य हैं, जो सम्यग्ज्ञान से मोह नष्ट करके आत्मा के गुणों में वात्सल्य करते हैं।

पंचमकाल के धनिक संसारी के वात्सल्य का अभाव - संसारी तो धन की लालसा से अति आकुलित होकर धर्म में वात्सल्य छोड़ बैठे हैं। संसारी जीवों के जब धन बढ़ता है, तो तृष्णा और अधिक बढ़ जाती है। वे धर्म का मार्ग भूल जाते हैं, धर्मात्मा वात्सल्य दूर से ही त्याग देते हैं। रात्रि-दिन, धन-सम्पदा के बढ़ाने में अनुराग बढ़ाते हैं, लाखों का धन हो जाये तो करोड़ों की इच्छा करते हैं। आरम्भ परिग्रह को बढ़ाते जाते हैं। पापों में प्रवीणता बढ़ाते जाते हैं तथा धर्म में वात्सल्य नियम छोड़ देते हैं।

जहाँ दानादि में, परोपकार में धन लगता दिखाई देता है, वहाँ दूर से ही बचकर निकल जाते हैं। बहुआरम्भ, बहुपरिग्रह, अतितृष्णा से समीप आ गया नरक का निवास भी उन्हें दिखाई नहीं देता है। पंचम काल के धनाढ्य पुरूष तो पूर्व भव से ही मिथ्या-धर्म, कुपात्र-दान, कुदान आदि में लिप्त होकर ऐसे कर्म बाँधकर आये हैं, कि उनकी नरक-तिर्यच गति की परिपाटी असंख्यातकाल अनंतभव तक नहीं छूटेगी। उनका तन मन, वचन, धन, धर्म कार्य में नहीं लगता है। अहर्निश तृष्णा व आरम्भ से ही वे दु:खी रहते हैं। उनको ध र्मात्मा में तथा धर्म के धारने में कभी वात्सल्य नहीं होता है। धन रहित यदि धर्मात्मा भी हो तो उसे भी नीचा मानते हैं।

धर्म तथा धर्मात्माओं में वात्सल्य की प्रेरणा - हे आत्महित के वाहक ! धन-सम्पदा को महामद उत्पन्न करने वाली जानकर, देह को अस्थिर दुखदायी जानकर, कुटुम्ब को महाबन्धन मानकर इनसे प्रीति छोड़कर अपनी आत्मा से वात्सल्य करो। धर्मात्मा में, व्रती में, स्वाध्याय में, जिनपूजन में वात्सल्य करो। जो सम्यक्चारित्ररूप आभरण से भूषित साधुजन हैं उनका जो पुरुष स्तवन करते हैं, गौरव करते हैं, उनको

वात्सल्य गुण हैं, वे सुगति को प्राप्त होते हैं। कुमार्ग का नाश करते हैं। वात्सल्य गुण के प्रभाव से ही समस्त द्वादशांग विद्या सिद्ध होती है। सिद्धान्त ग्रन्थों में तथा सिद्धान्त का उपदेश करने वाले उपाध्यायों में सच्ची भक्ति के प्रभाव से श्रुतज्ञानावरण कर्म का रस सूख जाता है। तब सकल विद्या सिद्ध हो जाती है। वात्सल्य गुण के ध ारक को देव भी नमस्कार करते हैं।

वात्सल्य के द्वारा ही। अठारह प्रकार की बुद्धि ऋद्धि, ग्यारह प्रकार की आकाशगामिनी विक्रिया-ऋद्धि, 7 तप ऋद्धि, 3 वल ऋद्धि, नव प्रकार की चारण ऋद्धि, ग्यारह प्रकार की विक्रिया-ऋद्धि, छह प्रकार की रस ऋद्धि, आठ प्रकार की औषधि ऋद्धि, दो प्रकार की क्षेत्र ऋद्धियाँ इत्यादि चौंसठ ऋद्धियाँ व अनेक शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं।

वात्सल्य के द्वारा ही मंदबुद्धियों का भी मतिज्ञान-श्रुतज्ञान विस्तीर्ण हो जाता है। वात्सल्य के प्रभाव से पाप का प्रवेश नहीं होता है। वात्सल्य से ही तप की शोभा होती है। उत्साह के बिना तप निरर्थक है। यह जिनेन्द्र का मार्ग वात्सल्य द्वारा ही शोभा पाता है। वात्सल्य से ही शुभध्यान की वृद्धि होती है। वात्सल्य से ही सम्यग्ज्ञान निर्दोष होता है। वात्सल्य से ही दान देना कृतार्थ होता है। पात्र में प्रीति बिना दान निंदा का कारण है।

जिनवाणी में जिसे वात्सल्य होगा उसे ही प्रशंसा योग्य जिनवाणी का सच्चा अर्थ उद्योतरूप प्रकट होगा। जिसको जिनवाणी में वात्सल्य नहीं, विनय नहीं उसे यथावत् अर्थ नहीं दिखेगा, वह तो विपरीत ही ग्रहण करेगा। वात्सल्य रहित बहुत मनोज्ञ आभरण, वस्त्र धारण करना भी पद-पद में निंद्य होता है। इस लोक का कार्य जो यश, धर्म और धन का उपार्जन है, वह भी वात्सल्य से ही होता है। परलोक, स्वर्गलोक में देवत्व भी वात्सल्य से ही होता है। वात्सल्य के बिना इस लोक का समस्त कार्य नष्ट हो जाता है। परलोक में भी देवादि गति प्राप्त नहीं होती है।

जिसे अर्हन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, स्याद्वादरूप परमागम, दयारूप धर्म में वात्सल्य है, वही संसार परिभ्रमण का नाश करके निर्वाण को प्राप्त करता है। वात्सल्य से जिनमन्दिर, जिनसिद्धान्तों का सेवन, साधर्मियों की वैयावृत्ती, धर्म में अनुराग एवं दान देने में प्रीति होती है। जिन्होंने छहकाय के जीवों पर वात्सल्य दिखाया है, वे ही तीन लोक में अतिशयरूप तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते हैं। इसलिए जो कल्याण के इच्छुक हैं, वे भगवान जिनेन्द्र द्वारा उपदेशित वात्सल्य गुण की महिमा जानकर सोलहवीं वात्सल्य भावना का स्तवन-पूजन करके उसका महान् अर्घावतारण करते हैं। वे ही दर्शन की विशुद्धता पाकर, आचरण करके, अहमिन्द्रादि देवलोक को प्राप्त होकर पश्चात् जगत के उद्धारक तीर्थंकर होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। सोलहकारण धर्म की महिमा अचिंत्य है। जिससे तीन लोक में आश्चर्यकारी अनुपम वैभव के धारक तीर्थंकर होते हैं। ऐसी सोलहकारण भावना का संक्षेप-विस्तार रूप वर्णन किया गया है।

धर्म के दश लक्षण - धर्म का स्वरूप दश लक्षण रूप है। इन दश चिन्हों के द्वारा अंतरंग धर्म जाना जाता है। उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप,उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य, ये दश धर्म के लक्षण हैं। धर्म तो वस्तु का स्वभाव है। स्वभाव को ही धर्म कहते हैं। लोक में जितने पदार्थ हैं, वे सब अपने-अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ते हैं, यदि स्वभाव का नाश हो जाये तो वस्तु का अभाव हो जाये, किन्तु ऐसा नहीं होता है।

आत्मा नाम की वस्तु है, उसका स्वभाव क्षमादि रूप हैं। क्रोधादि कर्मजनित उपाधियाँ हैं, आवरण हैं। क्रोध नाम की कर्म की उपाधि का अभाव होने पर क्षमा नाम का आत्मा का स्वभाव स्वयं ही प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार मान के अभाव से मार्दव गुण, माया के अभाव से आर्जव गुण, लोभ के अभाव से शौच गुण इत्यादि जो आत्मा के गुण हैं वे कर्म के अभाव से स्वयमेव प्रकट होते हैं। उत्तम क्षमादि आत्मा के स्वभाव हैं वे मोहनीय कर्म के भेद, क्रोधादि कषायों द्वारा अनादिकाल से आच्छादित हो रहे हैं। कषायों के अभाव से क्षमादि आत्मा के स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाते हैं। अधोलिखित दृष्टान्तों से वात्सल्य भाव को समझा जा सकता है-

युधिष्ठिर का वात्सल्य

एक बार दुर्योधन को गन्धर्वों ने बन्दी बना लिया। धृतराष्ट्र ने धर्मराज युधिष्ठिर से दुर्योधन को मुक्त कराने के लिए निवेदन किया। तब युधिष्ठिर ने भीम से कहा-जाओ! दुर्योधन को छुड़ा लाओ। दुर्योधन का नाम सुनते ही भीम को क्रोध आ गया। उस पापी की मुक्ति की बात करते हो जिसके कारण हमें वनवास की यातनाएं सहन करनी पड़ी। उस अन्यायी नारकी कीड़े को छुड़वाने की बात करते हो जिसके कारण भरी सभा में द्रौपदी को निर्वसन करने का दु:साहस किया गया। अगर आप किसी और की मुक्ति की बात करते तो अनुचित न होता किन्तु दुर्योधन को मैं मुक्त नहीं करा पाऊँगा। तब युधिष्ठिर के अन्दर का करुणा भाव आँखों में उतर आया। अर्जुन ने धर्मराज के वात्सल्य को समझा, उसने अपना गांडीव धनुष उठाया और गन्धर्वों से युद्ध करके दुर्योधन को छुड़ा लाया। यह होती है वात्सल्य भावना। सभी को धर्मराज ने समझाया, हम आपस में कौरव और पांडव हैं परन्तु बाहर वालों के लिए 105 ही हैं अलग नहीं, हमारे अन्दर यही भावना होना चाहिए, चाहे हम आपस में कितने ही लड़ लें। तब भीम का मस्तक लज्जा से झुक गया। आज के मानव की दशा भी भीम जैसी है। मानव की प्रकृति ऐसी हो गयी है कि साधर्मियों से द्वेष और विधर्मियों से प्रेम की भावना बनी हुई है जो कि विनाश का कारण है ऐसी प्रकृति से कभी सृजन नहीं हो सकता।

कुकर सिंह

एक लड़के ने एक कुत्ता पाल रखा था वह उसे बहुत प्यार करता था। कुत्ता बड़ा ही स्वामिभक्त होता है। लड़का अपनी माँ से बोला कि सभी लोग शेर सिंह, हाथी सिंह, अश्वसेन आदि नाम तो रख लेते हैं परन्तु

श्वान सिंह कोई भी नाम नहीं रखता। माँ ऐसा कर मेरा नाम आज से अश्वसेन के स्थान पर श्वान सिंह रख दे। तब माँ ने जवाब दिया बेटा यदि तेरा नाम श्वान सिंह रख दिया तो अभी तो कुत्ता तेरी गोद में शान्त स्वभाव से बैठा है वह तेरे से विद्रोह कर बैठेगा, तेरे साथ लड़ने लगेगा, क्योंकि इसकी प्रकृति जाति द्रोह की होती है इसलिए कोई भी श्वान सिंह नाम नहीं रखता।

आज भगवान महावीर के अनुयायी, भगवान महावीर के सिद्धान्तों को मानने वाले आपस में द्वेष के कारण अलग-अलग मंच पर खड़े होकर एक दूसरे के अन्दर खामियाँ निकाल रहे हैं। धर्म के नाम पर अलग-अलग खेमों में बँट गये हैं जिसके कारण दूसरे सम्प्रदाय वाले हमारी हँसी उड़ाते हैं। इस तरह भगवान महावीर के अनुयायी एक दूसरे पर दोषारोपण करके अपना नुकसान कर रहे हैं। कहाँ चली गयी वह साधर्मी के प्रति वात्सल्य भावना? इस प्रकार आज के मानव में और कुत्ते की पर्याय में क्या अन्तर रह गया? यदि खोटी पर्याय से बचना है तो सभी साधर्मियों को एक सूत्र में बंधना होगा। अपने अन्दर वात्सल्य भाव तथा एक दूसरे के प्रति करुणाभाव पैदा करना ही होगा। आचार्य कहते हैं कि **एक बार आपस में मतभेद हो जाये, विचारों में भिन्नता आ जाये तो मिटायी जा सकती है परन्तु यदि मन भेद आ गया तो तीन लोक में,तीन काल में कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो इनकी उन्नति में सहायक बन सके।** अवनति को रोका नहीं जा सकता और भगवान महावीर के अनुयायियों की ऐसी ही स्थिति हो रही हैं। इसमें सुधार केवल साधर्मियों में एक दूसरे के प्रति करुणाभाव, वात्सल्यभाव ही ला सकता है। पानी की धारा जब प्रवाहित होती है तो निर्बाध बहती चली जाती है परन्तु एक पत्थर का टुकड़ा भी रास्ते में आ गया तो धारा को दो भागों में विभक्त कर देता है। इसी प्रकार वात्सल्य विहीन व्यक्ति भी पत्थर के समान होता है वह समाज में विघटन करके समाज को दो भागों में विभक्त कर देता है।

आक का दूध

एक बार आक का दूध, गाय और भैंस के दूध से बोला-भाई मुझे भी अपने साथ मिला लो, मेरा भी उद्धार हो जायेगा। ''ना भाई, यदि तुझे अपने में मिला लिया तो मैं भी फट जाऊँगा और मुझे फिर कोई नहीं पियेगा'', तब आक का दूध कहता है ''भाई, पानी भी मिल जाता है जो तुमसे विजातीय है, मैं तो फिर भी तुम्हारा सजातीय हूँ, तब मुझसे इतनी हिचकिचाहट क्यों।'' गाय और भैंस के दूध ने कहा '' हमारा वर्ण ही तो मिलता है, गुण तो अलग-अलग हैं तुम्हें मिलाया तो तुम हलचल मचा कर आपस में फाड़ पैदा कर दोगे, पानी विजातीय होते हुए भी मिलकर हमारा साथ देता है तुम्हारी तरह हलचल मचाकर फाड़ नहीं करता'' पानी का स्वभाव ऐसा है- जैसा मिले संग वैसा मेरा रंग।

बन्धुओ, बिजली के बल्व कितने भी प्रकाशित कर दिये जायें, सब का प्रकाश एक साथ मिल जाता है इसी प्रकार भगवान महावीर ने अपने जीवन में वात्सल्य रूपी अनेक प्रकाश भरकर प्रकाशित किया तो तीनों

लोक आलोकित हो गये। जिस प्रकार सारे प्रकाश आपस में मिलकर एकमेव हो जाते हैं कोई भी विरोध नहीं रह जाता। इसी प्रकार आँखों से निकली चेतनधारा भी दूसरी ओर से आने वाली चेतनधारा में मिल जाती है परन्तु जड़ के सम्पर्क में आकर दूसरे भी जड़ हो जाते हैं। अगर अपनी आत्मा को सुखी बनाना है तो जैसी आत्मा है अर्थात् जैसा आत्मा का स्वभाव है उसी के अनुसार क्रिया करनी होगी तभी आत्मा सुखी बन सकती है। अपनी आत्मा से निर्विवाद वात्सल्य करना पड़ेगा तो तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो सकता है और एक दिन मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इसी प्रकार अगर सभी आपस में विवाद न करके मिलकर रहोगे तो सुखी हो सकते हो अन्यथा दु:ख तो भोग ही रहे हो।

एक किसान के सात बेटे थे। एक दिन किसान के मन में विचार आया कि मेरे मरने के बाद इनमें आपस में फूट न पड़ जाये। इसलिए सातों को बुलाया और एक लकड़ी का गट्ठर बाँध कर सभी को बारी-बारी से तोड़ने को दिया परन्तु कोई भी तोड़ नहीं पाया फिर सबके हाथ में एक-एक लकड़ी दे दी। वह सबने फटाफट तोड़ दी तब किसान बोला कि देखो जिस प्रकार ये लकड़ियाँ जब एक साथ बंधी थी तब उन्हें कोई नहीं तोड़ पाया और अलग होते ही तुरन्त टूट गई। उसी प्रकार जब तक तुम सातों भाई एक साथ मिलकर रहोगे तो तुम्हारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता और अगर तुम सातों अलग हो गये तब इन लकड़ियों की तरह तुम्हारा जीवन भी नष्ट हो जायेगा। इसलिए आपस में प्रेम से रहना, हमेशा सुखी रहोगे।

एक व्यक्ति ने एक सन्त की खूब सेवा की। एक दिन सन्त वहाँ से विहार करने लगा तब वह व्यक्ति बोला कि आप तो जा रहे हो मुझे कुछ देते जाईये। तब सन्त ने उसे तीन वस्तुएँ दी, मोम, सुई और घोड़े के बाल। तब उस व्यक्ति ने पूछा-मैं इन वस्तुओं के द्वारा भगवान से कैसे मिल सकूँगा? सन्त ने कहाँ मोमबत्ती की तरह जलो और दूसरों के लिए रोशनी पैदा करो। सुई की तरह खुद नंगे रहो और दूसरे के छेद बन्द करो। बालों की तरह मुलायम और लचीले रहो। ये तीन सहारे तुझे भगवान से मिला देंगे, इनकी गाँठ बाँध लो।

दीवान अमरचन्द की उदारता

एक समय एक व्यक्ति दरिद्रता से तंग आकर मृत्यु का उपाय सोचने लगा। उसके पड़ौसी ने उसे जयपुर के दीवान अमरचन्द से मिलने की सलाह दी और कहा कि तुम्हारी समस्या का उपाय अवश्य हो जायेगा। वह बेचारा दरिद्र दीवान जी से मिलने जयपुर पहुँचा परन्तु वहाँ पर द्वारपाल ने रोक दिया और कह दिया कि आज तो बहुत ही आवश्यक विचार-विमर्श चल रहा है इसलिए आज मुलाकात नहीं हो सकती। तब उसे एक युक्ति सूझी, उसने द्वारपाल से कहा कि दीवान जी से कहो कि आपका साढू भाई मिलने आया है, वे अवश्य ही समय निकाल कर मुझसे मिलेंगे। द्वारपाल ने दरबार में जाकर दीवान जी से कहा कि आपके साढू आपसे मिलना चाहते हैं। तब दीवान जी बोले उनको आदर सहित अन्दर ले आओ।

उस गरीब के दरबार में पहुँचते ही सभी दरबारी ठहाका लगाकर हँस पड़े और कहने लगे दीवान जी ये

आपके साढू हैं। तब दीवान जी ने जवाब दिया कि हँसते क्यों हो? यह भाई तो सत्य कह रहा है क्योंकि पुण्य और पाप दो भाई हैं। पुण्य की पुत्री, सम्पत्ति से मेरी शादी हो गयी और पाप की पुत्री विपत्ति से, इसकी शादी हो गयी, तब यह मेरा साढू हुआ अथवा नहीं। यह सुनकर सभी अवाक् रह गये। व्यक्ति को हमेशा स्मरण रखना चाहिए-

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।

नितदेव! मेरी आत्मा, धारण करे इस नेम को, मैत्री करे सब प्राणियों से, गुणी जनों से प्रेम को।
उन पर दया करती रहे, जो दुःख-ग्राह-ग्रहीत हैं, उनसे उदासी सी रहे, जो धर्म से विपरीत हैं।

भगवान महावीर स्वामी को सर्प ने डसा तो दूध निकला क्योंकि उनके अन्दर प्राणी मात्र के लिए वात्सल्य था। एक नारी जब तक बच्चे को जन्म नहीं देती तब तक उसकी छाती से दूध नहीं निकलता और बच्चे को जन्म देते ही उस बच्चे के प्रति इतना वात्सल्य भाव उसके आ जाता है कि उस वात्सल्य भाव के कारण उसकी छाती दूध से भर जाती है। उसके वात्सल्य भाव की यही पराकाष्ठा होती है। जब एक नारी में एक बच्चे के प्रति वात्सल्य भाव से दूध की उत्पत्ति हो सकती है तो भगवान महावीर के अन्दर तो तीन लोक में जितने भी जीव हैं सबके प्रति वात्सल्य भाव था तो उनका रक्त ही यदि दूध बन गया तो कोई अतिशयोक्ति नहीं हैं।

यदि तुम भी सुखी बनना चाहते हो तो विश्व प्रेम के सूत्र में बंधना होगा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को अपनाना होगा अर्थात तीन लोक में जितने भी चराचर जीव भरे हुए हैं सबको एक कुटुम्ब जानकर घृणा और द्वेष को अपने से दूर करना होगा। उनके दुःख को अपना दुःख समझना होगा और यदि अपने स्वार्थ में अंधे होकर एक दूसरे पर अत्याचार करते रहे, पर्याय को ही अपना मानते रहे तो सारे विश्व में शान्ति का होना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। जब तक आप अपने स्वार्थ में तल्लीन रहोगे तब तक स्वार्थवश दूसरे को सताते रहोगे अर्थात् उसके सुख में बाधा पहुँचाते रहोगे यह स्वाभाविक है और दूसरा भी दुःख पाकर उसके प्रतिकार रूप बदले के उपाय-साधन इकट्ठे करने में दुःखी होता रहेगा और तुम्हें भी दुःखी करता रहेगा। इस प्रकार किसी को भी शान्ति नहीं मिल सकती और प्रत्येक जीव एक दूसरे के प्रति कषायवश दुःख उठाता रहेगा और इसी उपक्रम में व्यस्त रहने से अपना कल्याण तीनकाल में भी नहीं कर सकता।

इस प्रकार मनुष्य पर्याय पाकर भी यदि घर-बाहर, अपने कुटुम्बियों, पड़ोसियों, देश-वासियों तथा सब प्राणियों के प्रति मित्रता एवं प्रेम का बर्ताव नहीं कर सकता तो फिर मनुष्य और तिर्यंच में क्या अन्तर रह जायेगा? वह तो मनुष्य पर्याय पाकर भी तिर्यंच ही है । मनुष्य पर्याय में जीव अपना कल्याण कर सकता है, अन्य पर्याय में नहीं, मनुष्य पर्याय को पाकर भी उसकी दृष्टि कल्याण मार्ग की तरफ नहीं लगती तो वह मिथ्यादृष्टि, नास्तिक, काफ़र है और अपने तथा दूसरों की सुख व शान्ति को नष्ट करने का उत्तरदायी है। बन्धुओं, यदि जीव को सुख -शान्ति चाहिए तो उसे आपस के वैषम्य को समाप्त कर वात्सल्य भाव को

उत्पन्न करना होगा। आपसी मत भेद व साम्प्रदायिकता को जड़ मूल से निकालना होगा, विचारों में उदारता और सहिष्णुता लानी होगी यही वास्तविकता है और यही प्रवचन वात्सल्य भावना है।

विनोबा जी ने अपनी माँ की स्मृति में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें लिखीं। उन्होंने लिखा कि पिता घर में एक अनाथ बच्चे को ले आए और माँ से कहा कि यह भोजन यहीं करेगा। तुम इसे रोज भोजन करा देना। माँ ने उस बच्चे को गरम-गरम भोजन कराया और यह क्रम रोज का हो गया। विनोबा जब खाने बैठते तो माँ ठंडी रोटी भी परोस देती। विनोबा ने एक दिन माँ से पूछ लिया कि ''माँ! तुम ऐसा भेदभाव क्यों करती हो उस बच्चे को तो रोज गरम भोजन खिलाती हो और मुझे ठंडा ही परोस देती हो। तुमने तो हमें सदा यही समझाया कि सब मनुष्य समान हैं, सबमें ईश्वर है, इसलिए सबसे समान और अच्छा व्यवहार करना चाहिए।'' विनोबा की माँ ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं थी पर विचार कितने अच्छे थे। आज अपन पढ़े-लिखे होकर भी क्यों ऐसी अच्छी-अच्छी बातें, ऐसे श्रेष्ठ संस्कार नहीं सिखा पा रहे हैं अपने बच्चों को। अपन तो बचपन से भेदभाव सिखाते है बच्चों को। जाने कितने तरह का भेदभाव तो है इस संसार में। काले-गोरे का,अमीर- गरीब का, मालिक-नौकर का, ये सारे भेदभाव, ईर्ष्या, द्वेष और घृणा-भाव को बढ़ाने वाले हैं। आत्मा का कल्याण इस भेदभाव में नहीं है, आत्मा का कल्याण तो समता-भाव या साम्यभाव रखने में है।

विनोबा की माँ ने अपने बच्चों को साम्य-भाव की शिक्षा दी थी सो विनोबा ने अपनी माँ को उलाहना दे दिया। माँ सारी बात सुनकर हँसने लगी। बोली- ''विन्या। (विनोबा का घर का नाम) बात तो सही है कि सबके भीतर भगवान का दर्शन होना चाहिए और सबसे समानता का व्यवहार करना चाहिए पर क्या करूँ मेरे मोह के कारण मैं तुझे अपना बेटा मानती हूँ सो तेरे भीतर अभी ईश्वर का दर्शन नहीं हो पाता । उस अनाथ बच्चे के भीतर मुझे ईश्वर का दर्शन होता है। जिस दिन तेरे प्रति मेरा मोह घट जाएगा और तेरे भीतर भी मुझे ईश्वर का दर्शन होने लगेगा तो तेरी सेवा भी ईश्वर मानकर करूँगी। अभी तो तू मेरा बेटा है।''

कितनी बड़ी बात सहजभाव से कह दी। सबके भीतर आत्मा-तत्त्व विद्यमान है। सबमें परमात्मा बनने की सामर्थ्य छिपी है। पर अपने ही मोह के कारण वह आत्मतत्त्व हमें दिखाई नहीं देता। जिसकी दृष्टि से मोह का परदा हट जाता है उसे आत्म-स्वरूप का दर्शन होने लगता है और सबके प्रति उसके मन में प्रेम, स्नेह और वात्सल्य का भाव सहज ही आ जाता है।

साधर्मी के प्रति वात्सल्य भाव वही रख पाता है जो सदा गुणग्राही है। गुणों की प्रशंसा में रुचि लेता है। दूसरे के दोषों में रुचि लेना अंतरंग में उत्पन्न हुए द्वेष व ईर्ष्या का परिणाम है। गुणों को सहन नहीं कर पाना ही ईर्ष्या कहलाती है। साधर्मी के गुणों को देखकर मन प्रफुल्लित होना चाहिए। साधर्मी के गुणों का सम्मान हो रहा हो तो ऐसा महसूस होना चाहिए कि मानो मेरा ही सम्मान हो रहा है। तभी तो किसी गुणवान का या साधर्मी का अपमान होने पर लगता है मानो हमारा अपमान हो गया हो। हम साधर्मी के गुणों की प्रशंसा नहीं कर पाते।

असल में, समान व्यक्तियों के बीच परस्पर तुलना का भाव आ ही जाता है। बड़े या छोटे व्यक्ति से तुलना करने का भाव नहीं होता, तुलना तो बराबरी वालों में ही होती है।

राजा साहब की सवारी निकलने वाली थी। सारा रास्ता साफ किया जा रहा था। एक जमादार रास्ते में झाड़ू लगा रहा था। अचानक उसकी नजर झाड़ू लगाने वाले दूसरे जमादार पर पड़ी। मन ईर्ष्या से भर गया। बात कुछ नहीं थी, जो दूसरा जमादार था वह जरा अच्छे कपड़े पहने था। यह मेरे जैसा ही जमादार है पर इसके कपड़े इतने अच्छे क्यों हैं? ईर्ष्या उत्पन्न हो गई। पास जाकर व्यंग्य कर दिया कि बड़े बने-ठने दिख रहे हो। राजा हीरे-जवाहरात लगी सुंदर-सी पोशाक पहने निकले तो उनसे कोई ईर्ष्या नहीं हुई। उनके प्रति सम्मान का भाव आया पर अपने साधर्मी भाई को देखकर उसके प्रति सम्मान का भाव, उचित-व्यवहार करने का भाव नहीं आया बल्कि उस पर व्यंग्य कर दिया। वात्सल्य का भाव तो वह है जिसके आने पर हम अपने साधर्मी के गुणों की प्रशंसा करते हैं। उसे आगे बढ़ते देखकर प्रसन्न होते हैं। उसके साथ उचित यानी सम्मानजनक व्यवहार करते हैं।

वात्सल्य -भाव रखने वाले की दृष्टि निर्मल और विशाल होती है। दृष्टि में व्यापकता आ जाती है। सोचने और देखने का ढंग सकारात्मक होता है। पांडवों को वनवास हो गया। माँ कुन्ती, विदुर के पास हस्तिनापुर में रह गई। एक दिन उन्होंने दुर्योधन से मिलने राजमहल में जाने की बात विदुर से कही। विदुर चकित हो गए और कहा कि आपके पुत्रों के साथ जिन्होंने बुरा व्यवहार किया उन्हीं से मिलने आप स्वयं जा रही हैं? एक बार विचार कर लें। माता कुन्ती बोली - मैं उनके मन का द्वेष मिटाने नहीं जा रही हूँ वे मेरे प्रति द्वेष रखें तो मेरा क्या? मैं तो उनके प्रति अपने मन का द्वेष -भाव मिटाने जा रही हूँ। मैं इतनी गई-बीती नहीं हूँ कि अपने प्रति द्वेष रखने वाले को क्षमा न करूँ। मैं उनके मन का द्वेष नहीं मिटा सकती तो अपने मन को गंदा क्यों करूँ? यह बात पढ़कर मन गद्‌गद हो गया। इतनी बढ़िया सोच, ऐसी विशाल दृष्टि ही व्यक्ति को महान बनाती है। प्रवचन- वात्सल्य ऐसी ही महान आत्माओं के भीतर उत्पन्न हो पाता है। हमें प्रयास करना चाहिए कि साधर्मी के प्रति हमारी सोच, हमारी दृष्टि ऐसी ही निर्मल और व्यापक हो।

वात्सल्य के लिए जरूरी है परस्परता का बोध। मिल-जुलकर रहने की भावना या एकता का भाव। आज परस्पर परिवार में, समाज में, राष्ट्र में सैकड़ों भेद-प्रभेद है। वैचारिक भिन्नता है, मतभेद है। एक ही माँ के दो जुड़वाँ बेटों के खान-पान में, रहन- सहन में, बोल-चाल में समानता हो, ऐसा भी जरूरी नहीं है। ऐसा भी जरूरी नहीं है कि दोनों के विचारों में साम्य हो। वैचारिक विविधता या मतभेद रह सकता है। पर मन-भेद नहीं होना चाहिए। मन-मुटाव नहीं होना चाहिए। सुख-दुःख में साथ देने का भाव बना रहना चाहिए। एकता और परस्परता का बोध यही है। एकता का अर्थ यह नहीं है कि मात्र तख्त पर एक हो गए, वक्त पड़ने पर दूर खड़े देखते रहे।

आपको याद है जब गन्धर्वों ने दुर्योधन सहित हस्तिनापुर के सारे गोधन को बंदी बना लिया था। और धृतराष्ट्र के कहने से युधिष्ठिर सबको मुक्त कराने गन्धर्वों से युद्ध करने को तैयार हो गए थे। भीम ने विरोध किया था। याद दिलाया था दुर्योधन का खोटा व्यवहार और इतना ही नहीं, जाने से इंकार कर दिया था। युधिष्ठिर की आँखों में आँसू आ गए थे, भीम की बात सुनकर। अर्जुन ने तब आगे बढ़कर कहा था -''भैया! आप निश्चित रहें। मैं जाता हूँ सभी को मुक्त कराने। हम सब भले ही महल के भीतर सौ और पाँच अलग-अलग हैं पर दुनिया के सामने तो हम एक सौ पाँच भाई हैं' । भाई-भाई के बीच या कहो साधर्मीजनों के बीच ऐसा ही एकता का भाव होना चाहिए। विपत्ति में भी परस्पर सोहार्द हो, यही सच्चा वात्सल्य है।

मन में वात्सल्य-भाव हो तो सारे पारिवारिक, सामाजिक या व्यक्तिगत मतभेद मिट सकते हैं। एक बार आचार्य महाराज ने कहा था कि समाज में जो विभिन्न जाति-प्रजातियाँ हैं। उनको लेकर आपस में विवाद नहीं करना चाहिए। इससे हमारा संगठन कमजोर होता है। संगठित रहना चाहिए सभी को। संगठित रहने से, परस्पर प्रेम-भाव बने रहने से बड़ा लाभ होता है। उन्होंने हँसते हुए कहा कि ये जो खंडेलवाल, पल्लीवाल, पोरवाल, बघेरवाल आदि में जो 'वॉल' हैं ना, उसे हटा देना चाहिए। ताकि एक बड़ा- सा हॉल बन जाए और सभी एक साथ मिलजुल कर बैठ सकें, धर्मध्यान कर सकें। 'वॉल' शब्द का अर्थ अंग्रेजी में दीवार होता है, मन में भी आपस में ऐसी दीवार नहीं बनाना चाहिए। द्वेष या ईर्ष्या-भाव नहीं रखना चाहिए। अगर यह आपसी द्वेष-भाव मिट जाए तो सभी साधर्मी भाई आपस में प्रेम से रहते हुए अपना और दूसरे का कल्याण करने में सक्षम हैं। हमें श्वान-चाल छोड़नी चाहिए। श्वान का यह स्वाभाविक दुर्गुण है कि वह अपने साधर्मी को देखकर भौंकता या गुर्राता है। यह ठीक नहीं है।

देखो, अगर नदी की बहती धारा में कोई पत्थर या पत्थर जैसा ही कोई अवरोध आ जाए तो नदी की धारा दो भागों में विभाजित हो जाती है और लाभप्रद नहीं होती, ऐसे ही परस्पर प्रेम का अभाव हो जाए जीवन में तो प्रेम-शून्य व्यक्ति का जीवन पत्थर या अवरोध की तरह है तो हमें, परस्पर विभाजित करने में कारण बन जाता है। विभक्त या विभाजित जीवन, या टुकड़ो-टुकड़ों में बँटा जीवन व्यर्थ है। उसमें अखण्डता और समरसता नहीं आ पाती। साधर्मी से यदि वैमनस्य हो जाए तो सारी धार्मिक क्रियाएँ व्यर्थ हो जाती हैं। धार्मिक क्रियाएँ तो निर्मल मन से करना ही लाभकारी है। मन की कलुषता न मिटे तो धार्मिक-क्रियाओं को दोहराने से लाभ नहीं होगा। आचार्य तिरूवल्लुरवर ने अपने कुरल-काव्य में लिखा है कि हृदय में प्रेम, वाणी में मिठास और आँखों में स्निग्धता न हो तो ऐसा जीवन सूखी हुई घुन लगी लकड़ी के समान नीरस और व्यर्थ है। उससे अपना और दूसरे किसी का भी भला नहीं हो सकता ।

आचार्य महाराज वात्सल्य की महिमा बताते हुए कहते हैं, कभी-कभी हम सभी से कहते हैं कि देखो, दूध, पानी को अपने में मिला लेता है विजातीय होने पर भी और अपने लोग साधर्मी या सजातीय को भी मिला

नहीं पाते। एक दृष्टान्त सुनाते हैं हमारे आचार्य महाराज कि दूध गरम करने, अग्नि पर किसी बर्तन में रख दिया जाता है तो धीरे-धीरे दूध में मिला पानी अपने मित्र की सुरक्षा के लिए स्वयं अग्नि में जलता जाता है। जब दूध तेज गरम हो जाता है और पानी ज्यादा जलने लगता है तो दूध अपने मित्र की रक्षा के लिए अग्नि को बुझाने के लिए ऊपर की ओर आनेलगता है यानी उफनने लगता है। जैसे ही बर्तन से बाहर आने को होता है उसमें जल के छींटे डालते ही शान्त हो जाता है। मित्र से मिलते ही मन शान्त हो जाता है। पानी और दूध एक मित्र की तरह मानो एक दूसरे की सुरक्षा करते हैं। ऐसा ही व्यवहार हमारा भी परस्पर साधर्मीजनों के बीच होना चाहिए। यही तो वात्सल्य है जिससे स्व-पर कल्याण होता है। प्रेम से भरी स्निग्ध दृष्टि, दो मीठे बोल और सिर पर हाथ का स्पर्श कितना सामर्थ्यवान है। स्वयं अनुभव करके देखें अपने जीवन में।

एक बच्चों की कहानी सुनाता हूँ। एक जंगल था। उसमें खूब सारे जानवर रहते थे। हाथी भी रहता था। सभी जानवर हाथी को बहुत चाहते थे। हाथी भी सभी से बहुत प्रेम रखता था। किसी अवसर पर सभी ने हाथी को अपने घर आने का निमंत्रण दिया। हाथी ने भी सोचा चलो सबसे मिल आते हैं। हाथी सबसे मिलने निकला। वह खरगोश के यहाँ पहुँचा तो खरगोश ने खूब आवभगत की। लेकिन एक समस्या आ गयी कि हाथी को बैठाएँ कहाँ? खरगोश के पास जगह भी कम थी और आसन भी छोटा-सा था। हाथी को अपने घर में बैठाए से वंचित रह गया खरगोश। उसे बड़ा दु:ख हुआ। हाथी गिलहरी के घर पहुँचा। उसने खूब स्वागत किया पर इतने बड़े हाथी को बैठाऐ की समस्या उसे भी आयी। वह भी बड़ी दुखी हुई। एक-एक करके हाथी सभी के घर गया। सबने खूब सत्कार किया पर अपने घर हाथी को कोई भी बैठा नहीं पाया। वृक्ष पर बैठा तोता सारा दृश्य देख रहा था। उसने बड़ी अच्छी बात कही कि हाथी को अपने-अपने घर बैठाने का मोह यदि सभी जानवर छोड़ दें और एक बड़े स्थान पर अपने-अपने घर से बैठने का आसन लाकर बिछा दें तो हाथी थोड़ी देर आराम से बैठ सकता है।

आप समझ गए बात। अपना -अपना अलग-अलग अहंकार पुष्ट करने का भाव छोड़कर यदि सभी लोग परस्पर मिल-जुल कर अच्छा कार्य करें तो सफलता आसानी से मिलती है। अब तो सबने अपना-अपना मन्दिर, अपने-अपने धार्मिक अनुष्ठान, अपने-अपने पंच-कल्याणक के कार्य सभी चीजें अलग, अपने अहंकार की पुष्टि के लिए, करना प्रारंभ कर दिया है। इससे परस्पर प्रेम-भाव में, वात्सल्य में कमी तो आती है। अगर मान लो ऐसा करना सुविधाजनक लगता है तो करो पर दूसरे साधर्मी के प्रति प्रेम-भाव भी तो रखो। उसे नीचा दिखाने या उससे तुलना करने या उसका अपमान करने का भाव तो मन में नहीं आना चाहिए।

अपन लोगों में जो जन्म-दिवस आदि के आयोजन होते हैं उसकी एक बड़ी अच्छी घटना मैंने सुनी थी। वह आपको भी सुनाने का मन हो गया। साधर्मी के प्रति वात्सल्य और उसके सम्मान की रक्षा का भाव मन को कैसा आनन्द देता है, सुनकर बड़ा अच्छा लगा। राजा हरजसराय के पुत्र थे सेठ सुगनचन्दजी। अपार सम्पदा थी उनके पास। उनके यहाँ जब पुत्र का जन्म हुआ तो खुशियाँ मनाई गयी। सारा नगर सजाया गया। घर-घर में

मिठाई बाँटी गई। एक गरीब श्रावक के घर जब सेठ का नौकर पहुँचा मिठाई देने तो उस गरीब को बड़ा संकोच हुआ। उसने मिठाई नहीं ली और कहा कि भाई! मैंने कभी सेठजी का कोई उपकार नहीं किया। उन्हें कुछ दिया नहीं तो उनसे कैसे मिठाई ले लूँ। क्षमा करना। मेरी ओर से सेठजी से क्षमा माँग लेना। सारी बात सेठजी को मालूम पड़ी तो विचार में पड़ गए। बात तो ठीक है। व्यवहार तो देने लेने से ही चलता है। अकेले देने से व्यवहार नहीं चलता। लेना भी चाहिए। भले ही कोई गरीब हो पर सम्मान उसका भी रखना चाहिए। साधर्मी के प्रति वात्सल्य तो यही है।

सेठजी स्वयं मिठाई लेकर बग्गी में बैठकर उस गरीब श्रावक के यहाँ गए। उस गरीब आदमी के घर आने से पहले बग्गी से उतर गए। कड़ी धूप थी। सेठजी कभी पैदल भी नहीं चले थे। पसीना-पसीना हो गए। उस गरीब के घर पहुँचकर चबूतरे पर बैठ गए। गरीब आदमी सेठ को आया देखकर चकित रह गया। स्वागत-सत्कार करना भी भूल गया। सेठजी बोले -''भाई! थक गया हूँ, थोडा-सा पानी पिलाओ''। गरीब आदमी भागा-भागा गया। भीतर से पानी लाया। सेठजी ने पानी पिया और नौकर को इशारा किया कि मिठाई घर में रख दो। वह गरीब आदमी कुछ कहे इससे पहले ही सेठजी ने हँसकर कहा कि मैंने तुम्हारे घर पानी पी लिया है अब मिठाई लेने से इंकार मत करना। गरीब आदमी की आँखों से आँसू बहने लगे। वह सेठजी के चरणों में गिर पड़ा। मन गद्‌गद हो गया।

भैया, साधर्मी के प्रति वात्सल्य भाव ऐसा ही निर्मल हो तो कल्याण होने में देर नहीं लगेगी।

कभी संयम कभी तपकर आतमा को सजाते हैं।
कभी पूजा प्रतिष्ठाकर रथोत्सव भी कराते हैं।।
प्रभावना मोक्ष मारग की करें जिन भक्त जो होते।
प्रकाशित जैनमत को कर जीव वे मोक्ष जाते हैं।।

****